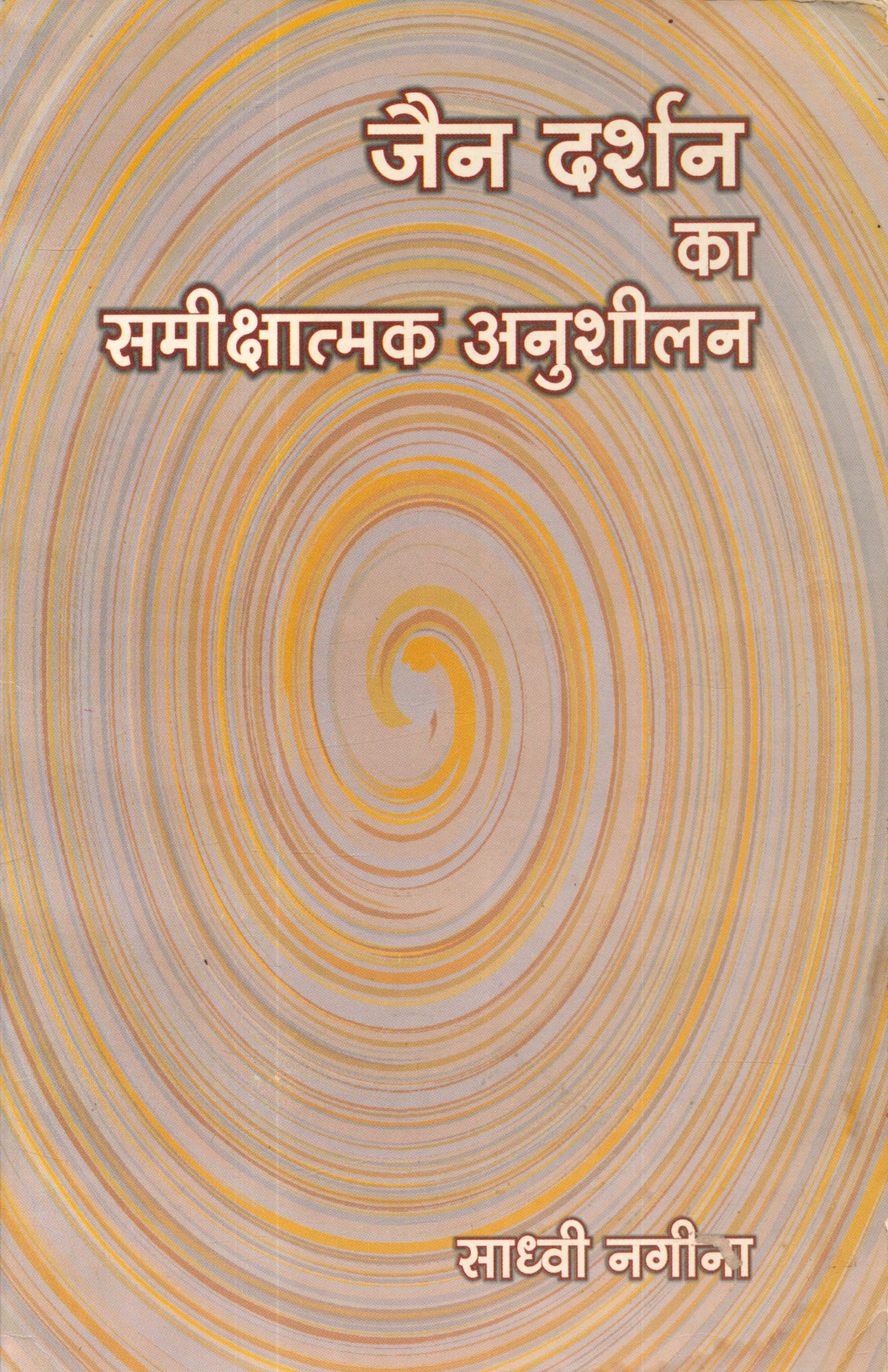




जैन दर्शन का समीक्षात्मक अनुशीलन

साध्वी नगीना

जैन दर्शन का समीक्षात्मक अनुशीलन

साध्वी नगीना

सौजन्य

स्व. श्रीमती रमीला बहन चंपकलाल महेता की
पुण्य स्मृति में नागरदास शामजी भाई चेरीटेबल ट्रस्ट
वाव (गुजरात)

प्रकाशक

जैन विश्व भारती

लाडनूँ ३४१३०६ (राज.)

© जैन विश्व भारती

प्रथम संस्करण : २००२ ई.

मूल्य : पिच्चासी रुपया

मुद्रक :

सांखला प्रिण्टर्स, सुगन निवास

चन्दनसागर, बीकानेर ३३४००१

Jain Darshan Ka Samikshatmak Anusheelan
by Sadhvi Nagina

ISBN 81-7195-084-1

Rs. 85.00



आशीर्वचन

प्रस्तुत पुस्तक में जैन दर्शन के कुछ बिन्दुओं को रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है। दर्शन और गंभीरता—दोनों में गंभीर संबंध है। गंभीरता को प्रस्तुत करना लेखक के लिए कठिन काम है तो गंभीरता तक पहुंचना पाठक के लिए भी सरल काम नहीं है। साध्वी नगीनाजी ने समीक्षात्मक दृष्टि से जैन दर्शन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उसमें उनका अध्ययन और चिन्तन—दोनों हैं। जन-साधारण के लिए पुस्तक उपयोगी बनेगी।

—आचार्य महाप्रज्ञ

२५-४-२००२

महावीर जयन्ती

गुडामालानी (बाड़मेर)

विश्व-चेतना के मंदिर में जिनकी ज्ञान-ज्योति बिखरी,
हृदय बना सीपी-सा जिनकी वाणी मुक्ता बन निखरी।
जिनकी एक पलक के पीछे अर्पित सांसों का संसार,
उन पावन चरणों में मेरा उपहृत है यह लघु उपहार।।

आभार प्रस्तुति

आज से ३७ वर्ष पूर्व मैंने 'आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म' के संदर्भ में तीन निबंध लिखे। साप्ताहिक पत्र जैन भारती में प्रकाशित हुए। तब से अवचेतन मन पर ऐसे विचार रेखाङ्कित हो गये कि इस विषय को अधिक विस्तार दिया जाये। मस्तिष्क के प्रकोष्ठ में दस्तक होती रही।

किन्तु अनजानी राहों पर चलना था, जिनमें न राजमार्ग है न कोई स्थिर दिशा। अपनी अनभिज्ञता से परिचित थी इसलिये साहस समय की मांग कर रहा था।

पता नहीं, मन बार-बार मजबूर क्यों कर रहा था? पहले से भरपूर साहित्य इस संदर्भ में लिखा पड़ा है। भीतर तह तक उतर कर देखा तो महावीर-वाणी सामने थी। 'एगो मे सासओ अप्पा, नाण-दंसण संजुओ'—आत्मा ही केन्द्र है। दर्शन, न्याय, इतिहास, काव्य आदि सभी विधाओं की मूल्यवत्ता इसी पर टिकी है।

आत्मा तक की यात्रा में हमें सारे तादात्म्य, सारी प्रतिबद्धताएं तोड़नी होंगी जो आत्मा के अतिरिक्त हैं। आत्मा जीवन की स्वतंत्र हस्ती है। इसकी अनुभूति नितांत व्यक्तिगत है। आत्मा की खोज किसी पदार्थ की खोज नहीं, यह तो स्वयं का स्वयं में होना है।

समस्या यह थी कि विषय की विशालता को पार करना, गहन तथ्यों की परतों को चीरकर दीर्घकालीन अतीत में लौटकर स्वयं को उस परिवेश से अनुगत कर, सही एवं यथार्थ तथ्यों का आकलन करना इतना आसान नहीं था। फिर बहिर्विहार में तदनुरूप समकालीन साहित्याभाव में वैचारिक तथ्यों को आधार मिल पाना संभव नहीं था।

कार्य की पूर्णता में समय, शक्ति और श्रम का सातत्य अपेक्षित है। निराशा और उत्साह के बीच चिंतन झूलता रहा। कई अवरोध आये। अन्ततः संकल्प की दृढ़ता ने कार्य को गति दी। आचार्यवर का निर्देश मिला। लाडनू सेवा केन्द्र में तेरह महीनों का प्रवास। महाश्रमणी साध्वी प्रमुखाश्रीजी का पावन सान्निध्य। लक्ष्य की पूर्ति रूप सांचे में अपने को ढालती रही। तीन साल

के बाद अनेक अवरोधों को पार करके अंतिम मंजिल तक पहुंच पाई। प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से लेखन यात्रा संपन्न हो सकी।

मेरी बात पूर्ण करने से पूर्व उस प्रज्ञापुरुष गुरुदेव तुलसी को नमन करती हूं जिनके वात्सल्य, अनुग्रह और प्रेरणा का अंकन शब्दों से नहीं किया जा सकता।

नमन है आचार्यश्री महाप्रज्ञ की अपरिमेय ज्ञान-सम्पदा को, जो अपनी रचना-धर्मिता को युग के जीवंत प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

नमन है युवाचार्यश्री महाश्रमणजी एवं महाश्रमणी साध्वी प्रमुखाश्रीजी को, जिनका मंगल सान्निध्य स्वयं प्रेरणा-स्रोत है। अविस्मरणीय है मातृ-हृदया स्व. साध्वीश्री भत्तुजी, जिन्होंने हर पल मेरे जीवन को अभिसिंचन देकर संस्कारित किया।

मैं उन सबके प्रति हार्दिक आभार ज्ञापित करती हूं जिन-जिन आचार्यों, उपाध्यायों, मुनिवरों, पूज्यवरों, विद्वानों, विचारकों के साहित्य-शिल्प से पाथेय मिला।

कृतज्ञ हूं आत्मीय सहयोग के लिए सहवर्तिनी साध्वी पद्मावतीजी, कंचनकंवरजी, पुष्पावतीजी, गवेषणाश्रीजी के प्रति। इनकी उदारता और सहयोग से मैं हर कार्य के लिये निश्चित रही।

कृतज्ञ हूं समणी सत्यप्रज्ञा, समणी अमितप्रज्ञा, मनोज नाहटा (जयपुर) की, जिनका पुस्तकों की उपलब्धि में महनीय योगदान रहा।

कृतज्ञ हूं सुझावों के लिये डॉ. महावीरराज गेलड़ा, डॉ. हरिशंकर पाण्डेय, डॉ. आनन्दजी त्रिपाठी, डॉ. सोहनलाल लोढ़ा, प्राध्यापक बृजकान्तजी शर्मा, डॉ. रोशन पीतलिया के प्रति। प्रत्यक्ष और परोक्ष, जिस किसी का सहयोग मिला—सबके प्रति आभारी हूं। सबके सहयोग से मैंने यह विनत लघु प्रयास किया है। यद्यपि सृजन की प्रस्तुति में अपूर्णता का आभास हो रहा है। शब्द अनायास ही निःशब्द की भित्ति में प्रविष्ट होकर अव्यक्त की विशृंखला के स्मित को निनादित करने का प्रयास कर रहे हैं, फिर भी किसी के ज्ञान-संवर्धन के निमित्त बनेंगे तो मेरी ज्ञान यात्रा सार्थक होगी।

४ नवम्बर २००१

साध्वी नगीना

देवगढ़ (मदारिया)

प्राक्कथन

विश्व का वैविध्य प्रत्यक्ष है। वैविध्य क्यों है? इसका समाधायक तत्त्व प्रत्यक्ष नहीं है। जो प्रत्यक्ष नहीं होता, उस सम्बन्ध में जिज्ञासा हो, अस्वाभाविक नहीं। विश्व क्या है? कैसे बना? किससे बना? विश्व के निर्माण में मूल तत्त्व क्या है? व्यक्ति क्या है? क्या जन्म-मरण तक चलनेवाला भौतिक पिण्ड मात्र ही है या मृत्यु के बाद भी उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व है? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधान अनिवार्य है।

मूल तत्त्व के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। थेलीज (Thales) के अभिमत से जल मूल तत्त्व है। एनेक्जीमेनीज ने वायु, हेराक्लाइट्स ने अग्नि, पाइथोगोरस तथा उनके अनुयायियों ने जगत की उत्पत्ति में जल और वायु को महत्व न देकर संख्या को मूल स्रोत माना है।

महावीर ने कहा— जीव (Soul) और अजीव (Matter) की सांयोगिक अवस्था सृष्टि की जनक है। सृष्टि का सारा विस्तार इन दो का यौगिक विस्तार है। जब से चेतन-अचेतन का अस्तित्व है, सृष्टि का इतिहास उतना ही पुराना है।

जब भी युग करवट लेता है, संगति-विसंगति का उलट-फेर होता है। वह विचारों, धारणाओं एवं व्यवहार में प्रत्यक्ष है। विश्व की मूल सत्ता का स्वभाव, उत्पत्ति का कारण, सृष्टि के कर्तृत्व की समस्या, आत्मा की अमरता एवं शुभाशुभ कर्मों का विपाक आदि विमर्शनीय पहलुओं पर चिन्तकों ने अपनी मेधा-यात्रा की है।

प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों ने जगत को पक्ष-विपक्ष के विरोधों के समुच्चय रूप में देखा है। जगत के इस प्रवाह में उन्हें आत्म-तोष की अनुभूति नहीं हुई। उन्होंने अनुभव किया—इन प्रवाहों, परिणामों की पृष्ठभूमि में एक शाश्वत सत्य (Eternal or Immortal) का होना अनिवार्य है और वह नित्य, अपरिणामी, शाश्वत सत्य कालातीत (Ageless) और अमर्त्य (Deathless) है।

जड़-जगत के विचार विमर्श में किसी निश्चित बिन्दु पर नहीं पहुंचने के कारण ग्रीक मस्तिष्क आत्म-विश्लेषण की ओर उन्मुख हुआ। अन्ततः जगत और आत्मा को सापेक्ष मानकर दोनों का समाहार तत्त्व में किया। वस्तु-निष्ठा,

आत्म-निष्ठा और तत्त्व-निष्ठा-तीनों का समन्वय ग्रीक दर्शन में पाया जाता है।

दर्शन का उद्भव तर्क एवं विचार के आधार पर होता है। दर्शन, तर्क-निष्ठ विचार के माध्यम से सत्ता और परम सत्ता के स्वरूप-विज्ञप्ति की यात्रा करता है। आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—‘दर्शन की आत्मा अनुभव है। उसकी प्रणाली तर्क पर आधारित है। दर्शन तत्त्व के गुणों से सम्बन्ध रखता है। इसलिये उसे तत्त्व का विज्ञान कहा जाना चाहिये। युक्ति विचार का विज्ञान है। तत्त्व पर विचार-विमर्श के लिये तर्क या युक्ति का सहारा अपेक्षित है। दर्शन के क्षेत्र में तार्किक प्रणाली द्वारा आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म आदि तत्त्वों की व्याख्या, आलोचना, स्पष्टीकरण, या परीक्षा की जाती है।’ (जैन दर्शन के मूल सूत्र, पृ. ८६)

वेदान्त का ज्ञान, सांख्य का पुरुष, जैनों की आत्मा—केवल बुद्धि का व्यायाम नहीं, इनके पीछे अतिशायिनी प्रज्ञा का उन्मेष है।

पौर्वात्य और पाश्चात्य समग्र चिंतन की धुरी आत्मा रही है। आत्मा त्रैकालिक सत् है। वेदान्त में एक ब्रह्म ही सत् है। कूटस्थ नित्य है किन्तु अनादि अविद्या के कारण जड़-चेतन रूप अनेक पदार्थों में प्रतिबिम्बित होता है, जैसे विपर्यय ज्ञान से रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार चराचर जगत क्षणिक है, पहले क्षण के पदार्थ का दूसरे क्षण में निरन्वय विनाश हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।

अद्वैत वेदान्त ने पदार्थ को पारमार्थिक सत्य मानकर पर्याय को काल्पनिक कहा और उसके अस्तित्व को नकार दिया। बौद्धों ने पर्याय को वरीयता दी, द्रव्य को काल्पनिक माना। महावीर ने द्रव्य और पर्याय—दोनों को पारमार्थिक सत्य के रूप में स्वीकार किया।

तत्त्व का अस्तित्व ध्रुव है। ध्रुव परिणमन शून्य नहीं होता, परिणमन भी ध्रुव विरहित संभव नहीं। एकान्त द्रव्यवाद, एकांत पर्यायवाद एवं निरपेक्ष द्रव्य-पर्याय के आधार पर वस्तु की व्यवस्था घटित नहीं होती। उत्पाद-व्यय दोनों परिणमन के आधार हैं। ध्रुव उनका अन्वयी सूत्र है।

‘अर्थक्रियाकारित्व’ वस्तु का लक्षण है, जो न कूटस्थ नित्य में घटित होता है, न निरन्वय विनाशी मानने से।

बौद्धों की तरह यदि मानें—‘क्रिया है, कर्ता नहीं, मार्ग है, चलने वाला नहीं, दुःख है, दुःखित नहीं, परिनिर्वाण है, परिनिवृत्त नहीं।’^१ यह न तो न्याय-संगत है, न किसी के अनुभवगम्य भी। अतः वस्तु-व्रात नित्यानित्य है। नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, भेद-अभेद—ये दोनों प्रतीतियां वास्तविक हैं। वास्तविकता परस्पर सापेक्ष है।

गौतम के प्रश्न को समाहित करते हुए महावीर कहते हैं— गौतम! जीव शाश्वत भी है, अशाश्वत भी। सामान्यतया विचार करने पर लगता है एक ही वस्तु में विरोधी धर्मों का सहवस्थान कैसे ? वस्तु या तो शाश्वत होती है या अशाश्वत।

अनेकांत के आलोक में समाधान सहज प्राप्त है। आत्मा थी, है और रहेगी। उसके असंख्यात प्रदेशात्मक स्वरूप में किसी प्रकार का रूपान्तरण संभव नहीं। इसलिये शाश्वत है। अशाश्वतता की सूचक है विभिन्न अवस्थाएं। देव, नारक, मनुष्य आदि योनियों में पर्याय-परिवर्तन होता रहता है। जैन विचारकों ने विभज्यवादी शैली से विरोधाभास की समस्या का निराकरण किया है।

आत्मा त्रैकालिक है। परिणामी है। उत्तराध्ययन में आत्मा को अमूर्त एवं नित्य कहा है।^२ भगवती में अविनाशी, अक्षय, ध्रुव और नित्य होने का उल्लेख है।^३ किन्तु वहां नित्यता का अर्थ परिणामी नित्य ही है। आत्मा अपने परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखती हुई विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाली, कर्ता और भोक्ता है। स्वदेह-परिमाण है, न अणु, न विभु।

प्रत्येक आत्मा की चेतना अनंत होती है। किन्तु चेतना का विकास सबमें समान नहीं होता।^४ चैतन्य-विकास के तारतम्य का निमित्त है।^५ आत्मा में अनंत शक्ति (वीर्य) है। उसे लब्धि वीर्य कहा जाता है। यह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है। बाह्य जगत के साथ इसका सीधा सम्बन्ध नहीं। सम्बन्ध का माध्यम है—शरीर। आत्मा और शरीर की संयुक्त अवस्था में जो सामर्थ्य आविर्भूत होता है, वह करण वीर्य (क्रियात्मक शक्ति) है। इससे चैतन्य प्रेरित क्रियात्मक कम्पन

१. विशुद्धिमग्न, बौद्धदर्शन, अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ. ५११ से उद्धृत

२. उत्तराध्ययन १४/१९,

३. भगवती ९/६/३/८७

४. ठाण-२

५. भगवती- ७/८

होता है। उन प्रकंपनों में बाहरी पौद्गलिक धाराएं मिलकर अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती हैं। क्रियात्मक शक्ति जनित प्रकंपनों के माध्यम से होने वाला आत्मा और कर्म पुद्गलों का संयोग ही बंधन है।

कर्म की कर्ता आत्मा है या कर्म ? यह प्रश्न है। शास्त्रकार ने प्रश्न को उत्तरित करते हुए कहा—कर्म की कर्ता आत्मा है। आचार्य कुंदकुंद की अवधारणा में कर्म का कर्ता कर्म ही है। दो दृष्टिकोण हैं, दोनों सापेक्ष हैं। इनमें तात्पर्य भेद नहीं है। अभेद दृष्टि से देखने पर आत्मा कर्म की कर्ता है। भेद दृष्टि से कर्म कर्म का जनक है। यदि मूल आत्मा को कर्ता माना जाये तो वह अकर्ता नहीं हो सकती।

कर्म का मूल है— कषाय। कषाय चेतना की परिणति पुद्गल मिश्रित है। सजातीय सजातीय को आकर्षित करता है। कषाय आत्मा का ही एक पर्याय है। आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की समस्या जैन दार्शनिकों के समक्ष उपस्थित हुई। उन्होंने कहा— बंधन का कारण आत्मा नहीं, पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा स्वयं बंधन में नहीं आती। कुम्हार, चाक आदि निमित्तों के अभाव में मिट्टी स्वयं घट का निर्माण नहीं करती। वैसे ही आत्मा बाह्य निमित्त के बिना ऐसी कोई क्रिया नहीं करती जो बंधन की हेतु बने।

क्रोधादि कषाय, राग-द्वेष प्रभृति बंधक मनोवृत्तियां भी स्वतः उत्पन्न नहीं होतीं, जब तक ये कर्म वर्गणाओं के विपाक रूप में चेतना के समक्ष उपस्थित न हो जायें। कर्म जगत बहुत विशाल और सूक्ष्म है। कर्म परमाणुओं से असंख्य दुनिया पूरित की जा सकती है।

शरीर का निर्माण ६०० खरब कोशिकाओं द्वारा माना जाता है। प्रति सैकण्ड ५ करोड़ कोशिकाएं और प्रति मिनट ३ खरब कोशिकाओं का उत्पन्न-विनाश होता है। कोशिका सूक्ष्म है। कर्म शरीर इससे भी सूक्ष्म है।

विज्ञान द्रव्य के छोटे-छोटे टुकड़ों को स्कंध (Molecule) कहते हैं। स्कंध में द्रव्य के सारे गुण विद्यमान हैं। स्कंध को और अधिक छोटी इकाइयों में विभक्त किया जाये तो इतने स्कंध होते हैं। जर्मन प्रोफेसर एण्ड्रेड (Andreade) ने लिखा—आधी छटांक जल के स्कंधों की संख्या इतनी अधिक है, यदि तीन अरब व्यक्ति एक सैकण्ड में पांच के अनुपात से गणना करें तो ४० वर्ष लग सकते हैं।

एक परमाणु प्रोटोन (Proton) और इलेक्ट्रोन (Electron) से निर्मित है। एक परमाणु में कई प्रोटोन, कई इलेक्ट्रोन होते हैं। संसार का सबसे छोटा

पदार्थ प्रोटोन-इलेक्ट्रोन है। कर्म वर्गणा की सूक्ष्मता इससे अधिक आश्चर्य-जनक है।

आत्मा अमूर्त और कर्म मूर्त है। इनका सम्बन्ध कैसे होता है, यह कोई जटिल समस्या नहीं रही, कारण प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार और जीवात्मा को अनादि माना है। पश्चिम में देहात्मवाद की समस्या थी। देकार्त ने इसका हल अन्तर्क्रियावाद के रूप में किया। स्पिनोजा ने उसके स्थान पर समानान्तरवाद की स्थापना की। लाइबनिट्ज ने प्रतिक्रियावाद की कठिनाइयों से बचने के लिये पूर्व स्थापित सामंजस्य की धारणा को अभिव्यक्ति दी।

आत्मा और शरीर एक हैं या दो ? पाश्चात्य दार्शनिकों ने इस पर काफी चिंतन किया है। नास्तिक दर्शन में दोनों की अभिन्नता स्वीकार्य है। आत्मवादी को भिन्नता मान्य है। सापेक्ष दृष्टि से इसका समाधान किया जा सकता है। जैन दर्शन ने जीव और शरीर में सम्बन्ध प्रस्थापित किया है। एकान्ततः पृथक् मानने पर दोनों को व्याख्यायित करना संभव नहीं। चेतन शरीर का निर्माता है। शरीर उसका अधिष्ठान है। एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव दोनों पर है। हमारे सारे आचार-व्यवहार की व्याख्या दोनों की सांयोगिक स्थिति पर निर्भर है।

देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनिट्ज आदि पाश्चात्य दार्शनिकों ने एक प्रश्न और उठाया कि शरीर और मन का सम्बन्ध क्या है ? इनका एक-दूसरे पर क्या असर होता है ? मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी यह बहुचर्चित विषय है। मनोविज्ञान के आधार पर जीवन की व्याख्या में निमित्त है—वातावरण, पर्यावरण या परिस्थिति। दूसरा आधार है वंशानुक्रम।

व्यक्ति के आनुवांशिक गुणों का निश्चय क्रोमोसोम (Chromosomes) के द्वारा होता है। क्रोमोसोम अनेक जीनों का समुच्चय है। मानसिक और शारीरिक विकास की क्षमताएं इनमें होती हैं और जीन ही माता-पिता के आनुवांशिक गुणों के संवाहक होते हैं। व्यक्ति में कोई ऐसी विलक्षणता नहीं जिसकी क्षमता उसके जीन में निहित न हो। मनुष्य की शक्ति, चेतना, पुरुषार्थ, कर्तृत्व कितना है, जीन इनकी अभिसूचना है।

वैयक्तिक भिन्नता का चित्रण मनोविज्ञान में विशद रूप में मिलता है। मनोविज्ञान के प्रत्येक सिद्धांत के साथ भिन्नता का प्रश्न जुड़ा है।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो आनुवांशिकता, जीन और रासायनिक परिवर्तन से कर्म सिद्धांत भिन्न नहीं है। अन्तर इतना ही है—जीन सूक्ष्म शरीर

का अवयव है, कर्म स्थूल शरीर का। व्यक्ति-व्यक्ति में आकृति-प्रकृति की भिन्नता, आचार-व्यवहार की भिन्नता, जड़-जगत की भिन्नता क्यों है ? इनकी खोज में ही कर्म-शास्त्र की दिशा अनावृत हुई है।

मनोविज्ञान में जैसे तीन वर्ग हैं—सामान्य, असामान्य और विशिष्ट। ये भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व के आधार पर तीन विभाग हैं। क्रेचनर ने शारीरिक संरचना और चित्त-प्रकृति को सामने रखकर व्यक्तियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया—सुडौल काय (Athletic), लंबकाय (Aesthemic), गोलकाय (Pynic), डायस्प्लास्टिक (Dysplastic)।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक शैल्डन के अध्ययन के अनुसार शरीरों का वर्गीकरण तीन प्रकार का है—गोलाकार (Endomorphic), आयताकार (Mesomorphic), लम्बाकार (Ecomorphic)।

जैन दर्शनानुसार प्राणी की शरीर-संरचना, रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि सभी नाम कर्म के कारण बनते हैं। इनके लिये दो शब्द प्रचलित हैं—संहनन, संस्थान। कर्म सिद्धांत के आधार पर व्यक्तित्व के और भी अनेक प्रकारों का विश्लेषण किया जा सकता है।

मानस-शास्त्र के अध्ययन के लिये कर्म-शास्त्र को पढ़ना अनिवार्य है। कर्म की आवारक, विकारक और प्रतिरोधात्मक—तीन शक्तियां मुख्य हैं। कर्मवाद सिद्धांत ही नहीं, जीवन का दर्शन है। उसके अभाव में न मन का विश्लेषण कर सकते हैं, न व्यक्तित्व का। कर्म-शास्त्र में जिन-जिन समस्याओं पर चिंतन किया है, उन्हीं समस्याओं का अध्ययन और शोध मनोविज्ञान का मुख्य विषय है।

मनोविज्ञान के अभिमत से संवेग के उद्दीपन व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाते हैं। कर्मशास्त्र में चारित्र एवं व्यवहार के रूपान्तरण में मोहनीय कर्म का विपाक निमित्त है। एक दृष्टि से कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान की धारा मानो एक दिशागामी होकर प्रवाहित है।

वंशानुक्रम, परिवेश और परिस्थिति भी हमारे व्यक्तित्व के संपूर्ण रूप से निर्णायक नहीं हैं। कारण, कोई भी वंशानुक्रम व्यक्ति के पूर्व चारित्र एवं कार्यों से अप्रभावित नहीं है।

हमारे चैतन्य के चारों ओर कषाय के वलय के रूप में कर्मण शरीर है। यही पुनर्जन्म का हेतु है। कषाय से उसे अभिसिंचन मिलता रहता है। पुनर्जन्म की शृंखला बढ़ती जाती है।

मृत्यु के उपरांत आत्मा की स्थिति क्या होगी ? उसका अस्तित्व रहेगा या नहीं ? यह जिज्ञासा पुनर्जन्म की अवधारणा की ओर ले जाती है। कर्मवाद और पुनर्जन्म का सिद्धांत परस्परश्रित है और जैन दर्शन की मौलिक देन है।

वैज्ञानिक जगत में आज प्रोटोप्लाज्मा की चर्चा है। इससे आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म—दोनों की पुष्टि होती है। परामनोविज्ञान ने पुनर्जन्म पर बहुत अन्वेषण किया है। पुनर्जन्म की सिद्धि के लिये चार तथ्य भी प्रस्तुत किये हैं—

१. किसी-किसी को मृत्यु होने से पूर्व अथवा भविष्य में घटित होने वाली आकस्मिक घटना का पूर्वाभास हो जाता है।
२. भविष्य के ज्ञान की तरह अतीत का ज्ञान हो सकता है।
३. बिना किसी माध्यम के भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है।
४. बिना किसी माध्यम के एक व्यक्ति हजारों कोस दूर बैठे हुए व्यक्ति को अपने विचार संप्रेषित कर सकता है।

इन तथ्यों के आधार पर उन लोगों की धारणा परिष्कृत हुई जो यह मानते थे कि मरणोपरांत जीवन का अस्तित्व नहीं है।

भारतीय महाद्वीप में पुनर्जन्म का सिद्धांत वर्तमान सभ्यता के युग से भी प्रागैतिहासिक है। आर्यों के आगमन से पूर्व भारत के मूल निवासियों में यह विश्वास था कि मनुष्य मरकर वनस्पति आदि अन्य योनियों में जन्म लेता है, अन्य योनिस्थ जीव मनुष्य आदि शरीर प्राप्त कर सकते हैं। नवागत आर्यों ने इसका अनुसरण कर अपने धर्मग्रन्थों में पुनर्जन्म और उसके कारण कर्म-सिद्धांत को स्थान दिया।

पदार्थ की तरह आत्मा भी परिवर्तनशील है। यह एक ध्रुव सत्य है कि सत से असत और असत से सत की उत्पत्ति नहीं होती। परिवर्तन को जोड़ने वाली कड़ी आत्मा है। वह अन्वयी है। पूर्वजन्म और उत्तरजन्म—दोनों उसकी अवस्थाएं हैं।

वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में प्रयोगों के पश्चात् इस निर्णय पर पहुंचे कि मरण के पश्चात् कोई ऐसा सूक्ष्म तत्त्व रह जाता है जो इच्छानुसार पुनः किसी भी शरीर में प्रवेश कर नये शरीर को जन्म दे सकता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर का मन्तव्य है— The teachers and bounders of the religion have all taught and many philosophers ancient and modern Western and Eastern have perceived that this unknown and unknowable is our veryself. First Principles. 1900

अर्थात् प्राचीन हो या अर्वाचीन, पश्चिम के हों या पूर्व के—सबने अनुभव किया है कि वह अज्ञात या अज्ञेय तत्त्व वह स्वयं है।

वैज्ञानिक दृष्टि से पदार्थ की तीन अवस्थाएँ हैं—ठोस, द्रव और गैस। बाद में प्लाज्मा और प्रोटोप्लाज्मा को खोजा गया। प्रोटोप्लाज्मा की तुलना प्राणशक्ति से है। जैवप्लाज्मा में इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन दोनों स्वतंत्र हैं, जिनका नाभिक के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। शरीर की नश्वरता और प्रोटोप्लाज्मा की अमरता को भी अब स्वीकृति मिल चुकी है।

मृत्यु के बाद प्रोटोप्लाज्मा शरीर से अलग होकर वायुमंडल में प्रविष्ट हो जाता है। फिर वनस्पति में स्थानान्तरित हो, फल-फूल अनाज आदि के माध्यम से मनुष्य-शरीर में पहुँचता है। वे ही प्रोटोप्लाज्मा कण जीन्स में रूपान्तरित हो नये शिशु के रूप में जन्म लेते हैं। वैज्ञानिकों ने प्रोटोप्लाज्मा को आत्मा माना है। जैन दर्शन की भाषा में उसके लक्षणों के आधार पर सूक्ष्म शरीर कहा जा सकता है।^१

आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार करने पर ही स्मृति और प्रत्यभिज्ञा संभव है। अन्यथा कृतप्रणाश एवं अकृतागम दोष भी आता है।

कर्म का सम्बन्ध अतीत की यात्रा से है। अतीत में जो-कुछ किया उसकी रेखाएँ आत्मा पर अंकित हो गईं। किन्तु कर्म पर भी अंकुश है। वह निरंकुश सत्ता नहीं। आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतंत्र अस्तित्व है। वह कभी भी अपने स्वभाव को तोड़ने नहीं देता। इसलिये कर्म का आत्मा पर एकाधिकार नहीं है।

जिस दिन कर्म परमाणुओं का सम्बन्ध टूट जाता है। आत्मा अखंड चैतन्यमय पूर्ण सूर्य के रूप में उद्भासित होती है। आत्मा की अनुदबुद्ध अवस्था में कर्म-वर्गणाएँ आत्म-शक्तियों को दबाए रखती है। भव-स्थिति परिपाक होने पर वे शिथिल हो जाती है। यहीं से आत्म-विकास का क्रम शुरू

१. घट-घट दीप जले, पृ. ५७ (ख) अखंड ज्योति, जुलाई १९७४ के लेख का सारांश

हो जाता है। जैन दर्शन में आत्म-विशुद्धि का मापन गुणस्थान के आधार पर किया गया है। यह तलहटी से शिखर की यात्रा है।

जीवन का लक्ष्य क्या है ? इसका चयन और निर्धारण एक जटिल प्रक्रिया है। जन्म लेना पर्याप्त नहीं। यह तो जीवन का आरंभ बिन्दु है। उसमें संभावनाएं हैं, पर पूर्णता नहीं। पूर्णता की दिशा में प्रस्थान ही वास्तविक विकास की शुरुआत है।

जीवन का लक्ष्य जीवन से हटकर नहीं हो सकता। जीवन के सम्बन्ध में दो दृष्टियां हमारे समक्ष हैं—जैविक दृष्टि और आध्यात्मिक दृष्टि। जैविक दृष्टि से जीवन सदा परिवेश के प्रति क्रियाशील है। यह क्रियाशीलता मात्र संतुलन बनाये रखने के लिये है। संतुलन बनाये रखने का प्रयास ही जीवन की प्रक्रिया है। विकासवादियों ने इसे ही अस्तित्व के प्रति संघर्ष (Struggle for Existence) कहा है। जीवन का अर्थ ही समायोजन या संतुलन का प्रयास है।

अध्यात्म शास्त्र के अनुसार जीवन न तो जन्म है, न मृत्यु। जीवन एक प्रवाह है। जन्म आदि है। मृत्यु अंत। जीवन इन दोनों से ऊपर है। जन्म-मृत्यु तो आत्मा के आगमन और गमन की सूचना मात्र हैं। जीवन जागृति है। चेतना है। वही आत्मा है।

आत्मा की पूर्णता ही जीवन का परम साध्य है। अपूर्णता का बोध पूर्णता की उपलब्धि का संकेत है। उपलब्धि नहीं। दूध में प्रतीत होनेवाली स्निग्धता उसमें निहित मक्खन की सूचना है। प्राप्ति नहीं। मक्खन पाने के लिये प्रयत्न आवश्यक है। वैसे ही पूर्णता की प्राप्ति के दो साधन हैं—संवर और निर्जरा।

जैन तत्त्व-मीमांसा के अनुसार संवर का अर्थ है—कर्मों के आगमन का निरोध। निर्जरा द्वारा समस्त प्राचीन कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा की जो शुद्धावस्था है, वही मोक्ष है।

बन्धन-मुक्ति की यह समग्र व्याख्या पर्याय दृष्टि से है। आत्मा की वैभाविक अवस्था बंधन है और स्वरूप पर्याय मोक्ष है। बंधन, मुक्ति दोनों चेतना की ही दो अवस्थाएं हैं। संपूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक एवं निरन्वय विनाश ही मोक्ष है।

अनुक्रम

प्रथम अध्याय

आत्मा की दार्शनिक पृष्ठभूमि : अस्तित्व का मूल्यांकन

१-३४

- दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थयात्रा
- दर्शन-विज्ञान का सम्बन्ध
- आत्म-परिमाण
- आत्मा के भेद-प्रभेद
- जीव का उद्गम कैसे ?
- आत्मा की व्युत्पत्ति
- आत्मा के अभिवचन
- जैन दर्शन में अस्तित्व सिद्धि के ठोस आधार

द्वितीय अध्याय

आत्मा का स्वरूप : जैन दर्शन की समीक्षा

३५-६२

- बौद्ध दर्शन—जैन दृष्टिकोण
- सांख्य दर्शन—जैन दर्शन
- मीमांसा दर्शन—जैन दर्शन
- अद्वैत वेदान्त—जैन दर्शन
- औपनिषदिक चिन्तन—जैन दर्शन
- चार्वाक एवं जैन दर्शन
- द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, आस्तिकवादी दर्शन

तृतीय अध्याय

पाश्चात्य एवं जैन दर्शन का प्रस्थान : समन्वय की भूमिका

६३-८८

- देकार्त
- ह्यूम
- काण्ट
- बर्कले
- देहात्मवाद की समस्या
- अन्तर्क्रियावाद
- निमित्तवाद
- समानान्तरवाद

- पूर्व स्थापित सामंजस्य
- पाश्चात्य देहात्म सम्बन्ध, जैन दर्शन

चतुर्थ अध्याय

कर्मवाद; उसका स्वरूप और वैज्ञानिकता

८९-१३६

- भारतीय दर्शन में कर्म
- मनोविज्ञान एवं कर्म
- कर्म की विभिन्न अवस्थाएं
- कर्मों की विपाक प्रक्रिया
- आधुनिक विज्ञान एवं कर्म
- कर्मशास्त्र और शरीर विज्ञान
- आत्मा का आन्तरिक वातावरण, परिस्थिति के घटक
- जैन कर्मवाद, समन्वयात्मक चिन्तन
- कर्मवाद किसका समर्थक, नियतिवाद या पुरुषार्थवाद ?
- कर्मवाद का इतिहास
- जैन कर्म सिद्धांत और उसका विकास
- जैन कर्मवाद की लाक्षणिक विशेषताएं
- क्लोनिंग तथा कर्म सिद्धांत
- कर्म सिद्धांत और क्वान्टम् यांत्रिकी
- जैन कर्म सिद्धांत की छः अवधारणाएं

पंचम अध्याय

पुनर्जन्म : अवधारणा और आधार

१३७-१७०

- कर्म-पुनर्जन्म
- भारतीय दर्शनों में पुनर्जन्म
- पुनर्जन्म का कारण
- पुनर्जन्म : अस्तित्व के आधार बिन्दु
- पुनर्जन्म : परकाय प्रवेश
- परकाय प्रवेश की विधि
- कर्म सिद्धांत और शारीरिक चिह्न
- मृत्यु : एक मीमांसा
- आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में
- पाश्चात्य विद्वान और मृत्यु

- लेश्या और पुनर्जन्म
- लेश्या और आभामण्डल

षष्ठम अध्याय

विकासवाद : एक आरोहण

१७१-२१२

- काल विभाग के परिप्रेक्ष्य में जैविक विकास
- जैन दर्शन में जीव की विकास यात्रा
- जैविक विकास
- भारतीय परम्परा में मन
- पाश्चात्य चिन्तन में मन की अवधारणा
- नैतिक विकास
- भारतीय दर्शन में नैतिक मान्यताएं
- आध्यात्मिक विकास क्रम
- चेतना के विकास की विभिन्न अवस्थाएं
- मोहनीय कर्म, उसका परिणाम
- अन्य परम्पराओं में आध्यात्मिक विकास

सप्तम अध्याय

मोक्ष का स्वरूप-विमर्श

२१३-२४४

- विभिन्न दार्शनिकों की दृष्टि में मोक्ष की अवधारणा
- मोक्ष की परिभाषा
- मुक्ति शब्द का अभिप्रेत अर्थ वाच्यता
- मुक्ति के पर्याय
- जीव के मुक्त होने की प्रक्रिया
- मुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन
- सिद्ध शिला के पर्याय
- सिद्धों के मौलिक गुण
- मुक्तात्मा की अवगाहना
- मोक्ष और मोक्ष प्राप्ति का मार्ग
- बंधन से मुक्ति की ओर प्रस्थान की प्रक्रिया
- मोक्ष प्राप्ति के पूर्व की कुछ विशेष भूमिकाएं

□ उपसंहार

२४५-२५३

□ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

२५४-२६०

प्रथम अध्याय

आत्मा की दार्शनिक पृष्ठभूमि :
अस्तित्व का मूल्यांकन

- दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थयात्रा
- दर्शन-विज्ञान का सम्बन्ध
- आत्म-परिमाण
- आत्मा के भेद-प्रभेद
- जीव का उद्गम कैसे ?
- आत्मा की व्युत्पत्ति
- आत्मा के अभिवचन
- जैन दर्शन में अस्तित्व सिद्धि के ठोस आधार

आत्मा की दार्शनिक पृष्ठभूमि : अस्तित्व का मूल्यांकन

संसार का प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मों का अखंड मौलिक पिण्ड है। उसका अनन्तवां भाग ही शब्द के द्वारा प्रज्ञापनीय है। अनभिधेय पदार्थ अनन्त हैं। वस्तु के अनन्त धर्म हैं। प्रतिपादन के साधन शब्द अनन्त हैं। दृष्टिकोण भी अनन्त हैं। पदार्थ सत्-असत्, नित्यानित्य, एक-अनेक, वाच्य-अवाच्य आदि अनेक विरोधी धर्मों का क्रीड़ास्थल है। अनन्तधर्मा वस्तु-स्वरूप को केन्द्र में रखकर दर्शन शब्द का व्यवहार हो तो सार्थक हो सकता है।

प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलालजी ने न्याय कुमुदचन्द्र द्वि. भाग के प्राक्कथन में दर्शन शब्द का अर्थ 'सबल प्रतीति' किया है। इससे फलित है—जिसकी, जिस तत्त्व पर अटूट श्रद्धा हो, वही उसका दर्शन है। यह अर्थ हृदयग्राही है, क्योंकि हर दार्शनिक को अपने-अपने दृष्टिकोण पर विश्वास निश्चित है। जब दर्शन विश्वास की भूमिका पर प्रतिष्ठित हुआ तो विचार-भेद स्वाभाविक हो गया। अनेक दर्शनों की सृष्टि हुई। सभी दर्शनों ने विश्वास की उर्वरा भूमि पर पनप कर जिज्ञासुओं को सत्य-साक्षात्कार या तत्त्व-निर्णय का भरोसा तो दिया किन्तु अन्ततः उनके हाथ तर्क-जाल के फलस्वरूप संदेह ही पड़ा।

दर्शन एक दिव्य ज्योति है। दार्शनिकों के हाथ में थमा दी जिससे चाहें तो अंधकार हटाकर प्रकाश फैला सकते हैं, चाहें तो मतवाद के आधार पर हिंसा एवं विनाश का दृश्य उपस्थित कर सकते हैं। दर्शन का इतिहास दोनों प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है। जैन दर्शन ने ज्योतिर्मय अध्याय जोड़ने का ही प्रयास किया है।

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका आधार है—अनेकांतमयी उदार दृष्टि। पक्ष-विपक्ष में सामंजस्य स्थापित करना इसकी मौलिक देन है।

भारतीय दर्शन का मुख्य लक्ष्य तत्त्व-दर्शन या मोक्ष-दर्शन है। इसलिये विश्व की व्याख्या या मोक्ष के साधक-बाधक बिन्दुओं पर चर्चा को प्रमुखता दी है।

देकार्त विश्लेषणात्मक ज्यामिति के जन्मदाता थे। उन्होंने भौतिकी तथा प्रकाश-विज्ञान के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण नियमों की खोज की है। लाइब-निट्ज, ह्यूम, काण्ट, हर्बर्ट स्पेन्सर, जेम्स जैसे चोटी के व्यक्तियों ने दार्शनिक चर्चा से जन-मानस को प्रभावित किया है। उन्होंने अपनी लेखनी, तर्क-शक्ति एवं वैज्ञानिक अन्वेषण से अपने तथा आने वाले युगों पर छाप अंकित की, फिर भी जिज्ञासु मानस इतने मात्र से संतुष्ट नहीं होता, वह उन तत्त्वों को आलोचनात्मक, विश्लेषण की कसौटी पर कसकर निर्णय पर पहुंचता है।

उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट समझा जा सकता है। चलती हुई कार रुक गई। क्यों रुकी? कारण कई हो सकते हैं। कनेक्शन टूट गया। पिस्टन जाम हो गया। पेट्रोल पूरा हो गया या पेट्रोल की नली में कचरा भर गया। चिन्तन के इन पहलुओं से निर्णयात्मक बिन्दु पर पहुंचना होगा कि मूल कारण क्या है? इस प्रकार की विमर्शणात्मक चिन्तन-पद्धति को दर्शन कहा जाता है।

भारतीय दर्शन में अध्यात्म नाभिकीय बिन्दु है। उसका उद्भव जीवन से है। भले उसकी विचारधारा विभिन्न दिशागामी होकर प्रवाहित रही हो, किन्तु अन्ततः आत्मा के केन्द्र पर ही उसे विश्राम लेना पड़ता है।

विध्वंसकारी प्रभावों, बाह्य आक्रमणों और ऐतिहासिक दुर्घटनाओं को सहने की इसमें क्षमता है, क्योंकि अध्यात्म का ठोस आधार इसमें है।

‘मिस्र की सभ्यता चित्र, लेखों या पुरातत्ववेत्ताओं की लेखनी में सांस ले रही है। रोमन संस्कृति अतीत की यवनिका में आवृत है। बेबीलियन सभ्यता का खण्डहरों के अतिरिक्त कुछ नहीं बचा। वहां भारतीय संस्कृति कई सहस्राब्दियों के लम्बे कालखण्ड से गुजरकर भी अपनी विशेषताओं के साथ गौरव से जीवित है।’

भारतीय दर्शन पर निराशावादी होने का जो आरोप लगाया जाता है यह मिथ्या भ्रम है। निराशा का तात्पर्य विषाद नहीं, यहां तटस्थता एवं समता की ओर संकेत है। समता से ही आनंद की उपलब्धि होती है। दुःख का निवारण होता है। भारतीय दर्शन केवल दुःख मुक्ति की बात नहीं करते, बल्कि उसके उपाय भी सुझाते हैं।

चिकित्साशास्त्र रोग, रोगनिदान, आरोग्य तथा भैषज्य—इन तथ्यों का यथार्थ निरूपण करता है वैसे अध्यात्मशास्त्र दुःख, दुःख-हेतु, मोक्ष-मोक्षोपाय को प्रस्तुत करता है।^१

आदि काल से मनुष्य की नैसर्गिक वृत्ति कुछ करने की रही है। अकृत को करने का संकल्प, अज्ञात को पाने की अभीप्सा जिज्ञासा की शांति है। आत्म तत्त्व की जिज्ञासा अध्यात्मवादी दर्शन की आधार भूमि है। प्राचीनतम जैनागम आचारांग का प्रारंभ जिज्ञासा से होता है। 'मैं कौन हूँ ? कहां से आया हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं ?'^२ आदि जिज्ञासाएं दर्शन का मूल हैं।

इसी की प्रतिध्वनि सुनाई देती है वैदिक परम्परा^३, मुण्डकोपनिषद्^४ एवं कठोपनिषद्^५ में। आत्मा को जानने की जिज्ञासा क्यों पैदा होती है ? समाधान की भूमिका पर मुख्य रूप से दो तथ्य सामने आते हैं—

१. जब मानवीय चेतना का, विराट् प्रकृति के शाश्वत सौन्दर्य से तादात्म्य जुड़ता है, आदिम संस्कारों का सर्वथा विलय हो जाता है, तब कोऽहं की निष्प्रकंप शिखा भीतर में जल उठती है। कारण आत्मज्ञान के अभाव में साध्य की प्राप्ति संभव नहीं है।
२. दूसरा तथ्य है, आत्मवाद की मूल भित्ति पर ही पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष के सिद्धांत टिके हैं। आत्मा के बिना साधना का आधार क्या होगा ? आत्म तत्त्व वह केन्द्र है जिसके परिपार्श्व में अध्यात्म गति करता है। अध्यात्म का प्रत्यय, आत्म तत्त्व का अनुगामी है। धर्म-दर्शन सभी आत्म-सापेक्ष हैं। जीवन और मूल्यों के प्रति गंभीर एवं तर्कयुक्त यह चिंतन दर्शन बन जाता है।

ग्रीस के महान् दार्शनिक प्लेटो के अभिमत से दर्शन का प्रारंभ आश्चर्य से है— “Philosophy begins in wonder”।

बेकन और देकार्त के दर्शन की प्रसव भूमि 'संदेह' है। आश्चर्य और संदेह भी दर्शन के विकास में अपेक्षाकृत निमित्त बनते हैं। जैनागमों में गौतम स्वामी ने अनेक प्रश्न खड़े किये हैं। उनके कई कारणों में दो प्रमुख कारण थे— संशय और कुतूहल 'जाए संसए, जाए कोउहल्ले'।^६ गौतम को जब संशय एवं कुतूहल हुआ, महावीर ने समाधान दिया। वे प्रश्नोत्तर जैन तत्त्व ज्ञान की अनमोल विरासत हैं।

पाश्चात्य दर्शनों का मंथन इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि वे आचरण की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक बल देते हैं।^७ पश्चिम में दर्शन का प्रारंभ छठी शताब्दी में यूनान से माना जाता है। करीब एक सहस्राब्दी तक वह गतिमान

रहा। पांचवीं से १४वीं शती तक का समय दर्शन के अंधकार का युग था। उस समय दर्शन को ईसाई धर्म का दासत्व भोगना पड़ा।^८

भारत में इस प्रकार की हठधर्मिता कभी नहीं रही। रूढ़िवादिता, अंधविश्वास के अंधकारपूर्ण गलियारे से वह सदा मुक्त रहा। अन्यथा वास्तविक दर्शन की कोई सत्ता नहीं रह पाती। देखने के कोण अलग हो सकते हैं। परम्परागत विश्वास की सुरक्षा के साथ नवीन तथ्य को अपनाने में दुराग्रह नहीं रखा। यह उदारता ही भारतीय संस्कृति और दर्शन का सुरक्षा कवच है। 'भारतीय दर्शन मानवीय व्यवहार की ऐसी क्रियात्मक परिकल्पना है जो आध्यात्मिक विकास की विभिन्न स्थितियों में अपने आप को अनुकूल बना लेती है।'^९

आज एक और अवधारणा सामने आती है, 'भारतीयों ने दार्शनिक विचार पश्चिम से आयात किये हैं।' तटस्थ अनुसंधान से यह धारणा भी खण्ड-खण्ड हो जाती है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशिष्ट मनोवृत्ति है। बौद्धिक विकास भी स्वतंत्र है। शताब्दियों के प्रवाह और समस्त परिवर्तनों के बीच अपना अस्तित्व कायम रखते हुए भारत गुजरा है। उधार चिंतन से क्या यह संभव हो सकता है? बिना नींव का भवन कब तक खड़ा रह सकेगा ? अतः उपरोक्त अवधारणा स्वतः निरस्त हो जाती है।

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ-यात्रा

दृशि धातु के साथ ल्युट् प्रत्यय का संयोग दर्शन शब्द की उत्पत्ति है, जिसका अर्थ है— देखना।

पूज्यपाद अकलंक आदि आचार्यों ने दर्शन पद की व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थाभिव्यक्ति करते हुए लिखा है—**दृश्यते अनेन इति दर्शनम्**। जो देखता है अथवा जिसके द्वारा देखा जाता है वह दर्शन है। वस्तु के स्वरूप का जहां चिंतन हो, वह दर्शन है। दर्शन शब्द अनेक अर्थों का संवाहक है किन्तु यहां इन्द्रियजन्य निरीक्षण या अन्तर्दृष्टि द्वारा अनुभूत सत्य अर्थ ही अभिप्रेत है। अन्तर्दृष्टि ईहा, अपोह, तार्किक परीक्षण या घटनाओं के साथ जुड़े तादात्म्य से प्राप्त होती है।

मनुष्य अन्तर्बाह्य के द्वन्द्व के केन्द्र में अपने-आप को पहचानने में असमर्थ है। परिवेश के खोखलेपन की विवशता है। अन्तरंग जीवन-निकषों में घोर अन्तर उत्पन्न कर दिया है। आत्मानंद की खोज है। अन्तर्दृष्टि के बिना वह उपलब्ध नहीं होता। इसलिये लोक व्यवहार में निरत मनुष्य वस्तुज्ञानात्मक

विज्ञान का सहारा लेता है। वही परमार्थ पथ का पथिक आत्म-ज्ञान रूपी दर्शन का प्रकाश ढूँढता है। यही दर्शन और विज्ञान का निगूढ़ सम्बन्ध है।

दर्शन-विज्ञान का सम्बन्ध

दर्शन और विज्ञान एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। दोनों जीव-जगत् का निष्पक्ष (Neutral) तथा वस्तुनिष्ठ (Objective) अध्ययन करना चाहते हैं। दोनों का साध्य एक है। साधनों में अन्तर अवश्य है। दर्शन अन्तर्ज्ञान शक्ति पर आधारित है जबकि विज्ञान बौद्धिक शक्ति पर। दर्शन की कसौटी तर्क है। विज्ञान तर्क के साथ प्रयोग को महत्व देता है।

कारण के बिना कार्य घटित नहीं होता। वर्तमान भूतकाल की उपज है। भविष्य वर्तमान का परिणाम है। जो-कुछ घटित होता है, उसके पूर्व कारण अवश्य हैं। सभी वैज्ञानिक अनुसंधान इसी अभ्युपगम को आधार मानकर किये जाते हैं। दर्शन इन कारणों की खोज करता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने दर्शन की परिभाषा में उल्लेख किया है— 'जहां विज्ञान अंशतः व्यवस्थित ज्ञान है वहां दर्शनशास्त्र पूर्ण व्यवस्थित ज्ञान है।'

विज्ञान सत्य की ओर ले जाने वाली अनुमानों की शृंखला है। विज्ञान द्वारा प्रदत्त निर्णय और रहस्य अंतिम सत्य तथा निरपेक्ष सत्य हैं, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। विज्ञान का कोई भी सिद्धांत नये संशोधनों के अनुसंधान में परिवर्तन अवश्य मांगता है और नया कोई भी अनुसंधान पूर्ववर्ती सिद्धांत को असत्य करार देता है।

न्यूटन का नियतवाद (Detemination), देकार्त की उपचयवादी अवधारणा के आधार पर विज्ञान ने काफी प्रगति की किन्तु नई भौतिकी के उदय के साथ ही उनकी अवधारणाओं पर मानो ग्रहण लग गया। यूक्लिड की ज्यामिति, डार्विन का विकासवाद (Evolution) भी संदेह के घेरे में हैं। विज्ञान का इतिहास इसका साक्ष्य है कि उसके प्रतिपृष्ठ पर वैज्ञानिकों के निर्णय बदलते हुए नजर आते हैं। विज्ञान में अंतिम सत्य कुछ भी नहीं।

दर्शन का सम्बन्ध भौतिकता से नहीं। उसका लक्ष्य है— ज्ञान की खोज, मूल्यों की पहचान, संप्रत्ययों का सजगता से तार्किक विश्लेषण करना, वर्तमान विश्व को जिसकी अपेक्षा है।

विज्ञान और दर्शन की धाराएं कहीं अति निकटता से गुजर रही हैं तो कहीं दूरी से। जहां दूरी है उसे पाटने का कार्य किया है—वी.रसेल, ए.एन. वाइटहेड,

अल्फ्रेड, आइंस्टीन आदि ने। उनका चिंतन, दर्शन और विज्ञान—दोनों के लिये उपयोगी है। रसेल का तार्किक अणुवाद (Rational Atomism), वाइटहेड का समय-सातत्यवाद और आइंस्टीन का सापेक्षवाद (Relativity) दोनों क्षेत्रों में समान रूप से चर्चित हैं।

दर्शन और धर्म भी अलग तत्त्व नहीं हैं। दर्शनशास्त्र के निकष पर खरा उतरनेवाला तत्त्व ही धर्म के क्षेत्र में प्रतिष्ठित होता है। एक ही चेतना प्रवाह के ये दो रूप हैं। मूल एक है। टहनियां दो हैं। धर्म दर्शन का व्यावहारिक पक्ष है। दर्शन धर्म का सैद्धान्तिक पक्ष है।

विज्ञान जैविक प्रक्रियाओं की व्याख्या करता है। जीवन किन-किन तत्त्वों का समीकरण है ? वे तत्त्व किस प्रकार परस्पर क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं करते हैं तथा क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं करके जीवंत कोष या कोष-समूह को जन्म देते हैं ? यह समाधान देता है—विज्ञान। धर्म-दर्शन आत्मा का शोधन है। जैन दर्शन परम आस्तिक दर्शन है। निश्चयस् उसका लक्ष्य है। इसका प्रमाण है— अस्तित्ववाद के चार अंगों की स्वीकृति—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद, क्रियावाद।^{१०}

महावीर का अस्तित्ववाद मानव तक ही सीमित नहीं, सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों के अस्तित्व को भी उतनी ही मान्यता दी है। इसके मानक तत्त्व हैं— संवेदन और जिजीविषा। प्राणी मात्र में जिजीविषा, सुख-दुःख का संवेदन और अपनी सुरक्षा की वृत्ति देखी जाती है। अतः उनके अस्तित्व में संदेह का अवकाश नहीं है।

वर्तमान में अस्तित्व का सूत्र एक वाद का रूप ले चुका है। इसे मानवीय समस्याओं का दर्शन माना है। जीवन, सुख-दुःख, आशा-निराशा आदि अस्तित्व की समस्याएं हैं। पाश्चात्य दर्शन भी अस्तित्ववाद से प्रभावित है। सारेन कीकेगार्ड इसके जन्मदाता माने जाते हैं।

अस्तित्व का अर्थ है—सत्ता की स्वीकृति। आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व का अभ्युपगम सनातन है। अस्तित्व की अस्वीकृति में अधिक प्रसिद्धि लोकायत मत को मिली। श्रमण परम्परा में अजित केशकंबली भी इसके पक्षधर थे। इन भूतवादियों के अतिरिक्त सभी दर्शनों ने एक मत से अस्तित्व को स्वीकारा है।

कुछ पाश्चात्य एवं आधुनिक भारतीय विचारकों के अभिमत से महावीर तथा बुद्ध के समकालीन चिन्तकों में आत्मवाद सम्बन्धी कोई निश्चित दर्शन

नहीं था—यह केवल सत्य की अनभिज्ञता है। तत्कालीन मतवादों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उस समय भी आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएं थी—कोई क्षणिक मानता था तो कोई कूटस्थ नित्य। कोई अणु मानता था तो कोई विभु। उन विचारधाराओं को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. उपनिषद् का ब्रह्मवाद।

२. बुद्ध का अनात्मवाद।

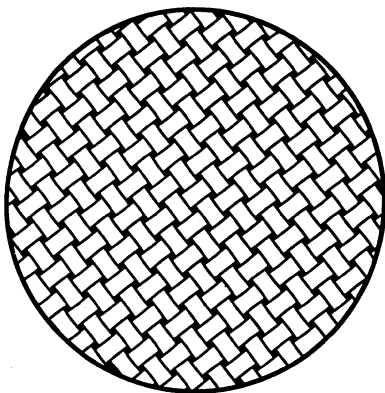
३. जैनों का आत्मवाद।

जैन आत्मवाद सबके बीच समन्वय सेतु बना। आत्मा निगूढ़ तत्त्व है। अनेक अन्वेषणों, जिज्ञासाओं, विमर्शनाओं, और समीक्षाओं के बाद भी 'आत्मा क्या है?' यह प्रश्न समाहित नहीं हो सका। विश्व-संरचना के मूल घटकों में आत्मा का स्थान पहला है।

प्लेटो दर्शन में निश्चयस् प्रत्यय की प्रधानता है। एरिस्टाटल दर्शन में द्रव्य एवं आकार तथा हेगल एवं ब्रेडले ने निरपेक्ष प्रत्यय को सर्वोपरि महत्त्व दिया। भारतीय दर्शन में मुख्यता आत्मा की है।

आत्मा क्या है ? चेतनामय असंख्य प्रदेशों का एक पिण्ड है।

फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्त ने आत्मा का व्यावर्तक गुण चिन्तन शक्ति या सोचना माना था। इसके विपरीत भौतिक द्रव्य का व्यावर्तक गुण विस्तार है। उसने सिद्ध किया कि हमारी समस्त मनोदशाएं चिन्तन का ही रूप हैं।



असंख्य प्रदेशी आत्मा

यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने आत्मा में तीन शक्तियों का जिक्र किया है—क्षुधा, आवेग और बुद्धि। प्लेटो और देकार्त—दोनों ही आत्मा की धारणा सांसारिक जीवन के आधार पर बनाते हैं। भारतीय

दर्शन में आत्मा के स्वरूप पर मोक्ष की दृष्टि से चिन्तन किया है। इसलिये आत्म तत्त्व प्रधान बन गया।

आत्मा न हो तो लोकवाद, कर्मवाद, क्रियावाद का मूल्य विघटित हो जाता है। व्यक्ति के लिये सारभूत प्रश्न अपनी सत्ता से सम्बन्धित है। अस्तित्व-बोध से ही विकास यात्रा शुरू होती है।

आत्मा के सम्बन्ध में दार्शनिकों का चिंतन क्या था ? उनकी निष्ठा क्या थी ? निष्ठा के आधारभूत तर्क एवं प्रमाण क्या थे ? विज्ञान इस सम्बन्ध में क्या कहता है ? बीसवीं सदी के विचारक इस संदर्भ में नया तथ्य क्या उपस्थिति करते हैं ? इन सब का विमर्श अपेक्षित है।

आत्म-विषयक चिन्तन का प्रारंभ कब से हुआ ? कहां से हुआ ? इसका निश्चयात्मक उत्तर देना कठिन है, किन्तु पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने जैन साहित्य इतिहास की पूर्वपीठिका में उल्लेख किया है—‘जैसे ब्राह्मण काल में यज्ञों की ध्वनि अनुगुंजित थी वैसे ही उपनिषद् काल में यह स्थान आत्म-विद्या ने लिया था। ऋषि लोग उसे जानने के लिये क्षत्रियों का शिष्यत्व स्वीकार करते थे।’^{११} इससे स्पष्ट है उपनिषद् काल से पूर्व आत्म-सम्बन्धी चिंतन मुखर था, वह उपनिषद् काल में बल पकड़ लेता है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा को सर्वप्रिय तत्त्व कहा है, जो जाग्रत और मृत्यु की अवस्था में एक समान रहनेवाला है।^{१२}

प्रश्नोपनिषद् में आत्मा को शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मन से भिन्न चित् स्वरूप कहा है।^{१३}

कठोपनिषद् के अनुसार ‘आत्मा न मरती है, न उत्पन्न होती है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है।’^{१४}

यह न तर्कगम्य है, न वेदाध्ययन से प्राप्ति योग्य। यह मात्र प्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त होता है।^{१५}

जीवात्मा कर्मों का कर्ता, भोक्ता, सुखादि गुणवाला, प्राणों का स्वामी है।^{१६}

ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् में आत्मा को ब्रह्म कहा है। उसे अखंड रूप से मान्य किया है। संसार में जितने प्राणी हैं, सब में ब्रह्म का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है।^{१७}

उपनिषद् का दृष्टिकोण आत्मवादी रहा है। याज्ञवल्क्य एवं मैत्रेयी का संवाद पुष्ट प्रमाण है। वृद्धावस्था की दहलीज पर पैर रखते ही दार्शनिक शिरोमणि याज्ञवल्क्य ने अपनी भौतिक सम्पदा को दोनों पत्नियों में विभाजित

कर संन्यस्त होने का निर्णय लिया। विदुषी मैत्रेयी ने असहमति प्रकट करते हुए कहा—‘जिससे मैं अमृत नहीं बन सकती उसे लेकर क्या करूँ?’^{१८} तब याज्ञवल्क्य ने उसे आत्म-विद्या का उपदेश दिया।^{१९}

वृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य का लम्बा संवाद, कठोपनिषद् में नचिकेता का उपाख्यान आत्म-तत्त्व की सिद्धि के ही प्रमाण हैं। आत्मा के सम्बन्ध में उपनिषदों में जो विस्तृत विवेचन प्राप्त है, उससे दो बातें स्पष्ट होती हैं।

एक यह कि उपनिषद् काल से पूर्व भी आत्म-विषयक चिन्तन उपलब्ध था। जिसके पुरस्कर्ता क्षत्रिय थे। दूसरा कारण यह है—ऋग्वेद के समय आत्मा के संदर्भ में जो धारणा थी, उपनिषद् काल में उससे भिन्न धारणा है। इससे लगता है चिन्तन में क्रमिक विकास हुआ है।

हिन्दू दर्शनों में आत्म-स्वरूप-चिन्तन में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है, इसलिये एकरूपता नहीं बन सकी। जैन दर्शन इसका अपवाद है। यहां आगमकालीन साहित्य से लेकर आज तक के विशाल वाङ्मय का पारायण बताता है कि भगवान् ऋषभ से लेकर वर्तमान युग तक आत्मवाद की धारणा समान है।

जब हम किसी विषय पर चिन्तन करते हैं तो सबसे प्रथम उसके अस्तित्व का प्रश्न प्रमुख होता है। तत्पश्चात् स्वरूप का विमर्श। अस्तित्व का निर्धारण न हो तो स्वरूप की चर्चा व्यर्थ है। जहां तक अस्तित्व का सवाल है, दार्शनिकों में सामान्यतः कोई विवाद नहीं है। विवाद है तो स्वरूप के सम्बन्ध में। किसी ने शरीर को आत्मा माना, किसी ने इन्द्रिय को, किसी ने बुद्धि को, किसी ने मन को, किसी ने स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकारा है। इनकी पृष्ठभूमि में विचार-शक्ति के समुचित विकास का अभाव प्रतीत होता है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में कहा— जो भवान्तर में दिशा-विदिशा में घूमता रहा, वह मैं हूँ।^{२०} यहां ‘मैं’ पद अस्तित्व का अवबोध है। जैन दर्शन ने आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के सूचक चार प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—

१. अहं प्रत्यय—‘मैं हूँ’ इस प्रत्यय का आधार क्या है? आत्मा न हो तो अहं प्रत्यय कैसे होगा?^{२१} मैं नहीं हूँ—यह विश्वास किसी को भी नहीं है।
२. संवेदन—सुख, दुःख, स्मृति आदि का ज्ञान शरीर को नहीं होता, वह उसे होता है जो शरीर से भिन्न है।^{२२}

३. संशय— मैं हूँ या नहीं ? आत्मा के सम्बन्ध में यह संशय, आत्मा को ही प्रमाणित करता है। अचेतन को अपने अस्तित्व में कभी संशय नहीं होता। 'यह है या नहीं' ऐसा ईहा या विकल्प चेतन के सिवाय संभव नहीं।

४. गुण-गुणी का अविनाभाव—चैतन्य गुण है और चेतन गुणी। गुणी के अभाव में गुण का अस्तित्व कहां टिकेगा ?^{२३} जैसे—घट के रूपादि गुणों से घट का अस्तित्व सिद्ध होता है। ज्ञानादि गुणों से आत्मा की प्रतीति होती है। गुण और गुणी का अविनाभावी सम्बन्ध है।^{२४} चैतन्य प्रत्यक्ष है। चेतन प्रत्यक्ष नहीं है। परोक्ष गुणी की सत्ता प्रत्यक्ष गुण प्रमाणित कर रहा है।

पूज्यपाद अकलंक, हरिभद्र, जिनभद्रगणि, प्रभाचंद्र, विद्यानंद, गुणरत्न, मल्लिषेण आदि दार्शनिकों ने विविध युक्तियों से आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि की है।

पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में उल्लेख किया—'श्वासोच्छ्वासरूप कार्य से क्रियावान आत्मा का अस्तित्व असंदिग्ध है।'^{२५} श्वासोच्छ्वासरूप कार्य का जो कर्ता है, वही आत्मा है।^{२६} जिनभद्र क्षमाश्रमण का अभिमत अकलंक देव का ही अनुसरण कर रहा है।^{२७}

घट-पट आदि पुद्गल द्रव्य प्रत्यक्ष हैं, वैसे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं। इसकी प्रतीति कारण व्यापार द्वारा होती है। रथ के चलने की क्रिया सारथि के प्रयत्न से है, वैसे ही शरीर की व्यवस्थित क्रिया जिसके प्रयत्न से होती है, वही आत्मा है।^{२८}

आत्मा इन्द्रिय से भिन्न है। इन्द्रियां पदार्थ को जानने का माध्यम हैं। जानने वाला अन्य है। इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी पूर्व दृष्ट या श्रुत ज्ञान स्मृति-प्रकोष्ठ में विद्यमान रहता है। इसलिये इन्द्रियां ज्ञान का कारण हैं, कर्ता नहीं।

इन्द्रियां सिर्फ मूर्त द्रव्य को जानती हैं, अमूर्त को नहीं। आत्मा अमूर्त है। अतः इन्द्रिय द्वारा ज्ञात होने से अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता। अरूपी की बात छोड़ दें, आणविक सूक्ष्म पदार्थ, जो रूपी हैं वे सभी इन्द्रियगोचर नहीं हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानना—इससे कोई तथ्य सिद्ध नहीं होता।

इन्द्रियों का अपना-अपना विषय निश्चित है। एक इन्द्रिय के विषय को दूसरी इन्द्रिय नहीं जान सकती। इन्द्रियां ही ज्ञाता हों, प्रवर्तक आत्मा न हो तो सब इन्द्रियों के विषय का संकलनात्मक ज्ञान कैसे संभव होगा ?

ज्ञान की स्थिरता में आत्मा सहयोगी तत्त्व है। कुछ दार्शनिकों की आत्मा और इन्द्रियों के एकत्व एवं भिन्नत्व में विप्रतिपत्ति रहती है। विमर्शणीय तथ्य यह है कि यदि इन्द्रियां ही आत्मा है तो इन्द्रियों के विकृत या विनष्ट होने पर स्मृति-नाश क्यों नहीं होता ?

भिन्न-भिन्न द्वारों से भिन्न-भिन्न ज्ञानार्जन करना, स्मृति कोष में सुरक्षित रखना, एक साथ संयोजन करना इन्द्रिय से परे आत्मा को प्रमाणित करता है। इन्द्रियजन्य समग्र अनुभूतियों का केन्द्रीकरण, सुख-दुःखादि का संवेदन आत्मा के कार्य हैं।

इन्द्रिय-अप्रत्यक्ष मानकर आत्मा का निषेध करने से विप्रकृष्ट और व्यवहित वस्तु के अस्तित्व को भी अस्वीकार करना होगा। अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं है इसलिये वह नहीं है—यह मानना तर्कबाधित है क्योंकि वह अमूर्तिक है।

श्रोत्रादि इन्द्रियां करण हैं। उनका कोई प्रेरक तत्त्व अवश्य है, क्योंकि जो करण हैं, वे किसी से प्रेरित होकर ही कार्य करते हैं।^{२९} इन्द्रियों को प्रेरित करने वाली शक्ति का नाम ही आत्मा है।^{३०} इन्द्रिय और विषय में ग्राह्य-ग्राहक भाव सम्बन्ध है। ग्रहण कर्ता की अनिवार्यता है। आत्मा आदाता है।^{३१}

विश्व के सभी पदार्थों को जानने के लिये इन्द्रिय और मन पर ही निर्भर हो जाना नितांत अनुचित है। आत्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है।^{३२} वह अरूपी सत्ता है।

कार्य से कारण की प्रतीति होती है। गुण से गुणी, लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान होता है। आत्मा के भी अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले कुछ व्यावहारिक लक्षण हैं, जैसे—प्रजनन (Reproduction), वृद्धि (Growth), उत्पादन (Production), व्रण-संरोहण (Healing syndrome), क्षय (Decay), अनियमित गति (Irregular motion) आदि।

खाद्य-स्वीकरण जैसी कुछ क्रियाएं यंत्र में भी परिलक्षित होती हैं किन्तु संज्ञा (Instinct), विचार (Thought), भावना (Sentiment), इच्छा (Desire) आदि चेतना के लक्षण हैं, निर्जीव यंत्र के नहीं। यंत्र पर-चालित है। आत्मा

स्वचालित है। यंत्र का नियामक यंत्र नहीं, चेतनाशील प्राणी ही होता है। जड़ तत्त्व से चेतना का आविर्भाव संभव नहीं। चेतना भी जड़ का उपादान नहीं बनती। दोनों में अत्यन्ताभाव है। दोनों गुण-पर्यायों का समान रूप से निरवच्छिन्न समुदाय हैं, फिर भी संवेदन की अनुभूति चेतना में ही प्राप्य है।

जिस वस्तु का जो उपादान है वही उस रूप में परिणत होता है। मिट्टी उपादान से घर निर्मित हो सकता है, चेतना नहीं। चेतना का उपादान चेतना है।

आत्मा न हो तो निषेध किसका ? असत् का निषेध संभव नहीं। संयोग, समवाय, सामान्य और विशेष-निषेध के चारों प्रकार अर्थशून्य बन जाते हैं।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय-तीनों एक नहीं हैं। ज्ञेय पदार्थ है, ज्ञाता जानने वाला और ज्ञान जानने का साधन है। चेतना के अभाव में इन तीनों का सम्बन्ध नहीं बनता। संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय का आधार क्या होगा ?

यह गूढ़ दार्शनिक तथ्य है कि सत् त्रिकालवर्ती है। जिसकी सत्ता में परिवर्तन हो, वह असत् है। सत्-असत् दोनों भिन्न हैं। भिन्न गुण-धर्मों से युक्त हैं। सत् इन्द्रियगम्य नहीं है।

सत्य आंख और कान से परे भी है। तर्क की वहां पहुंच नहीं है। तर्क का क्षेत्र केवल कार्य-कारण की नियमबद्धता से आबद्ध है। वहां दो वस्तुओं का निश्चित साहचर्य है। इसलिये उसे प्रमाण-परम्परा से ऊपर एकाधिकार नहीं दिया जाता। अतर्क्य आगम-गम्य होता है।

शंकराचार्य ने श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रथम अध्याय के तीसरे मंत्र पर भाष्य लिखते हुए निरूपित किया है—‘जो वस्तु प्रमाणों से गोचर नहीं होती उसे ऋषियों ने अलग प्रकार से जाना है, देखा है।’^{३२}

आत्मा अप्रमेय है। प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम।

प्रत्यक्ष:—वस्तु और इन्द्रिय-संपर्क से जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का विषय से, तीनों का तादात्म्य होता है, किन्तु आत्मा के साथ इन्द्रिय का संयोग नहीं है। आत्मा अव्यक्त है। यह ऐसी अवस्था है जहां से आत्मा को पाये बिना ही वाणी, मन के साथ लौट आती है।^{३४}

‘न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनः’^{३५} उपनिषद् की भाषा में आत्मा इन्द्रियों की पहुंच से परे है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं बन सकती।

अनुमान:—साधन के आधार पर साध्य का ज्ञान अनुमान है। पर्वत शिखर पर उठती हुई धूम-रेखा देखकर अग्नि का ज्ञान करना—‘पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्।’ क्योंकि धूम और आग में व्याप्ति सम्बन्ध है। धूम साधन है। अग्नि साध्य है। दोनों में अविनाभावित्व है।

सहभावी और क्रमभावी कार्यों के बीच यह सम्बन्ध रहता है। रूप से रस का या रस से रूप का बोध सहभावी है। कारण के बाद कार्य का होना क्रमभावी है। अग्नि से धूम का पैदा होना—यह क्रमभावी है। बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान, नदी की वेगवती धारा से विगत में वृष्टि का अनुमान। इन दोनों में व्याप्ति है। इसमें कार्य-कारण और कारण-कार्य सम्बन्ध वर्तमान है। व्याप्ति को पाश्चात्य तर्कशास्त्र में— ‘Scientific Induction’ कहा जाता है।

उपमान:—पूर्व अनुभूत किसी वस्तु के साथ समानता देखकर नई वस्तु का बोध करना उपमान प्रमाण है। इसमें नाम एवं नामी, संज्ञा और संज्ञी का अवबोध है। जैसे— किसी नीलगाय के बारे में अवगति प्राप्त की। उसके रूप-रंग, आकार के सम्बन्ध में सुना। वैसा ही पशु कभी जंगल में सामने आया। स्मृति ताजा हो उठी। यह नीलगाय है क्योंकि गाय के साथ इसका सादृश्य है। नीलगाय ही है—इस निश्चय पर पहुंचना उपमान प्रमाण है।

आगम:—‘आप्तोपदेशः आगमः’— आप्त वह कहलाता है जो वस्तु को यथार्थ रूप से जानता है। हितोपदेष्टा होने से उसके वचन प्रमाण हैं। आत्मा के संदर्भ में आगम-प्रमाण भी इतना महत्त्व नहीं रखता। आगम स्वयं कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुश्रुतेन।

फलित है, आत्मा चारों प्रमाणों से ज्ञेय नहीं है। अप्रमेय है।

अनात्मवादियों का तर्क है—आत्मा नहीं है, क्योंकि उसका कोई साधक प्रमाण नहीं मिलता, न कोई उत्पादक तत्त्व है। आचार्य अकलंक ने इस तर्क को न्यायसंगत नहीं कहा, क्योंकि उनका हेतु असिद्ध, विरुद्ध और अनेकांतिक दोष से दूषित है।^{३७}

आत्मवादी कहते हैं— आत्मा है, कारण उसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की अस्तित्व सिद्धि में साधक-बाधक प्रमाणों का भी अपना महत्त्व है। साधक प्रमाण जैसे अस्तित्व के सूचक हैं तो बाधक प्रमाण न मिलने पर भी अस्तित्व की सिद्धि स्पष्ट है।

अनात्मवादी आत्मा नहीं है—इसका प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते क्योंकि खण्डन करने वाला भी कोई आत्मा ही होगा।

जिसके प्रतिपक्ष का अस्तित्व नहीं, उसके अस्तित्व को तार्किक समर्थन नहीं मिल सकता। यदि चेतन नामक सत्ता नहीं होती तो 'न चेतन-अचेतन' इस अचेतन सत्ता का बोध ही नहीं होता। किसी भी व्यक्ति को प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु में संदेह नहीं रहता। परोक्ष वस्तु प्रत्यक्ष न होने से विचार-भेद सामने आते हैं। यदि साधक प्रमाण बलवान हो तो परोक्ष भी स्वीकार्य हो जाता है। बाधक प्रमाण बलवान हो तो अस्तित्व को नकार दिया जाता है।

आत्मा प्रत्यक्ष नहीं, प्रत्यक्ष होती तो भारतीय दर्शन का संभवतः इतना विकास नहीं हो पाता। प्रत्यक्ष नहीं है इसीलिये उसका चिन्तन, मनन, अन्वेषण किया जाता है।

आत्म-परिमाण—

दार्शनिक जगत में आत्मा का स्वरूप जितना चर्चित विषय है, उतना ही अधिक आत्म-परिमाण का है। इस संदर्भ में विभिन्न कल्पनाएं परिलक्षित होती हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, शांकर वेदान्त आदि आत्मा को आकाश की तरह व्यापक स्वीकार करते हैं। रामानुज, माध्वाचार्य, वल्लभ, निम्बार्काचार्य आदि मुख्य हैं जो आत्मा को अणु परिमाणयुक्त मानते हैं।^{३८} अणु यानी बाल के हजारवें भाग के समान और हृदय में निवास करता है।

उपनिषदों में आत्मा को व्यापक, अणु और शरीर प्रमाण कहा है। कौषीतकी उपनिषद् में व्याख्या है—जैसे तलवार अपनी म्यान में, अग्नि अपने कुंड में व्याप्त है उसी प्रकार आत्मा शरीर में नख से शिखा तक व्याप्त है।^{३९} यह आत्मा शरीरव्यापी है।^{४०} आत्मा चावल या जौ के दाने के परिमाण की है।^{४१} कुछ लोग अंगुष्ठ परिमाण भी मानते हैं।^{४२} कुछ ने बालिशत परिमाण भी कहा है।^{४३} उपनिषद् में कोई सुनिश्चित विचारधारा नहीं है। मैत्री उपनिषद् में अणु से अणु, महान से महान भी स्वीकार किया है।^{४४} तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—इन सब आत्माओं को शरीर परिमाण कहा है।^{४५}

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा न व्यापक है, न अणु, अपितु वह देह-परिमाण है। अणु-परिमाण मानने से कई दोषों का आविर्भाव होता है। अणु मानने से शरीर के जिस भाग में आत्मा रहेगी उस भाग में होने वाली संवेदना का ही अनुभव होगा। संपूर्ण शरीर की संवेदना नहीं हो सकेगी तथा इन्द्रियों

द्वारा होने वाला ज्ञान भी युगपत् नहीं होगा। आत्मा निरंश हो जायेगी। ऐसा होने पर दो हिस्सों में होने वाली संवेदनाओं के साथ सम्बन्ध न होने से कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मा को व्यापक मानने वालों ने कई युक्तियों के द्वारा अपने मत की सत्यता को साबित किया किन्तु वे तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं।

आत्मा के अमूर्त और नित्य होने से आकाश की तरह व्यापक कहना भी उचित नहीं। जो नित्य हो वह व्यापक ही हो—यह कोई व्याप्ति नहीं बनती।

न्याय-वैशेषिक और वेदान्त ने अदृष्ट को सर्वव्यापी माना है। अदृष्ट आत्मा का गुण है इसलिये आत्मा भी व्यापक है^{४७}—यह दलील भी यथार्थ नहीं है। आचार्य मल्लिषेण ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है—अदृष्ट के सर्वव्यापी होने का प्रमाण नहीं मिलता^{४८} तथा इससे ईश्वर के कर्तृत्व पर भी आघात होता है।^{४९}

आत्मा को व्यापक मानने से और कई आपत्तियां आती हैं। जैसे—

१. आत्मा परलोकगमन नहीं कर सकेगी।
२. कौन आत्मा किस शरीर की नियामक है—यह कहना कठिन है।
३. अनेकात्मवाद के साथ भी संगति नहीं बैठती।
४. भोजन आदि व्यवहार में संकर दोष आता है।^{५०} एक के खाने से उसका स्वाद सबको आयेगा क्योंकि आत्मा व्यापक है—यह तथ्य किसी को मान्य नहीं।

प्रत्यक्ष प्रमाण से भी आत्मा की व्यापकता सिद्ध नहीं होती। आत्मा को व्यापक मानने से शुभ-अशुभ कर्मों का भी मिश्रण हो जायेगा। एक के दुःखी होने से सभी दुःखी, एक के सुखी होने पर सब सुखी होंगे।^{५१}

स्वामी कार्तिकेय ने आत्मा को सर्वगत नहीं माना, कारण—सर्वज्ञ को सुख-दुःखानुभूति नहीं होती। शरीर में सुख-दुःख का अनुभव आत्मा के देह-परिमाण होने का संकेत है।^{५२}

आचार्य हेमचन्द्र आत्मा के सर्व व्यापकत्व का निराकरण करते हुए लिखते हैं—

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवत् निष्प्रतिपक्षमैतत्।

तथापि देहाद् बहिरात्म-तत्त्वमतत्त्व वादोपहृताः पठन्तिः॥९॥

(अन्ययोग व्यच्छेदिका श्लोक-९)

अर्थात् जिस पदार्थ के गुण जहां होते हैं, पदार्थ भी वहीं होता है। आत्मा के ज्ञानादिगुण शरीर में उपलब्ध हैं, अतः आत्मा शरीरव्यापी है।

आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वाद मंजरी में इस तथ्य को स्पष्ट निरूपित किया है—

आत्मा सर्वगतो न भवति, सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धेः।

यो यः सर्वत्रानुपलभ्यमानः सः सः सर्वगतो न भवति।

यथा घट तथा चायम्। तस्मात् तथा व्यतिरेके व्योमाद् ॥

विशेषावश्यक भाष्य भी इसका साक्ष्य है। जिस वस्तु के गुण जहां उपलब्ध नहीं हैं वह वस्तु वहां नहीं होती। जैसे अग्नि के गुण जल में अनुपलब्ध हैं अतः अग्नि जल नहीं। इसी तरह चैतन्य पूरे शरीर में पाया जाता है।

आत्मा में संकोच-विकोच की शक्ति के कारण भी देह परिमाण की सिद्धि होती है। जैन दर्शन के अनुसार संसारी जीवों में पुद्गलों का स्वीकरण और क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। इसलिये आत्मा का परिमाण एक जैसा नहीं रहता। संकोच-विकास चलता रहता है। यह क्रिया स्वाभाविक नहीं, कार्मण शरीर सापेक्ष है।

आत्मा के संकोच-विस्तार की तुलना बल्ब के प्रकाश से की जा सकती है। बल्ब को किसी छोटे पात्र में रखा जाये तो प्रकाश उतने में व्याप्त रहेगा। पात्र बड़ा हो तो प्रकाश भी फैल जायेगा। पात्र के अनुपात में प्रकाश का संकोच-विस्तार होता रहेगा।

आत्मा भी अपने कर्मानुसार जब हाथी का शरीर छोड़कर चींटी या सूक्ष्मतम निगोद के शरीर में प्रवेश करती है तो अपनी संकोच शक्ति के कारण अपने प्रदेशों को संकुचित करके उसमें रहती है, और चींटी का जीव मरकर जब हाथी का शरीर पाता है तो जल में तैल बिन्दु की तरह फैलकर संपूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है।

चेतना और विस्तार का सहवस्थान देखकर प्रश्न पैदा होता है कि दोनों का साथ कैसे ? क्योंकि चित् का लक्षण चेतना और अचित् का लक्षण विस्तार है। पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त ने चित् और अचित् को अलग-अलग माना है। जैन दर्शन का अपना अभिमत है कि जीव का विस्तार भौतिक तत्वों जैसा लम्बाई-चौड़ाई वाला नहीं होता बल्कि इसका विस्तार रोशनी के विस्तार जैसा है।

बालक शरीर में जो आत्मा है वही युवा और वृद्ध शरीर में है। यदि शरीर के अनुसार संकोच-विकोच की क्रिया न हो तो बचपन एवं युवावस्था की आत्मा को अलग-अलग मानना पड़ेगा। बचपन की स्मृति युवावस्था में संभव नहीं होगी। जबकि बचपन की स्मृतियां युवावस्था में विद्यमान रहती हैं। इसलिये आत्मा का देह-परिमाण होना निस्संदेह है।^{५३}

जैन दर्शन में आत्मा को कथंचित् व्यापक भी माना है। केवली समुद्घात की प्रक्रिया में आत्मा चौदह रज्जु प्रमाण लोक में व्याप्त हो जाती है। मरण समुद्घात के समय भी आंशिक व्यापकता होती है।^{५४} लेकिन यह कभी-कभी होता है इसलिये व्यापक नहीं माना जाता।

संख्या की दृष्टि से जीव अनंत हैं। प्रत्येक जीव के असंख्य प्रदेश हैं। व्याप्त होने की क्षमता के आधार पर लोक के समान विराट है। जैन दर्शन में आत्मा के विभुत्व और अणुत्व—दोनों रूपों को मान्यता दी है। एकान्ततः आत्मा न व्यापक है और न अणु परिमाण ही। यह मध्यम परिमाणी है।

यहां प्रश्न हो सकता है—आत्मा को शरीर परिमाण मानने से क्या सावयव नहीं कहलायेगी? जिसके अवयव है, वह अनित्य होता है। जैसे घड़ा सावयव है अतः विशरणशील है।

जैन दार्शनिकों का अभिमत है—अवयवी होने से अनित्य ही होता है—यह कोई नियम नहीं। घटाकाश, पटाकाश कहने से आकाश भी सावयव हो जाता है, किन्तु वह नित्य है। आकाशवत् आत्मा भी नित्य है।

विश्व की कोई भी वस्तु एकान्त नित्य और अनित्य नहीं, नित्यानित्य है। द्रव्य नय की अपेक्षा नित्य है। पर्यायार्थिक नय से कथंचित् अनित्य है। आत्मा का चैतन्य शाश्वत है। कभी सुख में, कभी दुःख में, भिन्न-भिन्न अनुभूति—ये सब पर्याय हैं।

पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है। अतः अनेकान्त दृष्टि से सावयवता भी आत्मा के देह परिमाण होने में बाधक नहीं है।

प्रदेश संख्या की दृष्टि से धर्म, अधर्म, लोकाकाश और जीव समान हैं, किंतु अवगाह की अपेक्षा समानता नहीं है। धर्म आदि तीनों लोक में व्याप्त हैं। वे गतिशून्य और निष्क्रिय हैं। ग्रहण-उत्सर्ग की क्रिया से रहित हैं। अतः इनका परिमाण सदा स्थिर है। संसारी जीवों में पुद्गल का ग्रहण होता है। उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। इसलिये परिमाण एक जैसा नहीं रह सकता।

द्रव्य संग्रह^{५५}, आदि पुराण^{५६}, उत्तर पुराण^{५७}, ज्ञानार्णव^{५८}, उत्तराध्ययन^{५९}, श्रावकाचार^{६०} आदि में आत्मा को चैतन्य स्वरूप, उपयोगमय, अनादि-निधन, ज्ञाता, दृष्टा, कर्ता-भोक्ता तथा देह परिमाण, संकोच-विस्तार वाली माना है। चैतन्य गुण आत्मा का स्वाभाविक गुण है, आगन्तुक नहीं। इस सम्बन्ध में तीन प्रकार की विचारधाराएं प्रचलित हैं—

१. न्याय, वैशेषिक और प्रभाकर भट्ट, जो आत्मा को जड़ स्वरूप मानकर चैतन्य को उसका आगन्तुक गुण मानते हैं।
२. कुमारिल भट्ट चैतन्य को आत्मा का स्वाभाविक गुण मानते हैं लेकिन साथ ही उसे जड़ स्वरूप भी मानते हैं।
३. सांख्य, वेदान्त और जैन चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण न मानकर स्वाभाविक मानते हैं।

अग्नि जैसे उष्ण स्वभाव वाली है^{६१} वैसे आत्मा भी चैतन्य गुण वाली है। द्रव्य का अपने गुण से भिन्न या गुणों का द्रव्य से भिन्न अस्तित्व नहीं है। आत्मा द्रव्य है। चैतन्य उसका गुण है। ज्ञान गुण आत्मा से पृथक् नहीं रह सकता इसलिये ज्ञान और आत्मा को एक माना है।^{६२}

अग्नि और उष्ण गुण दोनों भिन्न मानने से अग्नि दहन आदि कार्य नहीं कर सकती। इसी प्रकार ज्ञान से भिन्न आत्मा भी पदार्थ को नहीं जान सकती और ज्ञान भी निराश्रित हो जाता है।

जैन परम्परा में आत्मा का लक्षण उपयोग माना गया है। भगवती^{६३}, स्थानाङ्ग^{६४}, उत्तराध्ययन^{६५} आदि जैनागमों के अनुसार आत्मा उपयोग लक्षण वाली है। निशीथचूर्णि में स्पष्ट है—जहां आत्मा है, वहां उपयोग है। जहां उपयोग है, वहां आत्मा है।^{६६} चेतना दो प्रकार की है—ज्ञान चेतना, दर्शन चेतना। आत्मा ज्ञान-दर्शनोपयोगमयी है। आत्मा का जो भाव ज्ञेय को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है उसे उपयोग कहते हैं।^{६७} उपयोग का अर्थ है—वस्तुबोध के प्रति आत्मा की प्रवृत्ति अथवा विषय की ओर अभिमुखता। उपयोग चैतन्य का अन्वयी परिणाम है। चैतन्य आत्मा का ऐसा लक्षण है जो पुद्गलादि अजीव द्रव्यों से व्यावृत्त करता है।^{६८}

आत्मा के भेद-प्रभेद

आत्मा असंख्य प्रदेशात्मक है, विशुद्ध है, उसके भेद नहीं होते। संसारी आत्मा कर्म संयुक्त है। अतः इन्द्रिय, मन, अध्यात्म, अनेकांत, शुद्धि-अशुद्धि

की अपेक्षा अनेक भेदों की व्यवस्था है। जैन दर्शन में जीवों का जैसा व्यवस्थित वर्गीकरण है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भेद-प्रभेदों का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक है। वर्गीकरण के पीछे उद्देश्य है— आत्म स्वरूप की अवगति देकर मोक्ष मार्ग की ओर अभिमुख करना।

आत्मा अनेक है—इसके परिपोषक तीन प्रमाण हैं—

१. इन्द्रियों की भिन्नता।
२. प्रवृत्तियों की भिन्नता।
३. शरीर की भिन्नता।

सूत्रकृताङ्ग में एकात्मवाद की समीक्षा में कहा है— आत्मा एक है तो एक ही समय में यह तत्त्वज्ञ है, अतत्त्वज्ञ है। यह आसक्त है, यह विरक्त है—ऐसा विरुद्ध व्यवहार नहीं हो सकता अतः आत्मा एक नहीं है।^{६९} एक आत्मा की कल्पना युक्तिरहित है।

जैन दर्शनानुसार एक शरीर में अनेक आत्माएं रह सकती हैं, किन्तु एक आत्मा अनेक शरीरों में नहीं रह सकती। दृष्ट या अनुभूत पदार्थ का स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञान एक व्यक्ति जैसा दूसरे में नहीं मिलता। अनेक आत्मा की बात इससे भी सिद्ध है।^{७०}

न्याय-वैशेषिक, सांख्ययोग और मीमांसा दर्शन में जैन दर्शन के समान अनेक आत्माओं की स्वीकृति है। आत्मा की विविध अवधारणा में किंचित् भिन्नता है फिर भी आत्मा के विविध रूप स्वीकार्य हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा की अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—इन पांच अवस्थाओं का उल्लेख है।^{७१}

कठोपनिषद् में ज्ञानात्मा, महदात्मा, शान्तात्मा—तीन अवस्थाएं स्वीकृत हैं।^{७२} मुण्डकोपनिषद् में—अन्तःप्रज्ञ बहिःप्रज्ञ, उभयप्रज्ञ, अवाच्य—आत्मा के चार भेद किये हैं।^{७३} आध्यात्मिक विकास दृष्टि से जैन दर्शन में आत्मा के तीन प्रकार बताये हैं—

बहिरात्मा—प्रतिबिम्ब को बिम्ब मानना। अज्ञान दशा में जीव की अवस्था, बहिरात्मा की पहचान है।

अन्तरात्मा—जागृति। जहां आत्मा से भिन्न पदार्थों से तादात्म्य टूट जाता है।

परमात्मा— जहां समस्त कर्मों से मुक्त, स्व-स्वरूप की उपस्थिति होती है।

जीव की जितनी पर्यायें बदलती हैं, जितनी रूपान्तरित अवस्थाएं एवं परिणतियां हैं, उतनी ही आत्माएं हैं। वे उस अवस्था की बोधक हैं। सभी का एक साथ प्रतिपादन असंभव है अतः चिंतन की सहजता के लिये उनका वर्गीकरण आठ रूपों में किया है—

द्रव्य आत्मा^{१४}—चैतन्यमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड। चेतनाकाल के सभी खण्डों में दीप्त रहती है। न उदित होती है, न अस्त। ऐसी शुद्ध चैतन्यमय आत्मा को द्रव्यात्मा कहते हैं।

कषाय आत्मा — क्रोध, मान आदि कषायों से रंजित अवस्था।

योग आत्मा — मन, वचन, काया की योगमय रूपान्तरित अवस्था।

उपयोग आत्मा — चेतना का उपयोगमय क्रियात्मक पक्ष।

ज्ञान आत्मा — जीव की ज्ञानमय अवस्था या परिणति।

दर्शन आत्मा — मूलभूत सत्ता के प्रति जीव का यथार्थ-अयथार्थ दृष्टिकोण।

चारित्रात्मा — कर्म निरोध की भूमिका में जीव की सक्रिय भूमिका।

वीर्यात्मा — जीव का सामर्थ्य-विशेष वीर्य आत्मा है।

इन अवस्थाओं में द्रव्य आत्मा मूलभूत है, शेष जीव की पर्यायें हैं। अध्यात्म तत्त्वालोक^{१५} में जीव की अन्य अवस्थाएं भी बतलाई हैं, यथा-बहिरात्मा, भद्रात्मा, सदात्मा, महात्मा, योगात्मा, परमात्मा आदि।

अनेकात्मवाद की तुलना जर्मन के दार्शनिक लाइबनीट्ज के चिदणु से की जा सकती है। लाइबनीट्ज के अनुसार चिदणु अनेक हैं जिनमें चैतन्य का स्वतंत्र विकास हो रहा है। दोनों में काफी साम्य है।^{१६}

जैन दर्शन में संसारी और सिद्ध, मूल इन दो अवस्थाओं की प्रमुखता है। संसारी अवस्था जीव की बद्ध अवस्था है। संसार का एक नाम परावर्तन है। परावर्तन पांच हैं^{१७}—द्रव्य परावर्तन, क्षेत्र परावर्तन, काल परावर्तन, भव परावर्तन, भाव परावर्तन। इन पांचों परावर्तनों में यात्रायित जीव की संसारी अवस्था है। परिवर्तनों से मुक्त जीव सिद्ध कहलाता है। सिद्धों की अवस्था अक्षय, अचल, अव्यावाध है। ऊपर हम जैन दर्शन और अन्य दर्शनों में अनेक

आत्मा की चर्चा कर आये हैं। किन्तु जैनागमों में स्थानांग एक सूत्र है। उसका प्रारंभ 'एगे आया' से होता है। प्रश्न उठता है, क्या इससे उपनिषद् में वर्णित एकात्मवाद की पुष्टि नहीं होगी ? एक और अनेक का विरोधाभास कैसे ? प्रश्न महत्वपूर्ण है।

समाधान अनेकांत की भाषा में किया जा सकता है। जैन दर्शन एकांतवादी दर्शन नहीं है। अनेकांत उसका प्राण है। अनेकांत के आधार पर आत्मा व्यष्टि की अपेक्षा से अनेक और समष्टि की अपेक्षा से एक है। यह सापेक्ष दृष्टि है। आगम वाणी में उपनिषद् का एकात्मवाद और सांख्य का अनेकात्मवाद दोनों समाहित हैं।

भगवती^{१८} सूत्र का प्रसंग इसका प्रमाण है। सोमिल ब्राह्मण ने पूछा- भंते ! आप एक हैं या दो ? आप अक्षय-अव्यय हैं या अनेक भूत भावों से भावित हैं ? महावीर ने जो उत्तर दिया, वह विभज्यवाद का सूचक है। उन्होंने कहा—सोमिल ! मैं एक भी हूं, दो भी हूं। अक्षय-अव्यय भी हूं, अनेक भूत भाव से भावित भी हूं। द्रव्यत्व की अपेक्षा से एक हूं। उपयोग गुणयुक्त होने से दो भी हूं। उपयोग ज्ञान-दर्शन रूप है। आत्मा से संपृक्त है। इस दृष्टि से ज्ञाता एवं दृष्टा रूप दोनों हूं।

इसी सूत्र के नवमें शतक में जीव नित्य है या अनित्य—प्रश्न किया गया है। महावीर ने कहा— जीव नित्यानित्य है, जीव का अस्तित्व त्रिकालवर्ती है, इसलिये वह नित्य है, शाश्वत है। दूसरे पक्ष में जीव अनित्य है क्योंकि नारक, देव, मनुष्य और तिर्यश्च आदि अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहता है। वस्तु का समग्र बोध करने के लिये उसके दोनों पक्षों को समझना होता है। अनेकांत रूप चिंतन में जीव नित्यानित्य है, शाश्वत-अशाश्वत रूप है।

जीव सांत है तो अनंत भी है। द्रव्य-क्षेत्र की अपेक्षा से सांत है। काल-भाव की अपेक्षा से अनंत है।

आत्मा मूर्त-अमूर्त रूप है। स्वभाव से अमूर्त है लेकिन कर्म संयुक्त संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त है। शुद्ध द्रव्य के रूप में आत्मा स्वयं ज्ञान रूप है, ज्ञाता है। अशुद्ध द्रव्य के रूप में कर्म से आबद्ध आत्मा विविध रूपात्मक है।

जीव का उद्गम कैसे ?

जीव का उद्गम कब से है ? उत्पत्ति कैसे हुई ? कहां से हुई ? ये प्रश्न आज भी मन-मस्तिष्क में रहस्य बने हुए हैं। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने अपने-अपने ढंग से इन पर चिंतन किया है।

ईश्वरवादियों ने इसे ईश्वर की कला माना है। सांख्यदर्शन में प्रकृति-पुरुष का संयोग इसका कारण है। लोकायत मतानुसार पांच भूतों के संयोजन से आत्मा का अस्तित्व सामने आया और इनके विलय के साथ ही आत्मा की समाप्ति हो जाती है।

उपनिषद् में कहा— ब्रह्म ने अग्नि, समिधा, सूर्य-सोम, पृथिवी, औषधियों आदि का निर्माण किया। औषधियों से वीर्य और वीर्य से विभिन्न प्राणियों की सृष्टि हुई।

जैन दर्शन जीव को अनादि-निधन मानता है। जीव की सत्ता अनादि है। तब जीवोत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। जीवोत्पत्ति का जो क्रम है वह संसारी जीवों का अवस्थान्तर है।

सत्य शोध की दो दृष्टियाँ हैं—दार्शनिक और वैज्ञानिक। हम दोनों दृष्टियों से विचार करेंगे। दार्शनिक दृष्टि से भगवती का प्रसंग मननीय है। प्रश्न है—जीव पहले बना या अजीव? लोक पहले बना या अलोक? इन प्रश्नों का उत्तर मुर्गी और अण्डे के उदाहरण से दिया गया है। अण्डे से मुर्गी पैदा हुई या मुर्गी से अण्डा? इन दोनों में कोई क्रम नहीं बनता। अपश्चानुपूर्वी कहकर शास्त्रकारों ने प्रश्न को समाहित किया है। क्योंकि ये शाश्वत हैं। शाश्वत में पहले-पीछे का क्रम नहीं बनता।

मुर्गी से अण्डा या अण्डे से मुर्गी—यह कार्य-कारण सम्बन्ध है और त्रिकालवर्ती है। जैसे-बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज की शाश्वत परम्परा है।

तथागत बुद्ध के सामने भी ऐसे प्रश्न उपस्थित हुए थे किन्तु उन्होंने उच्छेदवाद एवं एकान्त शाश्वतवाद से बचने के लिये अव्याकृत और असमीचीन कहकर टाल दिया। महावीर ने कहा—अवक्तव्यता भी निरपेक्ष नहीं है, सापेक्ष ही है। जो अवाच्य है, वह वाच्य भी है। जो वाच्य है, वह अवाच्य भी है। उसमें वाच्यता एवं अवाच्यता दोनों ही सापेक्ष रूप में निहित हैं।

जमाली ने भी लोक एवं जीव की शाश्वतता का प्रश्न उठाया था। महावीर ने कहा—जमाली ! 'जीव और लोक कदापि नहीं था, नहीं है और नहीं रहेगा'—ऐसी बात नहीं। वे नित्य-अनित्य दोनों हैं। द्रव्य दृष्टि से शाश्वत हैं। पर्याय या भाव दृष्टि से अशाश्वत।^{१९}

निष्कर्ष है—जीव का अस्तित्व, जीव का स्वरूप और जीवोत्पत्ति का आदि बिन्दु सर्वज्ञ द्वारा भी अवक्तव्य है। आत्मा को अनादि मानने वालों के

लिये कोई समस्या नहीं, न उत्पत्ति के बारे में सोचने की अपेक्षा है। अनादि नहीं माना उनके विचार भिन्न-भिन्न हैं।

वैज्ञानिक जगत में जीव का बीजाणु कहां से आया ? यह प्रश्न चर्चनीय है। वैज्ञानिकों ने खोजा तो पाया कि डी.एन.ए. आदि स्रोत है। इसके उद्भव के साथ ही जीवन का उद्भव हुआ। जीव द्रव्य (Protoplasm), जिसके मध्य भाग में केन्द्रक (Nucleous) होता है, केन्द्रक में स्थित गुण-सूत्रों को निर्मित करने वाले महा रसायन डी.एन.ए. (Deoxyribo Nucleic Acid) में निहित हैं। सभी क्रियाओं का यह नियामक है। यह अमीबा से लेकर आदमी तक—सबकी कोशिकाओं में विद्यमान है। यही पैतृक संस्कारों का संवाहक है।

वैज्ञानिक अवधारणा से पृथ्वी के वायुमंडल में जैसे-जैसे परिवर्तन आता गया वैसे-वैसे अधिक विकसित जीवों का विकास होता गया। एककोषीय जीवों में से बहुकोषीय जीव अस्तित्व में आये। अमीबा एककोषीय प्राणी है। पहले अमीबा की उत्पत्ति हुई फिर उत्तरोत्तर अधिक विकसित जीवों का विकास। इस क्रम से जीव-सृष्टि का निर्माण हुआ। अन्ततः अरबों कोषों द्वारा मानव देह बनी। कोष चेतना की प्रथम इकाई है। प्रोटीन, पोटेशियम, कार्बोहाइड्रेट, मेग्नेशिया, लोह के क्षार कोष के रासायनिक घटक द्रव्य हैं। फलतः चैतन्य विविध रासायनिक प्रक्रियाओं का ही सर्जन है।

डी.एन.ए. के निर्माण में 'पोली एन्जाइम' की अपेक्षा है। यहां प्रश्न होता है कि पहले डी.एन.ए. हुआ या एन्जाइम ? वैज्ञानिकों का उत्तर है कि दोनों एक साथ हुए। कैसे हुए ? संयोगवश। इसका कोई प्रमाण नहीं।

जड़ से चेतन की निष्पत्ति की मान्यता रखने वाले के अनुसार भी आत्मा रासायनिक एवं भौतिक शक्तियों का संश्लिष्ट समूह है।^{८०} रसायनशास्त्री सर हेनरी, रस्की, हक्सले, जड़-विज्ञान के प्रवक्ता टिण्डल, वर्गसां, डार्विन आदि विज्ञानविद् जीवागम की समस्या का समाधान देने में असफल ही रहे हैं।

जैन दर्शन का अपना अभिमत है, विज्ञान भले एमिनो एसिड, प्रोटीन आदि बना देगा किन्तु वह एक प्राथमिक कोशिका भी बनाने में समर्थ नहीं है। अतः चेतना अनादि है। जैसे कोई कारखाना टेलीविजन सेट उत्पन्न करता है। वह टी.वी. सेट कार्य तभी करेगा जब टेलीविजन केन्द्र से प्रसारित टेलीविजन तरंग उसमें प्रवेश करेगी। टी.वी. सेट, चित्र एवं ध्वनि के द्वारा उस सेट को सजीव बनाने वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का जैसे स्वतंत्र अस्तित्व है उसी प्रकार विविध जीव-सृष्टि के शरीर में अभिव्यक्त चेतना का स्वतंत्र अस्तित्व है।

हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार—‘जीव एक मौलिक तत्त्व है। वह अजैविक तत्त्व की उपज नहीं है और न उसका अजीव तत्त्व में अन्तर्भाव हो सकता है।’^{८१}

वैज्ञानिक जीवन की अभिव्यक्ति योग्य परिस्थिति, योनि के स्थान का अभियोजन कर सकता है। परखनली, क्लोनिंग का उदाहरण प्रत्यक्ष है किन्तु जीव सृष्टि के देह की रचना, सजीव बीज के बिना केवल रासायनिक घटकों से असंभव है। अतः चेतना की उत्पत्ति का प्रश्न निराकरणीय है।

आत्मा की व्युत्पत्ति

आत्मन् शब्द अनेक धातुओं से निष्पन्न है। उत्तराध्ययन सूत्र के टीकाकार ने ‘अतति-सन्ततंगच्छति शुद्धि संक्लेशात्मक परिणामान्तराणी-त्यात्मा’ अर्थात् जो विविध भावों में परिणत होती है, वह आत्मा है।^{८२}

द्रव्य संग्रह के टीकाकार ने आत्मा शब्द की विस्तार से परिभाषा दी है—‘अत’ धातुः सातत्य गमनेऽर्थे वर्तते। गमन शब्देऽनात्रज्ञानंभण्यते ‘सर्वेगत्यार्था ज्ञानार्था इति वचनात्’ तेन कारणेन यथा संभवं ज्ञान-सुखादि गुणेषु आ समन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा भण्यते। अथवा शुभाशुभ मनोवचनकाय व्यापारैर्यथासंभवं तीव्रमंदादि रूपेण आ समन्तादतति वर्तते यः स आत्मा। अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ये रासमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा।’^{८३} अर्थात् अत धातु का प्रयोग गमन अर्थ में होता है। यहां गमन शब्द ज्ञानार्थक है क्योंकि सभी गत्यर्थक धातुएं ज्ञानार्थक होती हैं, इसलिये ज्ञान, सुखादि गुणों में सम्यक् रूप से विद्यमान रहनेवाला आत्मा है। अथवा शुभाशुभ रूप मन-वचन-काया के जो व्यापार हैं, उन्हें सम्पादित कर यथासंभव तीव्र या मन्द रूप से जो वर्तता है, वह आत्मा है। प्रकारान्तर से यों भी कहा जा सकता है कि उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों द्वारा जो परिपूर्ण विद्यमान है वह आत्मा है।

शंकराचार्य ने कठोपनिषद् के आधार पर ‘आत्मा’ शब्द पर लिखा है—

यदाप्नोति यदादत्ते विषयान्निह॥

यच्चास्यः सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

अर्थात् आत्मा वही है जो सब जगह व्याप्त है। सबको अपने में धारण करता है। विषयों का उपभोक्ता है तथा निरंतर जिसकी सत्ता विद्यमान रहती है। यहां पर ‘आप्तु व्याप्तौ’ आइ उपसर्गपूर्वक ‘दाञ् दाने’, ‘अद्-भक्षणे’ एवं ‘अतः सातत्य गमने’ आदि चार धातुओं से आत्मा शब्द की सिद्धि मानी है।

महर्षि यास्क ने भ्वादिगणीय अत-सातत्यगमने^{८४}, एवं स्वादिगणीय 'आप्लृ व्याप्तौ'^{८५}, धातु से निष्पन्न माना है। 'आत्मा अततेर्वा आप्तेर्वा'^{८६} आत्मा सतत गतिमान् एवं सर्व व्यापक होती है। अदादिगणीय 'अन् प्राणये'^{८७} धातु से आत्मा की सिद्धि होती है।

अनिति प्राणान् धारयतीति आत्मा^{८८}—जो प्राणों को धारण करे वह आत्मा है। अत्यते लभ्यते मुक्तैरित्यात्या^{८९}—जो मुक्त पुरुषों द्वारा प्राप्त किया जाता है वह आत्मा है”। (साभार तुलसी प्रज्ञा से उद्धृत, पृ. ३१५)।

आत्मा के अभिवचन

जीव की जितनी अवस्थाएं हैं, वे सब पर्याय हैं। पर्याय के आधार पर आत्मवाची अनेक शब्दों का जैन वाङ्मय में उल्लेख प्राप्त है। भगवती सूत्र में तेईस नामों का निरूपण है—^{९०}

‘गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पन्नत्ता, तंजहा—जीवे तिवा, जीवत्थिकाये ति वा, पाणे ति वा, भूए ति वा, सत्ते ति वा, विन्नु ति वा, चेया ति वा, जेया ति वा, आया ति वा, रंगणा ति वा, हिंडुए ति वा, पोग्गले ति वा, माणवे ति वा, कत्ता ति वा, विकत्ता ति वा, जए ति वा, जंतु ति वा, जोणी ति वा, संयंभू ति वा, सशरीरी ति वा, नाणए ति वा, अंतरप्पा ति वा, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते जाव अभिवयणा।”

इन अभिवचनों से जीव सम्बन्धी अनेक तथ्यों की अवगति मिलती है। सभी गुण संपन्न और यथार्थ नाम हैं। टीका ग्रंथों में जीव, प्राण, सत्त्व शरीरभृत् और आत्मा को एकार्थक माना है।^{९१}

ध्वला में आत्मा को अनेक नामों से अभिहित किया है^{९२} — जीव, कर्ता, वक्ता, प्राणी, भोक्ता, पुद्गल, वेत्ता, विष्णु, स्वयंभू, शरीरी, मानव, सक्ता, जन्तु, मानी, मायावी, योग सहित, क्षेत्रज्ञ आदि।

जैन दर्शन की तरह पुराण, वेदान्त, उपनिषद् आदि तथा अन्य भाषाओं में भी आत्मा के पर्यायवाची नामों का उल्लेख है।

महापुराण में वर्णित—जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी आदि भी समान अर्थ के द्योतक हैं।^{९३}

अद्वैत वेदान्त में आत्मा एक मौलिक तत्त्व है। इसे अनुभव, ज्ञान, चित्त और संवित्त नाम से जाना जाता है।

अनुभवः—प्रत्येक व्यक्ति को अनुभव होता है। 'मैं हूँ' मैं काला हूँ, या गोरा हूँ। मैं जाता हूँ। मैं सोचता हूँ। इससे आत्मा का सहज बोध होता है।

ज्ञानः—यह ज्ञान और ज्ञाता स्वरूप है, इसलिये आत्मा को ज्ञान कहा है। ज्ञान से ज्ञाता, दृष्टि से द्रष्टा अभिन्न होता है। ज्ञेय पदार्थ के आविर्भूत होने पर ज्ञान ही ज्ञाता रूप में बन जाता है।

चित्तः—दैनिक जीवन की तीन अवस्थाएँ हैं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्त। इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा की उपस्थिति बनी रहती है। वही आत्मा का रूप है। आत्मा चेतना स्वरूप होने से उसे 'चित्त' कहा है।

संवित्तः—आत्मा स्व प्रकाश्य है। ब्रह्म से अभिन्न है, इसलिये उसे संवित्त कहा है।

इस प्रकार उपनिषदों में भी आत्मा के कई पर्याय उपलब्ध हैं। जैसे—'छान्दोग्योपनिषद् में आत्मा शब्द के लिये, सुतेजा, वैश्वानर (५.१२।१), विश्वरूप (५।१३।१), सत्य (६।८।७, ६।९।४), मन (७।३।१), चित्त (७।५।२), ब्रह्म, अमृत (८।१४।१) आदि शब्दों का प्रयोग है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में आकाश (१।७।१, २।२।१), योग (२।४।१), आनंद (२।५।१), बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म (२।४।६, १९), पुरुष (२।५।१४), आकाश (३।२।१३), अन्तर्यामी, अमृत (३।७।३), प्राज्ञ (४।३।२१), अविनाशी (४।५।१४)।' (साभार तुलसी प्रज्ञा से उद्धृत, पृ. ३१६)।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में अनन्त, विश्वरूप, अकर्ता (१।९), सर्वव्यापी (१।१६) आदि शब्दों से अभिहित किया है। उपनिषदों^{१४} में जीव को वैयक्तिक आत्मा (Individual Self) तथा आत्मा को परम आत्मा (Supreme Self) के रूप में कहा गया है। जो एक ही शरीर की हृदय गुहा में निवास करती है।

ऋग्वेद^{१५} में मन, आत्मा एवं 'असु' शब्द का प्रयोग चेतन तत्त्व के लिये किया है। अभिधान चिंतामणी^{१६} शब्द कोश में आत्मा के लिये क्षेत्रज्ञ 'आत्मा' पुरुष, चेतन शब्द तथा जीव के लिये भवि, जीव, असुमान्, सत्त्व, देहभृत्, जन्तु, जंतु आदि का व्यवहार किया है।

स्थानांग^{१७} में प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व शब्दों की संगति जीव अर्थ में मिलती है।

व्यवहार में भी पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व, चेतना, ज्ञानी, पुरुष आदि। इनकी निर्युक्ति से भिन्न अर्थ-पर्यायों

का बोध होता है। जीव के जितने भी अभिवचन हैं उनमें अर्थ भिन्नता मिलेगी। समभिरूढ़ नय की अपेक्षा कोई भी शब्द किसी शब्द का पर्यायवाची नहीं बनता।

अन्य भाषाओं में

उर्दू में रूह, अंग्रेजी में सोल, स्पिरिट—ये अशरीरी चेतन के लिये हैं। सशरीरी के लिये कायनात, सेल्फ, लिविंग, विंग, मनस् आदि पर्याय हैं।

आचार्य कुंदकुंद ने जीव को प्रभु^{१८}, कर्ता, भोक्ता, स्वदेह परिमाण, कर्म युक्त बताया है। उत्थान-पतन का जीव स्वयं उत्तरदायी है। उसके लिये किसी बाहरी व्यवस्था, व्यवस्थापक या नियामक की अपेक्षा नहीं।

‘बंधप्पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव’, आचारांग का यह सूक्त आत्म कर्तृत्व को ही स्पष्ट करता है। कर्मवाद का सिद्धान्त आत्म कर्तृत्व का सिद्धान्त है।

कर्ता रूप में आत्मा का स्वरूप निस्संदेह है क्योंकि वह अपने औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक, पारिणामिक आदि व्यक्ति निर्माता तथा तद्रूप भावों का कर्ता है। कर्ता के साथ भोक्ता^{१९} भी है। सुख-दुःख का अनुभव करता है। स्वदेह परिमाण है।^{१००}

वैज्ञानिक क्षेत्र में आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व पर काफी चिंतन किया गया है। प्राचीनकाल में विज्ञान का अर्थ भूगोल या गणित तक ही सीमित था। सतरहवीं सदी से प्राकृतिक विज्ञान सामने आया। रासायनिक विज्ञान, भौतिक विज्ञान इसी में समाहित हो गये। नये-नये आविष्कारों से विज्ञान की परिधि बढ़ती गई। भौतिकी विज्ञान से हटकर जैविकी विज्ञान की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। स्थूल से सूक्ष्म की ओर कुछ वैज्ञानिकों ने प्रस्थान किया। अंततः स्वानुभूति से इस निर्णय पर पहुंचे कि जड़ से भिन्न एक ऐसी महासत्ता है जो सारे विश्व में कार्य कर रही है।

महान् वैज्ञानिक आईस्टीन ने कहा— मुझे विश्वास होने लगा है, चेतन सत्ता अदृश्य जगत् की सूक्ष्म किन्तु महान् शक्तिशाली सत्ता है।

The Teachers and founders of the religion have all taught and many Philosophers ancient and modern, western and eastern have perceived that this unknown and unknowable is our very self.—हर्वर्ट स्पेन्सर—अर्थात् गुरु, धर्मगुरु, दार्शनिक प्राचीन हो या

अर्वाचीन, पाश्चात्य हो या पौर्वात्य, सबने अनुभव किया है कि वह अज्ञात या अज्ञेय तत्त्व वे स्वयं ही हैं।^{१०१}

भौतिक विज्ञानी, शरीर विज्ञानी, मनोविज्ञानी आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन अनुभूतियों के आधार पर कर रहे हैं। जीव के अस्तित्व का जहां सवाल है वहां विज्ञान और दर्शन एक बिन्दु पर खड़े दिखाई देते हैं। यानी विज्ञान का झुकाव भी आत्मवाद की ओर हो रहा है।

जैन दर्शन में अस्तित्व सिद्धि के ठोस आधार

आगम, आगमोत्तर और दर्शन साहित्य में आत्म-सिद्धि के प्रमाण
प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। अर्हत्तों की वाणी आगम है। समस्त जैन आगम अंग, उपांग, मूल, छेद-ऐसे चार भागों में विभक्त है। अंगों में पहला अंग है-आचारांग। आचारांग का प्रारंभ ही आत्म-जिज्ञासा से होता है। जैसे-वेदान्त का मूल सूत्र है-‘अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।’ यह आत्म सत्ता का मूल सूत्र है। इसी प्रकार उपांग, मूल, छेद, टीका, चूर्णि, प्रकीर्णक, भाष्य, निर्युक्ति आदि में जीव से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री है।

सुख-दुःख की संवेदना से अस्तित्व की सिद्धि होती है। संवेदना का सम्बन्ध केवल शरीर से नहीं, अन्तर अनुभूति से है। अतः शरीर और आत्मा की भिन्नता का बोध होता है।

मनुष्य के शरीर में प्राण-अपान का संचार, श्वास-प्रश्वास का स्पंदन, आंखों की पलकों का गिरना-उठना, देहजन्य घावों का भरना, इच्छानुसार मन को क्रिया में प्रवृत्त करना, प्रिय वस्तु में उत्सुकता, प्रयत्न आदि आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के सूचक हैं।

सोते-जागते प्रत्येक अवस्था में ‘अहम्’ प्रत्यय का बोध भी पृथक् अस्तित्व को सूचित करता है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना होता है। अन्यथा उत्तम पुरुष (First Person) के स्थान पर अन्य पुरुष या मध्य पुरुषवाचक शब्दों का प्रयोग भी संभव है।

संदर्भ सूची

१. यथा चिकित्सा शास्त्रं चतुर्व्यूहम्-रोगा, रोगहेतुः, आरोग्यं, भैषज्यमिति।
एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्। तद्यथा- संसारः, संसार हेतुः, मोक्षो, मोक्षोपायः।
इति व्यास भाष्य २।१५।

२. आचारांग १।१।१।
३. चर्पटमंजरिका, आचार्य शंकर।
४. मु.नि. १।१३। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।
५. क.नि. १।२०। ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीति एके नायमस्तीति।
६. भगवती १।१०।
७. पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्क व्याख्या का विषय प्रवेश, पृ. १।
८. ग्रीक एवं मध्ययुगीन दर्शनों का चिंतन १।२।
९. डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भा. १ पृ. २१।
१०. आयारो १।५। जे आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, क्रियावाई।
११. जैन साहित्य का इतिहास; पूर्व पीठिका पृ. ८।
१२. वृहदारण्यकोपनिषद्, अ. १ ब्रा. ४ श्लो. ७-८।
१३. प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न ४ श्लो. ९।
१४. कठोपनिषद्, अ. १ वल्ली २ श्लो. १८।
१५. वही १।२।२३।
१६. श्वेताश्वतरोपनिषद्, अ. ५ श्लो. ७।
१७. ब्रह्म बिन्दु. उ., पृ. ११।
१८. येनाहं न अमृतां स्याम् किमहं तेन कुर्याम्? वृ. उ. २।४।३।
१९. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दशनिन, श्रवणेन, मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्, वृ. उ., २।४।५।
२०. आचारांग सूत्र, १।१।४।
२१. विशेषावश्यक भाष्य, पृ. ४८३।
२२. कातिकियानुप्रेक्षा, १८३; आचारांग, ५।६०।
२३. विशेषावश्यक भाष्य, पृ. ४८३।
२४. कातिकियानुप्रेक्षा १७८।
२५. सर्वार्थ सिद्धि ५।१९, पृ. २८८
२६. तत्त्वार्थ वार्तिक ५।१९।३८, पृ. ४७३।
२७. विशेषावश्यक भाष्य गणधरवाद, गा. १५५६।
२८. वही, भा. गा. १५५७।
२९. स्याद्वाद मंजरीकारिका १७, पृ. १७४।

३०. वही।
३१. विशेषावश्यक भाष्य, गा. १५६८।
३२. आयारो ५।१३९।
३३. श्वेताश्वतर उप., अ. १ मं. ३। प्रमाणान्तर अगोचरे वस्तुनि प्रकारान्तरम्
अपश्यंतः ध्यानयोग अनुगमेन परम मूल कारणं स्वयमेव प्रतिपेदिरे।
३४. यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। ते. उ. २।४।१।
३५. केनोपनिषद् १।३।
३६. न्याय भाष्य १।१।६।, न्याय मंजरी १४१।१४२।
३७. तत्त्वार्थ वार्तिक २।८।१८, पृ. १२१।
३८. भारतीय दर्शन, भा. २ पृ. ६९२। डॉ. राधाकृष्णन्।
३९. कौषीतकी उ. ४।२०।
४०. कौषीतकी उ. ३५।४।२०। एष प्रज्ञात्मा इदं शरीरमनुप्रविष्टः।
४१. बृहदारण्यक उ. ५।६।
४२. कठोप. उ. २।१२।
४३. छान्दोग्य उ. ५।१८।१।
४४. मैत्र्युपनिषद्, कठोप. उ. १।२।२०। छान्दोग्य उ. ३।१४।३। श्वेता. ३।२०।
४५. तैत्तिरीय उ. १।४।
४६. तर्क भाषा पृ. ४२।
४७. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक पृ. ४०९, राजप्रश्नीय सूत्र १५२।
४८. स्याद्वाद मंजरी पृ. ६९ अष्टस्तस्य सर्वगतत्व साधने प्रमाणाभावात्।
४९. वही, पृ. ६९।
५०. (क) प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ. ५७०।५७१। (ख) प्रमेयरत्न माला पृ. २९२।
(ग) जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. २२६।
५१. स्याद्वाद मंजरी ९।
५२. कार्तिकियानुप्रेक्षा १७७।
५३. न्याय कुमुद चन्द्र पृ. २६४।२६६।
५४. प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ. ५७१।
५५. द्रव्य संग्रह २।
५६. आदि पुराण २४।९२, ३९३।
५७. उत्तर पुराण ६७।५।

५८. ज्ञानार्णव ६।१७।
५९. उत्तराध्ययन सूत्र २०।३७।
६०. श्रावकाचार 'अमितगति' ४।४६।
६१. कार्तिकियानुप्रेक्षा १७८।
६२. प्रवचन सार १।२७।
६३. उवओग लक्खणेणं जीवे। भ. १३।४।४८०।
६४. गुणओ उवओग गुणो ठा. ५।३।५३०।
६५. जीवो उवओग लक्खणो उत्तरा. २८।१०।
६६. नि. चूर्णि ३३३२। यत्रात्मा तत्रोपयोगः यत्रोपयोगस्तत्रात्मा।
६७. उपयुज्यते वस्तु परिच्छेदं व्यापयति जीवोऽनेनेत्युपयोगः।
६८. नवपदार्थ पृ. ६६ अजीव पदार्थ टिप्पणी।
६९. विश्व तत्त्व प्रकाश, पृ. १७४।
७०. वही, पृ. १७५।
७१. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली ३।१०।
७२. कठोपनिषद् ३।१३।
७३. मा.उ. ७।
७४. भग. श. १२ उ. १०।
७५. अध्यात्म तत्त्वालोक पृ. २०।
७६. पाश्चात्य दार्शन, सी.डी. शर्मा।
७७. सर्वार्थ सिद्धि २।१०।१६५।
७८. भगवती. श. १८ उ. १०। गा. २१९।
७९. भ. श. ९ उ. ३३।२३१-२३३।
८०. वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार।
८१. हिस्ट्री ऑफ फिलोसोफी, पृ. ५५१।
८२. संस्कृत धातु कोष, पृ. ६
८३. वही पृष्ठ।
८४. निरूक्त (यास्यकृत) ३।१५।
८५. संस्कृत धातु कोष पृ. ६।
८६. कठोपनिषद् २।१।१। शंकरकृत भाष्य में।
८७. प्रमेय रत्नावली १।७।

८८. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका पत्र ५२।
८९. द्रव्य संग्रह गा. ५७ पर ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका।
९०. भग. २०।१७।
९१. सूत्रकृतांग चूर्णि १ पृ. ३१ नवीन कर्म ग्रंथ टीका पृ. २ और ११२।
९२. धवला १।१।२, ८१-८२, ११८।११९।
९३. महापुराण २४।१०३।
९४. विश्वदर्शन की रूपरेखा, प्र. खंड पृ. ११०।
९५. भारतीय दर्शन का इतिहास (दास गुप्ता) पृ. २६।
९६. अभिधान चिंतामणि (काण्ड६) श्लो. २।३।
९७. स्थानांग स्थान ४ प्राणः द्वि त्रि चतुः प्रोक्ताः भूतास्तु तत्त्वः स्मृताः। जीवाः पंचेन्द्रियाज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वाः उदीरिता।
९८. समयसार (आत्म ख्याति) गा. ५०-५५।
९९. उत्तराध्ययन सूत्र अ. २० गा. ३७।
१००. पंचास्तिकाय, गा. ३३।
१०१. हर्वर्ट स्पेन्सर।

द्वितीय अध्याय

आत्मा का स्वरूप :

जैन दर्शन की समीक्षा

- बौद्ध दर्शन—जैन दृष्टिकोण
- सांख्य दर्शन—जैन दर्शन
- मीमांसा दर्शन—जैन दर्शन
- अद्वैत वेदान्त—जैन दर्शन
- औपनिषदिक चिंतन—जैन दर्शन
- चार्वाक एवं जैन दर्शन
- द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, आस्तिकवादी दर्शन

आत्मा का स्वरूप : जैन दर्शन की समीक्षा

अस्तित्व-बोध के बाद, आत्मा के स्वरूप का प्रश्न उठता है। जब हम किसी विषय का विमर्श करते हैं तो अस्तित्व का प्रश्न अहंभूमिका पर होता है। दूसरे नंबर पर स्वरूप की चर्चा है। आत्मा के स्वरूप को भारतीय मनीषियों ने विविध रूपों से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है क्योंकि आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप का ज्ञाता ही आत्मवादी हो सकता है।

जैन दर्शन ने आत्मा के लक्षण और स्वरूप की अभिव्यक्ति में व्यावहारिक और पारमार्थिक—दोनों दृष्टियों का प्रयोग किया है—

आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है। आत्मा का अस्तित्व ध्रुव है। “से ण छिज्जइ, ण भिज्जइ, ण उज्जइ, ण डम्मइ।”^१ आत्मा किसी के द्वारा न छेदा जाता है, न भेदा जाता है, न जलाया जाता है, न मारा जाता है।

आचारांग चूर्णि में—“सव्वे सरा णियट्ठंति, तक्का जत्थ ण विज्जई, मई तत्थ ण गाहिया।”^२ शब्द के द्वारा आत्मा प्रतिपाद्य नहीं है, तर्कगम्य नहीं है और मति के द्वारा ग्राह्य नहीं है। यहां स्वर के स्थान पर प्रवाद शब्द प्रयुक्त है। सभी प्रवाद वहां से लौट आते हैं। आत्मा तक नहीं पहुंच पाते। अमूर्त आत्मा शब्दों, तर्कों का विषय नहीं बनता।

‘तं पडुच्च पडिसंखाए’ ज्ञान के परिणाम उत्पन्न और विलय होते हैं। ज्ञान की विविध परिणतियों की अपेक्षा आत्मा का व्यपदेश होता है।^३ यदि ज्ञान और आत्मा का अभेद सम्मत है तो फिर ज्ञान की अनेकता से आत्मा की भी अनेकता हो जायेगी क्योंकि ज्ञान के अनंत पर्यव हैं।

इस जिज्ञासा को समाहित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—यह आत्मा जिस-जिस ज्ञान में परिणत होती है वह वैसी ही बन जाती है। इसलिये आत्मा उस ज्ञान की अपेक्षा व्यपदिष्ट होती है। भेदात्मक दृष्टि से आत्मा साध्य है, ज्ञान साधन है। अभेदात्मक व्याख्या में विज्ञाता और आत्मा का एकत्व है।

आत्मा के निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों स्वरूप ज्ञेय नहीं हैं। प्रश्न उठता है, फिर आत्मा को कैसे जानें ? इसका उत्तर आचारांग दे रहा है—‘उवमा

ण विज्जई' आत्मा के लिये कोई उपमा नहीं जिससे स्वरूप बताया जा सके। सूत्रकार कहते हैं^४— आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमंडल है। वह शरीरमान् नहीं, जन्म धर्मा नहीं, लेपयुक्त नहीं, स्त्री नहीं, नपुंसक नहीं। वह ज्ञाता के स्वरूप में अवस्थित है। वह अमूर्त है। सूक्ष्मतम है। वह परिज्ञ है। पदातीत है। इन्द्रियों का विषयभूत जगत् तीन आयामी— ऊंचा, नीचा, तिरछा है। आत्मा सभी आयामों से अतीत है।

‘परिणो सणो’^५ वह परिज्ञ है, सर्वतः चैतन्य है। साधारण मनुष्य इन्द्रियों के एक भाग से जानता है, किन्तु निरावरण आत्मा सर्वतोभाव से जानता है। ‘जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया’^६ जो आत्मा है वह ज्ञाता है, जो ज्ञाता है वह आत्मा है। जिस साधन से आत्मा जानती है वह ज्ञान आत्मा है। आत्मा द्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है। द्रव्य से गुण भिन्न है या अभिन्न? इस जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार के शब्दों में— जो आत्मा है वह विज्ञाता है। इसका आशय, आत्मा ज्ञानशून्य नहीं है। चूर्णिकार का अभिमत भी यही है कि कोई भी आत्मा ज्ञान-विज्ञान से रहित नहीं है। जैसे उष्णता से रहित अग्नि का अस्तित्व नहीं है।

भगवती का संवाद इसका साक्ष्य है। गौतम ने पूछा— भंते ? आत्मा जीव है अथवा चैतन्य जीव है ? महावीर—गौतम! आत्मा नियमतः जीव है। चैतन्य भी नियमतः जीव है। जिस साधन से आत्मा जानती है वह ज्ञान भी जीव है।

भगवती में लिखा है— आत्मा अनादि-निधन, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव, नित्य है।^७ उत्तराध्ययन में—‘नो इंदियगेज्झ अमुत्त भावा’। ‘नत्थि जीवस्स नासुत्ति’ उत्तराध्ययन^८ का सूत्र आत्मा के अमरत्व का सूचक है। जीव का कभी नाश नहीं होता।

दशवैकालिक निर्युक्ति में—‘णिच्चो अविणासी सासओजीवो’^९ आत्मा नित्य, अविनाशी और शाश्वत है।

उपनिषदों में आत्मा के प्रतिपादक जो सूत्र हैं, उनका इन सूत्रों से काफी साम्य है। उपनिषद् में ब्रह्मा के आनन्द विज्ञान के विषय में ऐसा ही निरूपण है—

यतो वाचा निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।

आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्, न विभेति कदाचन।।^{१०}

अर्थात् जहां से मन और वाणी उसे पाये बिना ही लौट आते हैं, उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला पुरुष कभी भय को प्राप्त नहीं होता।

“नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा”^{११}

“नैषा तर्केणमति रापनेया”^{१२}

“न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः”^{१३}

“नैष स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः”^{१४}

आचारांग में ऐसा ही समानार्थक सूत्र है— ण इत्थी न पुरिसे ण अस्महा।^{१५} यहां व्यतिरेक पद्धति का आलम्बन लिया है।

आत्मा का स्वरूप सत्य, ज्ञान, आनन्दमय है। आचारांग और उपनिषद् मानो दोनों एक रेखा पर चल रहे हैं।

सत्य स्वरूप- तत्सत्यं स आत्मा^{१६}, सत्यमात्मानम्।^{१७} एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्^{१८}, सत्यं ब्रह्मेति, सत्यं ह्येव ब्रह्म।^{१९} प्रश्न व्याकरण में भी सत्य को ही भगवान कहा है (सच्चं भयवं)।

आनन्द स्वरूप-विज्ञानमानन्दं ब्रह्म^{२०}, आनन्द आत्मा।^{२१} आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्^{२२}

ज्ञान स्वरूप- प्रज्ञान घन एव।^{२३}

इसका प्रतिपाद्य यह है— आत्मा भी जीव है। चैतन्य भी जीव है। जिस साधन से आत्मा जानती है वह ज्ञान भी आत्मा है।

उपनिषद् आत्मा के स्वरूप को अनेक प्रमाणों से उद्घाटित करते हैं—

न जायते-प्रियते वा विपश्चित्, नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।^{२४}

अर्थात् न किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुआ है और न स्वतः ही बना है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। तथा शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं नहीं मरता। गीता में इसका विस्तार से वर्णन है।^{२५}

छान्दोग्योपनिषद् में आत्मा के स्वरूप का निरूपण एक वार्तालाप के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

सुरेन्द्र इन्द्र और असुरेन्द्र विरोचन—दोनों प्रजापति के पास उपस्थित हुए। आत्म-ज्ञान के लिये जिज्ञासा व्यक्त की। प्रजापति ने कहा— प्रथम ३२ वर्षों तक साधना करनी होगी तब कहीं तुम्हें समाधान मिलेगा।

आदेश की क्रियान्विति हुई। अवधि समाप्त होते ही पुनः उपस्थित हुए।

प्रजापति—एक-दूसरे की आँखों में, पानी में तथा दर्पण में देखने से जो कुछ दिखाई देगा, वही आत्मा है।

इस समाधान से विरोचन समाहित हो गया किन्तु इन्द्र का मन आशंकाओं से भर उठा। मन में सोचा, आँख आदि में देखने से जो शरीर का प्रतिबिम्ब पड़ता है। शरीर में कुछ कमी होगी तो क्या आत्मा में नहीं होगी? यदि शरीर नष्ट हुआ तो आत्मा भी नष्ट हो जायेगी? यह प्रश्न बार-बार अन्तर्मन को कुरेद रहा था। पुनः आशंका व्यक्त की।

प्रजा:— जो स्वप्नों में विचरण करता है, वह आत्मा है। इन्द्र का मन फिर भी आश्वस्त नहीं हुआ। क्योंकि स्वप्नों में विहरण करने वाला शरीर की कमियों से भले प्रभावित न हो पर स्वप्नों का असर अवश्य होगा।

प्रजापति ने तीसरी बार समाहित करते हुए कहा—जो स्वप्नरहित गहरी नींद का आनन्द लेता है वही आत्मा है।

यह परिभाषा भी इन्द्र को मान्य नहीं हुई। कारण—गहरी नींद ऐसी स्थिति है, जिसमें वह न कुछ देख सकता है, न अनुभूति कर सकता है। यह शून्यता की स्थिति है। प्रवृत्ति मात्र इसमें बंद रहती है। इन्द्र की जिज्ञासा शांत नहीं हो सकी।

प्रजापति इन्द्र की जिज्ञासा एवं योग्यता से काफी प्रभावित थे। अन्ततः उत्तर दिया—शरीर, स्वप्न में विहरण करने वाला, गहरी नींद का आनन्द लेने वाला, इनमें से कोई भी आत्मा नहीं है। आत्मा, जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति का आधार अवश्य है, किन्तु इनसे परे है वही आत्मा है। यह सबसे बड़ा विषयी है जो कभी विषय नहीं बनता।

इन्द्र की तरह न जाने कितने चिंतकों के मन को इस प्रश्न ने आन्दोलित एवं तरंगित किया है। फलतः अनुसंधान हुआ। निष्कर्ष सामने आया कि अन्नमय आत्मा, जिसे शरीर कहते हैं, रथ के समान है। उसका संचालक रथी ही वास्तविक आत्मा है।^{२६}

इससे विदित हो गया कि आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। आत्मा प्रकाश रूप है। ज्योति स्वरूप है।^{२७} नित्य है। चिन्मात्र है।

जैन दर्शन के समान ही कठोपनिषद्^{२८}, मुण्डकोपनिषद्^{२९}, माण्डूक्योपनिषद्^{३०}, वृहदारण्यकोपनिषद्^{३१}, केनोपनिषद्^{३२}, ब्रह्मविघ्नोपनिषद्^{३३}, श्वेताश्वतरोपनिषद्^{३४}, सुबालोपनिषद्^{३५}, और भागवत

गीता^{३६} आदि में भी आत्मा को अछेद्य, अभेद्य, अक्लेद्य, अहन्तव्य माना गया है।

जैन दर्शन में प्रत्येक वस्तु को अनन्त धर्मात्मक स्वीकार किया गया है। उसका समग्रता से स्पर्श करने वाला ज्ञान प्रमाण और विषय के किसी एकांश तक सीमित रहने वाला ज्ञान नय कहलाता है। नय को स्वतंत्र रूप से प्रमाण न कहकर प्रमाणांश कहा है।

नय दो प्रकार का है—निश्चय और व्यवहार। आत्मा के स्वरूप का विवेचन दोनों नयों से किया गया है। निश्चय नय से आत्मा का स्वरूप है—स्वयंभू, ध्रुव, अमूर्तिक, निरपेक्ष, अजर, अमर, अविनाशी, अव्यक्त, अचल, वर्ण-गंधादि से मुक्त, स्वाश्रित, सत्-चित्-आनन्दमय, अतीन्द्रिय, अनादि-निधन।

नियमसार^{३७}, समयसार^{३८}, इष्टोपदेश^{३९}, परमात्म-प्रकाश^{४०}, आत्मानुशासन^{४१}, तत्त्वसार^{४२} आदि में जैनाचार्यों ने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निश्चय नय से विवेचन किया है।

व्यवहार नय से आत्मा शुभाशुभ कर्म का कर्ता और सुख-दुःखादि फलों का भोक्ता है।

आत्मा एक स्वतंत्र अस्तित्व है। अस्तिकाय है। असंख्यात चैतन्यमय प्रदेशों के संघात का नाम आत्मा है। आत्मा अस्तिकाय है और उसके भी प्रदेश हैं। महावीर की यह बिल्कुल नई एवं मौलिक स्थापना है। आत्मा का मौलिक स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता।

दैनिक घटनाओं के अन्वीक्षण-परीक्षण से यह तथ्य और ज्यादा स्पष्ट हो जाता है। ऑक्सीजन, हाइड्रोजन का सम्मिश्रण जल है, वह ०/१०० डिग्री तापमान पर वाष्प बनता है। अत्यधिक शैत्यता में मेघ बनकर कार्बन (Carbon), नाइट्रोजन (Nitrogen) आदि तत्वों से संपृक्त हो वर्षता है। फलों के मधुर रस में परिणमन करता है। फल भोग्य बनकर शरीर में रक्त-मज्जा आदि सात धातुओं में रूपान्तरित हो जाता है। उसका द्रव्यत्व सुरक्षित है। रूपान्तरित होने पर भी द्रव्यत्व का आत्यन्तिक विनाश नहीं, केवल अभिधाएं बदलती हैं। यह पदार्थ की महत्ता की अभिव्यंजना है। इसके अस्वीकार से विश्व-व्यवस्था विघटित हो जाती है।

आत्मा के स्वरूप-सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों में कुछ मतभेद हैं। अतः उनके सिद्धान्तों की मीमांसा और समीक्षा भी कर लेना अपेक्षित है। मूल रूप से छह विचारधाराओं का अस्तित्व आचार्य हरिभद्र ने मान्य किया है—बौद्ध,

न्याय, सांख्य, वैशेषिक, मीमांसक और जैन।^{४३} डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने नामान्तर से छह दर्शनों को मान्यता दी है— न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा।

बौद्ध दर्शन की अवधारणा—जैन दृष्टिकोण

बौद्ध दर्शन में आत्मवाद का सिद्धांत क्षणिकवाद या अनित्यवाद पर टिका है। क्षणिकवाद को भी कार्य-कारण सिद्धांत, प्रतीत्य समुत्पाद के द्वारा सिद्ध किया है। क्षणिकवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। आत्मा के अस्तित्व को वस्तुसत्य नहीं, काल्पनिक संज्ञा मात्र माना है। क्षण-क्षण में विलय और उत्पाद होने वाले विज्ञान एवं रूप का संघात, संसार यात्रा के लिये पर्याप्त है। इनसे परे आत्मा का अस्तित्व नहीं है।

बुद्ध ने अपनी चिन्तन प्रणाली के प्रारंभ से ही तत्त्व मीमांसीय प्रश्नों को अव्याकृत घोषित कर दिया। बारह प्रश्नों का समाधान असंभव तथा व्यावहारिक दृष्टि से व्यर्थ समझा। जैसे—

१. क्या लोक शाश्वत है ?, २. क्या अशाश्वत है ?, ३. क्या लोक सांत है ?, ४. क्या अनन्त है ?, ५. क्या आत्मा-शरीर एक हैं ?, ६. क्या आत्मा शरीर से भिन्न है ?, ७. क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता है ?, ८. क्या पुनर्जन्म नहीं होता है ?, ९. क्या पुनर्जन्म होना, न होना—दोनों बातें असत्य हैं ?, १०. प्रकृति किस प्रकार स्थित है ?, ११ आत्मा नित्य है या अनित्य ?, १२. ईश्वर है या नहीं ? वच्चागोत के इन प्रश्नों पर बुद्ध मौन रहे। वह अपने स्थान पर लौट गया।

आनन्द ने पूछा—प्रभो ! आपने वच्चागोत के प्रश्नों का उत्तर क्यों नहीं दिया ?

बुद्ध ने कहा—आनंद ! मौन रहने का कारण था। ‘आत्मा है’ कहने से श्रमणों-ब्राह्मणों के सिद्धांत को बल मिलता लोग शाश्वतवादी बन जाते। यदि कहूं कि ‘आत्मा नहीं है।’ तो उच्छेदवाद का समर्थन होता है। दोनों का निराकरण करने के लिये मौन रहा। बुद्ध मध्यममार्ग के समर्थक रहे हैं। एकान्त शाश्वतवाद या एकांत उच्छेदवाद उन्हें मान्य नहीं था। ये दोनों दो छोर हैं। इसलिये अव्याकृत कहकर अपने को अलग रखा।

आत्मा के शाश्वत स्वरूप के विषय में बुद्ध सर्वत्र मौन परिलक्षित होते हैं।^{४४} आत्मा को केवल शरीर घटक धातुओं का समुच्चय मात्र माना है। इससे भिन्न आत्मा की कोई परमार्थ सत्ता नहीं है।

अनात्मवाद को सिद्ध करने वाला एक प्रसंग उल्लेखनीय है। अग्निवेश गोत्री सच्चक साधु ने तथागत से पूछा—आप शिष्यों को किस प्रकार की शिक्षा देते हैं ? तथागत—मैं रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, अनित्य दुःख और अनात्म की शिक्षा देता हूँ। प्रतीत्य समुत्पाद में कार्य-कारण के सिद्धांत को विश्लेषित करते हुए कहा— सभी वस्तुएं परिवर्तन धर्मा हैं। अनित्य हैं। आत्मा भी अनित्य है। कारण की सत्ता पर कार्य का अस्तित्व है। यदि कारण की परम्परा का निरोध कर दिया जाये तो अपने-आप चलने वाली मशीन की तरह कार्य स्वतः निरोध हो जायेगा। मूल कारण है— अविद्या। यही दुःख की जनक है।

अविद्या से संस्कारों की उत्पत्ति होती है। संस्कारों से चेतना का, चेतना से नाम-रूप, नाम-रूप से पांच इन्द्रिय और मन, इनसे संपर्क, संपर्क से संवेदना, संवेदना से उत्कट अभिलाषा, तृष्णा से आसक्ति, आसक्ति से क्रियमाणता तथा उससे जन्म, जरा, मृत्यु, शोक, रुदन, दुःख, विषाद, निराशा आदि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अविद्या समस्त दुःख समुच्चय की निदान है। अविद्या का विनाश, दुःख समुच्चय का विनाश है।^{४५}

समीक्षा

बुद्ध ने मानसिक अनुभव तथा विभिन्न प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है किन्तु आत्मा को रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—इन पांच स्कंधों से भिन्न पदार्थ नहीं माना। आत्मा एक प्रवाह है। प्रवाह कैसा ? नदी और दीपक के उदाहरण से स्पष्ट किया है। पाश्चात्य यूनानी दर्शनिक ‘हेरेक्लाइटस’ (Hereclitus) ने कहा—हम किसी नदी में दो बार नहीं उतर सकते। कारण—धारा सतत् गतिमान है। जिस पानी में पैर रखा, वह आगे निकल गया। यह कहना गलत होगा कि जिस पानी में पैर रखा उसी में पैर रख रहे हैं। पानी वह नहीं, हमें केवल भ्रम होता है।

दीपक की ज्योति शिखा में भी ऐसा ही प्रतिभासित होता है। एक क्षण में पूर्व लौ का विलय, उत्तर का आविर्भाव है। हमें कुछ प्रतीत नहीं होता किन्तु हर लौ में भिन्नता है। मनुष्य के शरीर में जो प्रवाह है, वही आत्मा है। हर एक व्यक्ति में नाम, रूप, मन और शरीर हैं। शरीर स्थायी पदार्थ नहीं, वैसे मन भी। विचार एवं अवस्थाओं में होने वाले परिवर्तन हमें आकृष्ट करते हैं, कुछ समय बाद विलुप्त हो जाते हैं। अनुभव होता है, कोई स्थिर आत्मा है जो अवस्थाओं को बांधकर रखती है। यह धारणा युक्तियुक्त नहीं है।

१. बौद्ध आत्मा को अनित्य मानते हैं। ऐसी स्थिति में कर्मवाद का सिद्धांत कैसे टिकेगा? कर्ता-भोक्ता में अन्तर होगा। अकृतागम, कृतप्रणाश दोषों से बच नहीं सकते।

इस तर्क का बौद्धों ने इस प्रकार समाधान दिया। कर्मवाद तीन जन्मों के परिवर्तन को मानता है। पूर्वजन्म से वर्तमान, वर्तमान से भविष्य प्रभावित होता है। इसलिये अतीत के संचित कर्म वर्तमान में, वर्तमान जन्म के कर्म भविष्य में, भोग हो जाते हैं। परिवर्तन मात्र मृत्यु के कारण नहीं, वह तो निरन्तर चालू है। जैसे पूर्व क्षण से उत्तर क्षण सम्बन्धित है, वैसे ही पूर्वजन्म से उत्तर जन्म का सम्बन्ध है।

२. आत्मा अनित्य है तो प्रत्यभिज्ञा कैसे संभव होगी? बौद्धों का मानना है कि अतीत और वर्तमान—दोनों ज्ञानों के बीच एकाकारता नहीं, समानता है। समानता के कारण पूर्व ज्ञान को उत्तर ज्ञान में अध्यारोपित कर देते हैं।

३. बौद्ध, जगत् के समस्त पदार्थों को क्षणिक मानते हैं, इससे तो व्यवहार और परमार्थ—दोनों की सिद्धि नहीं की जा सकती।^{४६}

वस्तुओं के क्षणिक होने से किसी क्षण की क्रिया फल दिये बिना ही अतीत के गर्भ में विलीन हो जाती है। इससे कृत प्रणाश आदि दोष आते हैं।^{४७} जब प्राणियों के उत्तरदायित्व का ही अभाव है तब संसार की उत्पत्ति कैसे सिद्ध मानी जाये? मोक्ष के सिद्धांत की भी हानि होती है।

निमित्त और नैमेत्तिक सम्बन्ध भी नहीं बनता। हिंस्य-हिंसक, हिंसा, हिंसाफल का आधार क्या?^{४८} स्मृति और प्रत्यभिज्ञा भी असंभव है। जिस पूर्व क्षण में पदार्थ का अनुभव किया, वह नष्ट हो गया। उत्तर क्षण, जिसने पदार्थ को नहीं देखा, उसकी संस्कार के अभाव में स्मृति नहीं हो सकती। क्योंकि संस्कारों का उद्बोधन ही स्मृति कहलाती है। स्मृति के अभाव में प्रत्यभिज्ञान का अस्तित्व नहीं। प्रत्यभिज्ञान स्मृति और अनुभवपूर्वक ही होता है।^{४९}

स्मृति भंग भी क्षणिकवाद के निरसन के लिये व्यावहारिक प्रमाण है। पदार्थ का स्मरण वही कर सकता है जिसने उसका अनुभव किया है। लौकिक तथा शास्त्रीय—दोनों दृष्टियों से क्षणिकवाद तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

आत्मा कोई स्थायी सत्ता नहीं, बल्कि क्षण स्थायी मानसिक अवस्थाओं का एक क्रम है। किन्तु क्षणिक अवस्थाओं के अस्तित्व मात्र से कोई क्रम नहीं बनता। बिना सूत्र के फूलों की माला बनाना संभव नहीं। जिसमें अर्थ क्रिया हो

वह वस्तु है। क्षणिक आत्मा में क्रम एवं अक्रम—किसी प्रकार की अर्थ क्रिया घटित नहीं होती।

इन सब दोषों का परिहार करने के लिये बौद्धों ने वासना को महत्त्व दिया। पूर्व ज्ञान से उत्तर ज्ञान में उत्पन्न शक्ति को वासना कहते हैं।^{५०}

वासना का क्षण संतति के साथ-साथ ठीक सम्बन्ध नहीं बैठता। स्थायी आधार बिना वह संक्रमणशीलता कैसे सिद्ध मानी जाये? कौनसा पदार्थ आधारभूत बनेगा? ऐसी स्थिति में वासना की कल्पना अनात्मवाद को दार्शनिक त्रुटि से बचा नहीं सकती।

जैन दर्शन को उत्पत्ति और विनाश—दोनों में अन्वय रूप से रहने वाले आत्म द्रव्य की सत्ता स्वीकार्य है।

न्याय-वैशेषिक और जैन:

भारतीय दर्शन परम्परा में चार प्रमुख विचारधाराएं हैं—

१. चार्वाक दर्शन में आत्मा और शरीर एक हैं।
२. बौद्धमत के अनुसार आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है।
३. अद्वैत वेदान्त मत में आत्मा एक है, नित्य है, स्व प्रकाश-चैतन्य स्वरूप है।
४. विशिष्टाद्वैतवाद के आधार पर आत्मा केवल चैतन्य नहीं, बल्कि एक ज्ञाता है।

न्याय-वैशेषिक का दृष्टिकोण वस्तुवादी है। इनके अनुसार आत्मा एक द्रव्य है। बुद्धि, सुख, दुःख, राग-द्वेष, प्रयत्न, इच्छा उसके विशिष्ट गुण हैं।^{५१} आत्मा शरीर से भिन्न स्वतंत्र द्रव्य है।^{५२} मुक्ति में शरीर का अभाव है अतः आगन्तुक चैतन्य गुण का मुक्तात्मा में अभाव होता है।^{५३}

वैशेषिक सूत्र में आत्मा का अस्तित्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। प्राणापान, निमेषोन्मेष, सुख-दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि को आत्मा का लिंग कहा है, इसी से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है।^{५४}

शरीर की तरह इन्द्रिय भी आत्मा नहीं है। कल्पना, स्मृति, विचार आदि मानसिक व्यापार इन्द्रियों के कार्य नहीं हैं। मन भी आत्मा नहीं है इसलिये कि मन अणु है, अप्रत्यक्ष है। मन आत्मा हो तो सुख-दुःखाद भी मन के ही गुण होंगे, अप्रत्यक्ष भी। जबकि सुख-दुःख की हमें प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

अद्वैतवादियों ने आत्मा को स्व प्रकाश-चैतन्य माना है। नैयायिक इससे सहमत नहीं। उनका मत है चैतन्य के लिये कोई आश्रय रूप द्रव्य होना चाहिये।

न्याय सूत्रों में बारह प्रमेयों की चर्चा है। आत्मा को प्रमेय रूप में स्वीकार किया है। आत्मा अवस्था विशेष से हेयोपादेय भी है। जब आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता होती है तब हेय है। सुख-दुःखादि के भोग से रहित निरुपाधिक अवस्था में उपादेय है।

आत्मा जड़ है। चैतन्य के सम्बन्ध से चैतन्यवान् बनता है। न्याय-वैशेषिकों की यह धारणा भी हास्यास्पद है। क्योंकि जो सर्वथा जड़ है वह आत्मा के समवाय सम्बन्ध से भी चैतन्यवान् नहीं हो सकता। जड़-चैतन्य में अत्यन्ताभाव है।

तीन काल में भी जड़-चेतन और चेतन-जड़ रूप में रूपान्तरित हो नहीं सकता। यदि आत्मा के समवाय सम्बन्ध से चैतन्यवान् हो जाता है तो घटादि पदार्थ भी चैतन्यवान् होने चाहिये। किन्तु ऐसा घटित नहीं होता और न नैयायिक भी ऐसा स्वीकार करते हैं।

न्याय वैशेषिकों का एक तर्क और है कि सुषुप्ति अवस्था में चैतन्य की अनुभूति नहीं होती इसलिये आत्मा चैतन्यमय नहीं है। सुषुप्ति में यदि चैतन्य हो तो जाग्रत अवस्था की तरह सुषुप्ति में भी वस्तुओं का ज्ञान होना चाहिये। इससे आत्मा की जड़ता सिद्ध है।

यह तर्क भी निराधार है। सुषुप्ति में चैतन्य दर्शनावरणीय कर्म के उदय से उसी प्रकार ढका रहता है जैसे बादलों से सूर्य। किन्तु चैतन्य सूक्ष्म और निर्विकल्प रूप में आत्मा में उपस्थित रहता है। उस समय चेतना नष्ट नहीं होती, आवृत रहती है। सुषुप्ति में संवेदन भी देखा जाता है।

आत्मा अचेतन है। उसे चैतन्य के समवाय से चैतन्यवान् मानें तो अनवस्था दोष आता है। चैतन्य गुण को भी किसी अन्य समवाय सम्बन्ध से चैतन्य मानना होगा। इस प्रकार उसे फिर चेतनता के लिये दूसरे चेतनत्व की कल्पना करनी होगी। ऐसे अनन्त चैतनत्व की कल्पना जुड़ती रहेगी। अतः भट्ट-मीमांसक, सांख्य, जैन कोई भी न्याय-वैशेषिक की इस मान्यता से सहमत नहीं हैं।

न्याय-वैशेषिक मत की समीक्षा में जैन दर्शन कहता है—ज्ञान को आगन्तुक गुण मानना वास्तविकता नहीं। ज्ञान आत्मा का गुण है। गुणी से गुण पृथक् नहीं रहते। जैसे अग्नि से उष्णता। आत्मा लक्ष्य है। ज्ञान लक्षण है। दोनों की भिन्न सत्ता असंभव है।⁵⁵

न्याय-वैशेषिक आत्मा को अपरिणामी मानते हैं, जैन दर्शन परिणामी नित्य। महावीर ने तत्त्व का प्रतिपादन परिणामी नित्यवाद के आधार पर किया है।

महावीर से पूछा—आत्मा नित्य है या अनित्य ? प्रश्न का समाधान विभज्यवादी शैली में किया—आत्मा का अस्तित्व त्रिकालवर्ती है। इसलिये नित्य है। परिणमन का क्रम कभी रुकता नहीं इसलिये अनित्य है। समग्रता की भाषा में नित्यानित्य है।

सांख्य दर्शन और जैन दर्शन—

सांख्य दर्शन में आत्मा के लिये 'पुरुष' शब्द का प्रयोग किया है। उसे त्रिगुणादि से भिन्न द्रष्टा और अकर्ता कहा है।^{५६} वह असंग तथा सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का साक्षी है।^{५७} व्यक्त, अव्यक्त और 'ज्ञ'—सांख्य दर्शन में वर्णित इन तीन तत्त्वों में 'ज्ञ' तत्त्व ही पुरुष नाम से अभिहित है। पुरुष और आत्मा एकार्थक हैं। पुरुष की अवधारणा अनेक युक्तियों के मजबूत आधार पर अवस्थित है।

अद्वैतवाद में आत्मा को एक माना है किन्तु सांख्य में आत्मा को अनेक स्वीकार किया है। इसका प्रमाण निम्न श्लोक है—

जन्म-मरण करणानां, प्रतिनियमाद् युगपत्प्रवृत्तेश्च।

पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यं विपर्ययाच्चेव।^{५८}

जन्म-मरण करणानां

प्रत्येक पुरुष के जन्म-मरण की भिन्नता है। एक का जन्म होता है, दूसरे का मरण। यदि एक ही आत्मा होती तो एक की उत्पत्ति के साथ सबकी उत्पत्ति और मरण के साथ मरण। एक अंधा है, बहरा है तो सबमें वही अंधत्व और बहरापन मिलता किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। ज्ञान और क्रिया के क्षेत्र में भी तारतम्य है। इससे आत्मा अनेक है—सिद्ध होता है। जन्म-मरण की व्यवस्था की उपपत्ति के लिये आत्मा को बहुसंख्यक मानना ही उचित है।

प्रतिनियमात्—प्राणी मात्र में एक जैसी प्रवृत्ति नहीं है। यह भी अनेक आत्मा की सूचना देता है। सत्त्व, रज, तमस् का सम्बन्ध भी भिन्न है। एक आत्मा होने से भिन्नता नहीं रहती।

अयुगपत्प्रवृत्तेश्च—प्राणियों की भिन्न-भिन्न श्रेणियां हैं। देव, मनुष्य,

पशु, पक्षी सबका स्तर पृथक् है। स्वभाव, रुचि का वैषम्य है। एक आत्मा हो तो स्वभाव, रुचि और श्रेणी की मित्रता क्यों ?

वेदान्त में आत्मा को आनन्दमय कहा है। सांख्य इसके पक्ष में नहीं। उनके मत से चेतना और आनन्द भिन्न हैं। आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। कूटस्थ नित्य है। सुख-दुःखादि प्रकृति से उत्पन्न है। पुरुष की सत्ता सिद्ध करने के बाद भी सांख्य दर्शन इसकी प्रामाणिकता के लिये पुष्ट तथ्य प्रस्तुत करता है—

संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृत्वात् केवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥^{१३}

१. दुनिया के सभी पदार्थ संघातमय हैं। वस्त्र अनेक तंतुओं का समूह है। वस्तु-मात्र सावयव भी है। अवयवों से निष्पन्न वस्तु साधन रूप है। साधन का प्रयोक्ता ही विलक्षण पुरुष है।
२. चेतनारहित जड़ पदार्थ गतिशून्य होता है। जैसे रथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित तभी होगा जब उसका नियन्ता चेतन सारथि हो। वैसे ही जड़ प्रकृति या सुख-दुःख, मोहात्मक जगत् किसी चेतन के द्वारा अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त है। अतः प्रकृति तथा उसके नियन्ता रूप में पुरुष की सत्ता प्रमाणित है।
३. संसार के विषय मात्र भोग हैं। भोग है वहां भोक्ता भी अवश्य है। भोक्ता के बिना भोग-सामग्री की उपयोगिता क्या? अतः जो भोक्ता है वही पुरुष है।
४. संसार के दुःखों से व्यथित होकर कुछ लोग जब शाश्वत सुखाभिमुख होते हैं—यह प्रयास जड़ पदार्थ में नहीं होता। मुक्ति के लिये पुरुषार्थ करना इस बात का साक्षी है कि कोई ऐसा तत्त्व है जो क्लेशों से निवृत्ति चाहता है। वही पदार्थ पुरुष है। सांख्य आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानते हैं—

अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।

अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कपिल दर्शिनः॥

पुरुष-प्रकृति परस्पर भिन्न लक्षण वाले हैं। पुरुष ज्ञाता, चेतन, निष्क्रिय, भोक्ता, प्रमाता, निर्गुण, सूक्ष्म है। प्रकृति जड़, सक्रिय, भोग्य, प्रमेय, अहंकारयुक्त और त्रिगुणात्मक है।

सांख्य दर्शन में आत्मा को चैतन्य स्वभाव कहा है लेकिन ज्ञान-स्वरूप स्वीकार नहीं करते। ज्ञान स्वरूप अचेतन प्रकृति का परिणाम है। आचार्य अमितमति ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है—‘आत्मा यदि ज्ञानरहित है तो ज्ञानपूर्वक होने वाली सारी क्रियाएं असंभव हो जायेंगी।’^{६०}

पुरुष को चैतन्य स्वरूप स्थापित कर ज्ञानरहित मानना विरुद्ध है। यदि ऐसा है तो घटादि पदार्थ भी ज्ञानवान होने चाहियें क्योंकि वे भी प्रकृति के परिणाम हैं। किन्तु ऐसा लक्षित नहीं होता।^{६१} अतः ज्ञान को आत्मा का स्वरूप मानना ही उपयुक्त है।

बिना किसी चेतन के अचेतन में क्रिया की उत्पत्ति नितांत असंभव है। आत्मा की उपस्थिति में हाथ की लेखनी लेखन व्यापार में प्रवृत्त होती है। रथी न हो तो रथ की गति हो नहीं सकती। तब अचेतन प्रकृति में प्रवृत्ति का उदय कैसे होगा ?

सांख्य दर्शन इसका समाधान इस प्रकार देता है—जैसे गाय के स्तन में बछड़े के लिये दूध नैसर्गिक उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति बिना किसी बाह्य कारण स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है। किंतु यह उदाहरण उचित और न्यायसंगत नहीं लगता। गाय चेतन है। बछड़े के प्रति आत्मीय भाव है। पुरुष की इस प्रकार प्रकृति को सहायता नहीं मिलती। क्योंकि सांख्य दर्शन में पुरुष निष्क्रिय और उदासीन है।

सांख्य दर्शन में आत्मा कूटस्थ नित्य, अपरिणामी है। साथ ही, औपचारिक रूप से उसे भोक्ता भी स्वीकार किया गया है। विमर्शणीय यह है कि आत्मा अपरिणामी है तो शुभाशुभ कर्मों का बंध नहीं हो सकता। कूटस्थ नित्य है तो न ज्ञानादि की उत्पत्ति संभव है, न हलचल रूप क्रिया ही हो सकेगी। आत्मा में जब किसी प्रकार का विकार ही नहीं, फिर ज्ञान, संयम, तप, समता आदि की क्या संभावना होगी ? मोक्षादि का अभाव होगा।^{६२}

निर्विकारी आत्मा में मन, शरीर और अर्थ के सन्निकर्ष से होने वाला ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा तथा अर्थ क्रिया नहीं होने से आत्मा अवस्तु ही सिद्ध होगी।^{६३} क्योंकि सांख्य में उत्पत्ति-विनाश से रहित सदा एकरूप रहने को नित्य कहा है।

आत्मा में जो भी क्रिया होगी, अवस्थान्तर से ही संभव है। पूर्व अवस्था को छोड़ उत्तर अवस्था धारण करना होता है जो कूटस्थ नित्यवाद में संभव नहीं।^{६४}

जैन दर्शन को कूटस्थ नित्यवाद स्वीकार नहीं। वह परिणामी नित्यवादी है। परिणामी नित्य का अर्थ है—पदार्थ उत्पाद-व्यय धर्मवाला है।^{६५} जैन परम्परा में आत्मा की क्षमता समान होने पर भी पुरुषार्थ एवं निमित्त के आधार पर विकास की यात्रा चलती है। सांख्य दर्शन में बुद्धि तत्त्व के बल पर सब घटित होता है। बुद्धि तत्त्व सब जीवों में विद्यमान है किन्तु उसका विकास विवेक, पुरुषार्थ और अन्य निमित्तों पर अवलम्बित है। आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने से विभिन्न दोष आते हैं अतः आत्मा को परिणामी नित्य मान लेना ही श्रेयस्कर है।

मीमांसा दर्शन और जैन दर्शन

मीमांसा दर्शन में आत्मा-सम्बन्धी धारणा न्याय-वैशेषिकों के समकक्ष ही है। इसमें आत्मा को नित्य, व्यापक, अनेक तथा शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि से भिन्न कहा है। वर्षों पूर्व दृष्ट और श्रुत विषयों की स्मृति, इन्द्रियों की विकलता में भी विद्यमान रहती है। इससे ज्ञात होता है कि इन्द्रियों केवल ज्ञान एवं अनुभूति का माध्यम हैं। ज्ञाता आत्मा है।

मीमांसक आत्मा में चित् अंश एवं अचित् अंश का संयोग मानते हैं। चित् अंश का ज्ञान से सम्बन्ध है। उसके द्वारा प्रत्येक आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा रूप में ज्ञान का अनुभव करती है। अचित् अंश परिणाम का निमित्त है। सुख-दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि जिन्हें न्याय-वैशेषिक आत्मा के विशेष गुण स्वीकार करते हैं, वे अचित् अंश के ही परिणाम हैं।^{६६}

आत्मा के स्वरूप को लेकर मीमांसकों में मतभेद है। प्रभाकर न्याय-वैशेषिक की तरह आत्मा को जड़वत् मानकर चैतन्य को उसका आगन्तुक गुण मानते हैं जो मन और इन्द्रियों का आत्मा से संपर्क होने पर उत्पन्न होता है।

कुमारिल भट्ट, न्याय-वैशेषिक, प्रभाकर की तरह आत्मा को न जड़वत् स्वीकार करता है, न जैन और सांख्य की तरह चैतन्य स्वरूप। बल्कि बोधा-बोधात्मक स्वरूप मानता है। प्रभाकर आत्मा को अपरिणामी नित्य मानता है। कुमारिल भट्ट आत्मा को परिणामी नित्य।

जैन-मीमांसक में कहीं सिद्धान्त भेद है तो कहीं समान रेखा पर भी हैं। जैनों ने आत्मा को परिणामी नित्य कहा तो मीमांसक कुमारिल भट्ट इससे सहमत हैं।^{६७} चैतन्य द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है किन्तु ज्ञान-विज्ञान की पर्याय बदलती है अतः इस अपेक्षा से अनित्य है। अर्थात् परिणमनशील होने पर भी आत्मा नित्य है। जैन दर्शन की तरह आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय है। मृत्यु के बाद

आत्मा कर्मों का भोग करने के लिये पूर्व शरीर का त्याग कर परलोक गमन करती है। मीमांसक भी इसका समर्थन करते हैं किन्तु मुक्ति विषयक धारणा में विरोध है।

अद्वैत वेदान्त और जैन दर्शन

जैन और अद्वैत वेदान्त में आत्मा सम्बन्धी अवधारणा में विभिन्न समानताएं और असमानताएं परिलक्षित होती हैं। शंकराचार्य के अभिमत से दुनिया के समस्त व्यवहारों का आधार आत्मा है। आत्मा का निराकरण नहीं होता, निराकरण बाहर से आदान की हुई वस्तु का होता है। परिवर्तन ज्ञाता का नहीं, ज्ञातव्य का ही होता है। ज्ञाता सदा अपने स्वरूप में वर्तमान रहता है। विषय के अनुभव में विषयी की सत्ता स्वतः प्रमाणित है।

आत्मा ज्ञान रूप है और ज्ञाता भी। ज्ञान और ज्ञाता अभिन्न हैं। ज्ञेय पदार्थ की उपस्थिति में ज्ञान ही ज्ञाता रूप से प्रकट हो जाता है। ज्ञेय के अभाव में ज्ञाता भी निरस्तित्व बन जाता है। एक ही ज्ञान कर्ता और कर्म सम्बन्ध से भिन्न प्रतीत होता है किन्तु वह अभिन्न है। 'आत्मा-आत्मानं जानाति' यह सूक्त इसका प्रमाण है।

रामानुज ने ज्ञान को नित्य-अनित्य दोनों माना है। अनित्य ज्ञान केवल वृत्ति मात्र होता है जो विषय के सन्निकर्ष से पैदा होता है और विषय के विलय होने पर विलय हो जाता है। कर्ता रूप ज्ञान सदा विद्यमान रहता है।

आत्मा ही एकमात्र सत्ता है। विश्व की सत्ता केवल व्यवहार के लिये है। विषय और विषयी का पार्थक्य परमार्थतः न होकर केवल व्यवहार मात्र है। देश-कालकृत भेद भी काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं। अखण्ड सत्ता एक ही है। जो उसे जानता है वही तत्त्वज्ञानी है। आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है, अनात्मा है।

आत्मा और जीव—दोनों एक ही सत्ता के सूचक हैं। जैन दर्शन इनमें भेद नहीं करता। वेदान्त में आत्मा को ब्रह्म की संज्ञा दी है और जीव से भिन्न माना है। जैन दर्शन में संसारी आत्मा का जो स्वरूप है वही वेदान्त में जीव का है। दोनों में समानता है।

वेदान्त में आत्मा को सत्, चित्, आनन्द और ज्ञानमय कहा है। जैन दर्शन में सत्, चित्, आनन्द के साथ अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य को भी आत्मा का स्वरूप स्वीकार किया है।

शंकराचार्य ने आत्मा को एक और जीव को अनेक कहा है। क्योंकि आत्मा ब्रह्म या परम तत्त्व है, जब देहावस्थित होती है तब जीव रूप में जानी जाती है। देहस्थ आत्मा की जीव संज्ञा है।

जीव का शरीर से संयोग जन्म और वियोग मृत्यु है। परमेश्वर और जीव में स्वामी-सेवक जैसा सम्बन्ध है। ब्रह्म का औपाधिक स्वरूप जीव है। जीव और ब्रह्म में वस्तुतः अभेद होते हुए भी जो भेद है वह उपाधिमूलक है। निरुपाधिक अवस्था में ब्रह्म, सोपाधिक अवस्था में जीव है।

वेदान्त में ब्रह्मात्मा को एकान्त नित्य माना है और जीवात्मा के सम्बन्ध में अलग-अलग मन्तव्य हैं। शंकराचार्य के अतिरिक्त सभी वेदान्तियों ने जीवात्मा को ब्रह्म का विवर्त न मानकर परिणामी नित्य कहा है।

शंकराचार्य ने आत्मा को उपाधियों के कारण ही कर्ता-भोक्ता माना है। जैन दर्शन में इससे भिन्न आत्मा को यथार्थ रूप से कर्ता-भोक्ता माना है।

मोक्ष के सम्बन्ध में जैन और वेदान्त की धारणा समान है। दोनों ने ही मोक्ष को अभावात्मक न मानकर भावात्मक माना है तथा आत्मा की जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति में विश्वास करते हैं। वेदान्तियों ने आत्मा को व्यापक, निरवयवी तथा निष्क्रिय कहा है वहां जैन दर्शन में अव्यापक, सावयवी तथा सक्रिय कहा है। वेदान्त में कर्मफल ईश्वराधीन है। जैन दर्शन कर्मफल प्राप्ति में ईश्वरीय सत्ता को मान्य नहीं करता।

औपनिषदिक चिंतन एवं जैन दृष्टि

भारतीय तत्त्वज्ञान का मूल स्रोत है— उपनिषद्। इसे आध्यात्मिक मानसरोवर की भी संज्ञा दी जाती है, जिससे ज्ञान की विविध सरिताएं प्रवाहित होकर आर्यावर्त को सरसब्ज बनाती रही हैं। उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का चित्रण सुन्दर ढंग से किया है। आत्मा का अस्तित्व वर्तमान जीवन तक ही है या जीवन की समाप्ति के बाद भी बना रहता है? कठोपनिषद् में इसका समाधान उपलब्ध है।

बालक नचिकेता ने यमराज से यही आग्रह किया था। मृत्यु गूढ़ रहस्य है, उसका यथोचित विवेचन कर यमराज ने उसे समाहित किया।

आत्मा नित्य वस्तु है, वह कभी मरती नहीं। इस पर रमणीय रूपक प्रस्तुत है— यह शरीर रथ है। बुद्धि सारथि है। मन प्रग्रह (लगाम) है। इन्द्रियां घोड़े हैं जो विषय रूपी मार्ग पर चलती हैं और आत्मा रथ का स्वामी है।^{६८}

यम ने आत्मा को रथी कहकर आत्मा की श्रेष्ठता प्रस्थापित की। माण्डुक्य उपनिषद् में शुद्ध आत्मा को “तुरीय” बतलाया है। जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति—उसी आत्मा की विभिन्न अवस्थाएं हैं। पहली अवस्था जागते समय होती है। इसमें सिर्फ बाह्य वस्तुओं का अनुभव किया जाता है। दूसरी, स्वप्नावस्था में आभ्यन्तर जगत् का अनुभव होता है। इसमें आत्मा सूक्ष्म वस्तुओं का आनन्द लेती है।^{६९}

तीसरी अवस्था गाढ़ निद्रा की है। इसमें न स्वप्न आते हैं, न कुछ इच्छा होती है। इस अवस्था में आत्मा कुछ समय के लिये ब्रह्म के साथ एकाकार होकर आनन्द का उपभोग करती है।^{७०}

माण्डुक्य उपनिषद् में कहा है—स्वप्नरहित निद्रावस्था भी आत्मा की उच्चतम अवस्था नहीं, चौथी “तुरीय” अवस्था विशुद्ध, आन्तरिक चैतन्य की अवस्था है। इसमें बाह्य-आभ्यन्तर किसी प्रकार के पदार्थों का अनुभव नहीं रहता। जागृति आदि तीनों अवस्थाओं से पृथक् है।

अरस्तु के लेखांश में इस संदर्भ के विचार मिलते हैं—‘जब कभी आत्मा अकेली रहती है, जैसे निद्रावस्था में, तो अपनी यथार्थ प्राकृत अवस्था में लौट आती है।’^{७१} आत्मा को ब्रह्म और सत् भी कहा गया है। कुछ सूक्त इसके प्रमाण हैं। सर्वं खलु इदं ब्रह्म^{७२}, अयम् आत्मा ब्रह्म^{७३}, अहं ब्रह्म अस्मि।^{७४} यहां ब्रह्म और आत्मा एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं—

अध्ययन^{७५} से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, न मेधा से। इसे योगी लोग आभ्यन्तर ज्योति के प्रकाश के क्षणों में प्राप्त करते हैं।

वह न स्थूल है, न अणु, न क्षुद्र है, न विशाल, न अरुण है, न द्रव, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गंध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न अंतर है, न बाहर है ^{७६}।

आत्मा एक सार्वभौम सत्ता है। अनुभूति का विषय है। वेदों के युग में मनुष्य प्रकृति प्रेमी थे किन्तु उपनिषद् के युग में चिंतन की दिशा अन्तर्मुखी बन जाती है। आत्म ज्ञान की अपेक्षा महसूस होती है। नारद ने कहा—भगवन्? मैं ऋग्वेद को जानता हूं, यजुर्वेद को और सामवेद को जानता हूं। इसके साथ मुझे मंत्रों और पवित्र ग्रन्थों का भी अध्ययन है किन्तु मैं आत्मा को नहीं जानता ^{७७}।

चार्वाक दर्शन एवं जैन दर्शन

जिन दर्शनों की हम चर्चा कर आये हैं उनमें चार्वाक दर्शन का नामोल्लेख नहीं है। यह अनात्मवादी दर्शन है। पक्ष के साथ विपक्ष अनिवार्य है। यदि आत्मवाद के साथ अनात्मवादी चार्वाक अस्तित्व में आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

दर्शन शास्त्र की तरह यह भी अति प्राचीन है। बौद्ध धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में इसके अंकुर हैं। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध से पूर्व भी इसका अस्तित्व था। ऋग्वेद की ऋचाओं में भी कुछ उद्धरण मिलते हैं।

चार्वाक दर्शन में आत्मा का अस्तित्व नहीं। चेतना की उत्पत्ति भौतिक तत्वों से होती है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि को मूल तत्व माना है। इन चारों की समन्विति से चेतना का आविर्भाव होता है जिसे आत्मा कहते हैं।

यहां प्रश्न उठता है, भौतिक तत्व जड़ हैं। जड़ से चेतना की निष्पत्ति कैसे संभव है? जिसका स्वभाव ही नहीं, वह उसमें पैदा हो—यह विरोधी गुण की उत्पत्ति है।

चार्वाक ने प्रश्न को हल करने के लिये कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जैसे—घी, मधु, मधुर हैं। अमृत तुल्य हैं किन्तु सम मात्रा में दोनों को संयुक्त करने से विष का रूप ले लेते हैं। पान, कत्था, सुपारी, चूना आदि एक साथ चबाने से लाल रंग की उत्पत्ति होती है। अलग-अलग रहने पर रंग का अभाव देखा जाता है।

अंगूर और गुड़ में मादकता नहीं, किन्तु विशेष परिस्थिति में मादकता आ जाती है। इसी प्रकार पृथ्वी, जल आदि भूतों की संहति से एक परिस्थिति ऐसी आती है कि उनमें चेतना का आविर्भाव हो जाता है। भूतों के विनाश होने के साथ चेतना का भी विलय हो जाता है। मनुष्य चार तत्वों से निर्मित है। बुद्धि भी इन तत्वों का परिवर्तित रूप है।

सदानन्द ने भौतिकवादियों के चार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। चारों में विवाद का मुख्य विषय है—जीवात्मा सम्बन्धी चिन्तन।

शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मानसात्मवाद, प्राणात्मवाद—ये अनात्मवाद के फलित हैं।

१. शरीरात्मवाद में शरीर ही विशिष्ट तत्व है। इसके अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई तत्व नहीं है।

२. इन्द्रियात्मवाद—इस सम्प्रदाय में इन्द्रिय ही आत्मा है। क्योंकि शरीर आदि सभी इन्द्रियों के अधीन हैं। इनकी विद्यमानता में ही पदार्थों का ज्ञान होता है। इससे इन्द्रिय ही आत्मा होने का सिद्ध होता है।
३. मानसात्मवाद— इसकी धारणा में मन आत्मा है। मन को छोड़कर कोई ऐसा पदार्थ नहीं, जिसे आत्मा कहा जाये। मन की सक्रियता में ही इन्द्रिय काम करती है। अनुभूति भी मन को ही होती है अतः मन ही आत्मा है।
४. प्राणात्मवाद— कुछ चार्वाक प्राण को आत्मा मानते हैं। प्राण के अभाव में इन्द्रियादि व्यर्थ हैं।

आस्तिक दर्शनों ने चार्वाक दर्शन का खण्डन इस आधार पर किया कि व्यवहार की सिद्धि केवल प्रत्यक्ष को मान लेने से नहीं होती। प्रत्यक्ष अकेला अधूरा है। प्रबल युक्तियों के सामने भूतात्मवाद निर्मूल हो जाता है क्योंकि इस मत में न धर्म का स्थान है, न पुण्य-पाप का। अनुमान और शब्द प्रमाण भी मान्य नहीं हैं। प्रमेय की सिद्धि केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से है। कार्य-कारण भाव स्वीकार्य नहीं। संसार की विभिन्नता नैसर्गिक है।

चार्वाक की इन अवधारणाओं में अनेक आपत्तियों का अवकाश है। जैसे—

१. शरीरात्मवादियों ने शरीर को आत्मा कहा है। विमर्शणीय है, भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति केवल काल्पनिक तथ्य है। भूत अचेतन है।^{१८} चार्वाक मधु आदि के दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं किन्तु यह भी उचित नहीं। मदिरा के प्रत्येक घटक में मादकता रहती है लेकिन प्रत्येक भूत में चैतन्यता देखी नहीं जाती।

यदि शरीर आत्मा है, सुखादि उसके धर्म हैं, तो मृत शरीर में भी रूपादि गुणों की तरह चेतना होनी चाहिये। किन्तु ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः सिद्ध है—चैतन्य शरीर का धर्म नहीं।

२. इन्द्रियात्मवादियों ने इन्द्रियों को आत्मा माना, यह भी तर्कसिद्ध नहीं है। चैतन्य को इन्द्रियों का गुण मानें तो चक्षु आदि इन्द्रियों के नष्ट होने पर न चैतन्य का नाश होता है, न स्मृति भी लुप्त होती है। इन्द्रियां ही आत्मा हैं तो कर्ता भी उन्हें मानना पड़ेगा, अन्यथा करण का अभाव हो जायेगा। करण के अभाव में कर्ता क्रिया कर नहीं सकेगा। इन्द्रियों के

अतिरिक्त दूसरा कारण बन नहीं सकता। अतः स्पष्ट है, इन्द्रियां आत्मा से भिन्न है। जैसे खिड़कियों से झांकने वाला खिड़कियों से भिन्न है।^{७९}

इन्द्रियात्मवाद में एक दोष और भी है कि इन्द्रियां अनेक हैं। एक शरीर में अनेक आत्माओं का निवास मानना भी न्यायसंगत नहीं है।^{८०}

३. मानसात्मवादियों ने मन को आत्मा स्वीकार किया है। मन अचेतन है। वह चैतन्य का आधार कैसे होगा? मन को आत्मा कहना किसी दृष्टि से उचित नहीं है।
४. प्राण को आत्मा मानना, प्राणात्मवादियों का मन्तव्य ठीक नहीं लगता। जैन दर्शन में प्राण के दो प्रकार हैं— द्रव्य प्राण, भाव प्राण। चार्वाक जिस प्राण को आत्मा कहता है वह जैन दर्शन का द्रव्य प्राण है। अचेतन है। आत्मा चैतन्य स्वरूप है। प्राण आत्मा का प्रयत्न विशेष है। प्राणों का आधार आत्मा है न कि प्राण आत्मा है। प्रश्नोपनिषद् में भी कहा है— प्राण का जन्म आत्मा से होता है। अतः प्राण तथा आत्मा एक नहीं, भिन्न हैं।^{८२}

चार्वाक का अनात्मवाद पढ़ने के बाद लगता है कि उसका मन्तव्य निराधार है। आत्मवादियों के सबल प्रमाणों के समक्ष अस्तित्व खड़ा नहीं रह सकता।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद : आस्तिकवादी दर्शन

आत्म विरोधी वैज्ञानिक प्रणालियों में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी एक है। द्वन्द्ववाद का अर्थ है—विरोधी स्वभावों के द्वन्द्व से तीसरे तत्त्व की उत्पत्ति। जैसे—हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का सम्मिश्रण जल तत्त्व को पैदा करता है। दोनों विरोधी स्वभाव हैं। एक प्राणनाशक है, ऑक्सीजन प्राणपोषक है। यह गुणात्मक परिवर्तन है। वस्तु का यौगिक परिवर्तन देखकर संभवतः भौतिकवादी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं।

किन्तु भारतीय मनीषियों ने परिवर्तनशीलता की प्रक्रिया को सहस्रों वर्ष पूर्व से समझ रखा है। उनके लिये नया तत्त्व नहीं है। जैन दार्शनिकों को द्रव्य, उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यात्मक ही है। कोई भी मूर्त द्रव्य परिवर्तन के नियम का अतिक्रमण नहीं कर सकता। विश्व के मूल उपादान दो हैं— जीव और पुद्गल।

परमाणु पुद्गल पर्यायों के परिवर्तन में भी मूल सत्ता उसकी शाश्वत है। परमाणु की तरह जीव भी अनन्त धर्मात्मक है। चेतन का जड़ अत्यन्त विरोधी है। इसलिये जड़ का चेतन में, चेतन का जड़ में गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो सकता। गीता में कहा है— “नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः” अर्थात् असत् उत्पन्न नहीं होता, सत् का नाश नहीं होता।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में गुणात्मक परिवर्तन असत् की उत्पत्ति सिद्ध करता है। लोकायत जड़ भूतों के संयोग से चैतन्य की निष्पत्ति मानता है। भौतिकवादी जड़ तत्त्वों के संघर्ष से। दोनों समानान्तर रेखा पर हैं। भौतिकवादियों के अभिमत को लोकायत का एक नया संस्करण कह सकते हैं।

असत् की उत्पत्ति को सिद्ध करने के लिये उन्होंने हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन के संयोग से निष्पन्न जल का उदाहरण प्रस्तुत किया किन्तु दोनों गैसों का सम्मिश्रण गुणात्मक परिवर्तन है ही नहीं। क्योंकि दो विरोधी स्वभावों से तीसरे नये गुण का पैदा होना अनिवार्य है। जल का निर्माण तीसरा गुण नहीं कह सकते, यह तो एक का दूसरे में विलीन होना है। अगर जलत्व को तीसरे गुण के रूप में मान्यता भी दे दें तो भी जड़ से आत्मा का आविर्भाव वाली बात कतई हृदयंगम नहीं हो सकती। और गुणात्मक परिवर्तन भी अपनी निश्चित स्थिति पर पहुंच कर ही होता है। बर्फ बनते समय पानी धीरे-धीरे गाढ़ा नहीं बनता, बल्कि टेम्प्रेचर गिरते हुए जैसे ही हिम बिन्दु ३० फार्नहाइट : सेन्टीग्रेड पर पहुंचता है, बर्फ बन जाता है। पानी गर्म होते हुए २०० डिग्री फार्नहाइट पर जाकर भाप बन कर उड़ जाता है। बर्फ और भाप बनने की सीमा है। वैसे ही गुणात्मक परिवर्तन भी निश्चित परिमाण पर ही होता है। भौतिकवादी भले ही रोचक और सटीक उदाहरण से सिद्ध कर दें कि गुणात्मक परिवर्तन, जहां असत् पैदा होता है, उसे ही कहते हैं। किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने सारे परिवर्तन अनन्त धर्मात्मक वस्तु के सहज धर्म माने हैं। चैतन्य जैसी वस्तु का उत्पादक जड़ तत्त्व न कभी हुआ, न कभी होगा। यह वन्ध्या-पुत्र जैसी हास्यास्पद बात है।

जड़-चेतन का आत्यन्तिक विरोध है। सत्य के ठोस आधार पर ही तत्त्व का प्रतिपादन किया है। इसलिये दावे के साथ कह सकते हैं कि यह जड़ पर चेतन की, विज्ञान पर दर्शन की तथा पश्चिम पर पूर्व की विजय है।

भारतीय तत्त्व दर्शन के उदय और अनुदय के साथ यात्रायित होने पर इस पड़ाव पर पहुंचते हैं कि परस्पर विचारभेद है। खण्डन-मण्डन की नीति भी

परिलक्षित होती है किन्तु मूल तत्त्वों में समन्वय का स्वर भी सुनाई पड़ता है। तत्त्वों की सोपान वीथि पर कोई आगे खड़ा है, कोई पीछे किन्तु शिखर का आकर्षण सबको खींच रहा है।

कार्य-कारण की शृंखला में तीन वादों की प्रमुखता है—आरंभवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद।

- आरंभवाद कहता है—विश्व की संरचना विभिन्न परमाणुओं से है। कारण स्वतंत्र है। कारण में कार्य की सत्ता नहीं रहती। कार्य की उत्पत्ति नया प्रोडक्शन (Production) है। इसके समर्थक हैं—न्याय-वैशेषिक और कर्म मीमांसक।
- परिणामवाद के अभिमत से कारण के अभाव में कार्य का अस्तित्व नहीं रहता। कार्य सदा कारण में व्यक्त या अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। कार्य-कारण में भेद नहीं होता। सांख्य-योग, अद्वैत वेदान्ती और वैष्णव इसके परम पोषक हैं।
- विवर्तवाद में भी कारण की ही महत्ता है। उसकी एकमात्र सत्ता मान्य है। कार्य सत् और असत् से विलक्षण, अनिवर्चनीय व्यापार है। यह शाङ्कर अद्वैत वेदान्ती की अवधारणा है।

इन तीनों वादों का क्रमिक विकास हुआ है। सूक्ष्म तक पहुंचने के लिये प्रथम स्थूल का अनुचितन नितांत नैसर्गिक है। आरंभवाद का आश्रय लेकर न्याय-वैशेषिक इस स्थूल जगत् का विश्लेषण करते हैं। सांख्ययोग की पदार्थ विषयक कल्पना न्याय-वैशेषिक से सूक्ष्म है। अद्वैत वेदान्त की कल्पना सूक्ष्मतरंग है। आत्मा के सम्बन्ध में चिंतन की समानता-असमानता दोनों हैं।

चार्वाक शरीर से भिन्न आत्मा मानता ही नहीं। बौद्ध पंच स्कंधात्मक रूप आत्मा को शरीर से भिन्न क्षणिक मानता है। न्याय-वैशेषिक युक्तियों से इनका निरसन कर आत्मा को देह, प्राण, मन तथा इन्द्रियों से भिन्न तथा नित्य स्वीकार करता है। सांख्ययोग में आत्मा निर्लेप, असंग, निर्गुण चैतन्य रूप है।

जैन दर्शन में आत्मा का चिंतन अनेकान्त दृष्टि से किया है। छह द्रव्य, नव तत्त्वों में आत्म तत्त्व ही चैतन्य स्वरूप है। अन्य दार्शनिकों की तरह जैन दर्शन आत्मा को निरवयव नहीं मानता, क्योंकि आत्मा असंख्यात प्रदेशी है।

बौद्ध दर्शन में आत्मा क्षणिक, चेतना का प्रवाह मात्र है। जैन दर्शन में आत्मा नित्यानित्य है। न्याय-वैशेषिकों ने चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण तथा सुषुप्ति और मोक्षावस्था में जड़ रूप माना है। जैन दर्शन आत्मा का यथार्थ गुण चैतन्य स्वीकार करता है। यद्यपि जैन और न्याय-वैशेषिक दोनों में आत्मा नित्य रूप है। किन्तु न्याय-वैशेषिक कूटस्थ नित्य मानते हैं, जैन परिणामी नित्य।

न्याय-वैशेषिकों ने आत्मा को व्यापक तथा गुणों को आत्मा से भिन्न माना है। जैन दर्शन आत्मा को देह परिमाण एवं गुणों को भिन्न नहीं, सहकारी कहा है। दोनों दर्शन में आत्मा अनेक, कर्ता-भोक्ता है। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में चिन्तन भेद है। न्याय-वैशेषिक अणुरूप प्रत्येक शरीर में मन भिन्न है। यही मन एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। आत्मा का यही पुनर्जन्म है।

जैन दर्शन में आत्मा पूर्व शरीर का त्याग कर नये शरीर को पाती है। पर्याय परिवर्तन ही पुनर्जन्म है।

सांख्य दर्शन, न्याय-वैशेषिकों की तरह चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं मानता। इस संदर्भ में जैन दर्शन की तरह वास्तविक गुण स्वीकार करता है। आत्मा को अनादि भी मानता है। कूटस्थ नित्य की धारणा में जैन दर्शन से अलग, न्याय-वैशेषिकों के निकट है।

पुनर्जन्म के संदर्भ में सांख्य को पुरुष का पुनर्जन्म स्वीकार्य नहीं, पुरुष निर्लिप्त है, उसके बंध-मोक्ष भी नहीं। प्रकृति के बंध होता है और लिंग शरीर का पुनर्जन्म है। जैनों में आत्मा का पुनर्जन्म है और बन्धन-मुक्ति का अधिकारी भी वही है।

मीमांसकों में प्रभाकर का मन्तव्य न्याय-वैशेषिकों से मिलता-जुलता है। कुमारिल भट्ट सांख्य और जैनों से साम्य रखता है। वेदान्त में जीव और आत्मा भिन्न हैं, जैन दर्शन में अभिन्न। रामानुज ने जीवात्मा के तीन प्रकार निरूपित किये हैं— बद्ध जीव, मुक्त जीव और नित्य जीव। किन्तु जैन दर्शन में मुक्त और संसारि—ऐसे दो ही भेद किये हैं।

संदर्भ सूची

१. आचारांग, अ. ३ उ. ३ सू. ५८
२. आचा., अ. ५ उ. ६ सू. १२३-१२४-१२५
३. वही, अ. ५ उ. ५ सू. १०५

४. वही, अ. ५ उ. ६ सू. १३७
५. वही, अ. ५ उ. ६ सूत्र १३६
६. वही, अ. ५ उ. ५ सू. १०४
७. भगवती, श. २ उ २
८. उत्तराध्ययन २।२७
९. दशवैकालिक निर्युक्ति भाष्य ४२
१०. तैत्तिरीयोपनिषद् २।४।१ (चतुर्थ अनुवाक्)
११. कठोपनिषद् २।३।१२।
१२. कठोप.नि. १।२-९
१३. केनोपनिषद् १।३।
१४. श्वेताश्वतरोपनिषद् ९।१०।
१५. आचारांग, अ. ५ उ. ६ सू. १३५
१६. छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७
१७. वही, ६।१६।७।
१८. वही, ८।१।५।
१९. बृहदारण्यकोपनिषद् ५।४।१।
२०. बृहद. उ. ३।९।२३
२१. तैत्तिरीयोपनिषद् २।५।१।
२२. वही, ३।६।१।
२३. बृहदा. उ. ५।३।१५
२४. कठोपनिषद् १।२।१८
२५. गीता, २।१९।२६
२६. छान्दोग्योपनिषद् का सार देखें।
२७. मैत्रेय्युपनिषद् ३।१६।२१
२८. कठोपनिषद् १।३।१५
२९. मुण्डकोपनिषद् १।६।१
३०. माण्डुक्योपनिषद् सू. ६
३१. बृहदा. उ. ४।५।१५
३२. केनोपनिषद् १।३।
३३. ब्रह्म विघ्नोपनिषद् (उपनिषद् संग्रह) ८१।९१।
३४. श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।१०।

३५. सुवालोपनिषद् (उपनिषद् संग्रह) पृ. २१०।
३६. भगवद्गीता २।२३।
३७. नियमसार ३।३८।४६, ५०।७८ एवं ८०।
३८. समयसार गा. ४९।
३९. इष्टोपदेश श्लोक २९।
४०. परमात्म प्रकाश ७५-८०।
४१. आत्मानुशासन ७४।
४२. तत्त्वसार टीका १७।
४३. षड्दर्शन समुच्चय ३।
४४. भारतीय दर्शन २ पृ. १७।
४५. मज्झिम निकाय ३५।३।५-२४।
४६. महावग्ग, १।१।१-३।
४७. कुमारिल श्लोक वार्तिक पृ. २१७-२२३, शंकरभाष्य २।२।१८।
जयन्त भट्ट न्याय मंजरी भा. २ पृ. १६-३९, स्याद्वाद मंजरी १२२।१२६।
४८. स्याद्वाद मंजरी १८।
४९. अष्टसहस्री पृ. १९७ हिनस्त्यनभिसंधात् न हिनस्त्यभि संधिमतः।
५०. वही, पृ. १८२।
- प्रत्यभिज्ञानस्मृतीच्छादेरभावात् सन्तानान्तर चित्तवा।
तदभावश्च प्रत्यभिज्ञातुरेकस्यान्वितस्याभावात्।
५१. स्याद्वादमंजरी श्लोक १९।
५२. तर्क भाष्य, केशिव मिश्र पृ. १९०।
५३. प्रशस्तपाद भाष्य पृ. ४९।५०।
५४. न्यायसूत्र १।७।२२।
५५. वै.सू. ३।२।४-१३।
५६. पंचास्तिकाय ४४।४५।
५७. सांख्यकारिका १९।
५८. सांख्यसूत्र, प्रवचन भाष्य १।१५।१४८।
५९. सांख्यकारिका १८।
६०. वही, १६।
६१. श्रावकाचार (अमितगति) ४।३१ क्रियाणां ज्ञान जन्यानां तत्राभाव प्रसंगतः।

६२. वही ४।३७।

अचेतस्य न ज्ञानं प्रधानस्य प्रवर्तते।
स्तम्भकुंभादयो दृष्टा न क्वापि ज्ञानयोगिनः।

६३. तत्त्वार्थ वार्तिक १।१।५६, १।९।११।

६४. स्याद्वाद मंजरी कारिका ५

६५. सिद्धांतसार संग्रह ४।२३-४।

६६. तत्त्वार्थ सूत्र ५।३१।

६७. चिदंशेन दृष्टत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन; ज्ञान सुखादि रूपेण परिणामित्वम् (स आत्मा अहं प्रत्ययेनैकवैद्यः)। अद्वैत ब्रह्म सिद्धि।

६८. तत्त्व सं. का. २२३-७ श्लोक वा आत्मवाद २३-३०।

६९. कठोपनिषद् २।३-८।

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीर रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।

७०. वृहदारण्यक उ. ४।३।९।१४।

७१. वही, २।१। कौषीतकी अ. ४।

७२. फ्रेग्मेंट २

७३. छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१।

७४. वृहदारण्यक उ. २।५।१९।

७५. वही, १।४।१०।

७६. कठोपनिषद् २।२३।

७७. वृहदारण्यक उ. ३।८।८।

७८. छान्दोग्योपनिषद् ७।२।

७९. वेदान्तसार।

८०. प्रमेयरत्नमाला ४।८। पृ. २९६

८१. षड्दर्शन समुच्चय टीका, गुणस्रकारिका ४९ पृ. २४६।

८२. न्याय कुमुद चन्द्र ३४६।

८३. प्रमेय कमल मार्तण्ड, प्रभाचन्द्र १।७ पृ. ११५।

८४. न्याय कुमुद चन्द्र पृ. १७६।

तृतीय अध्याय

पाश्चात्य एवं जैन दर्शन का
प्रस्थान : समन्वय की भूमिका

- देकार्त
- ह्यूम
- काण्ट
- बर्कले
- देहात्मवाद की समस्या
- अन्तर्क्रियावाद
- निमित्तवाद
- समानान्तरवाद
- पूर्व स्थापित सामंजस्य
- पाश्चात्य देहात्म सम्बन्ध, जैन दर्शन

पाश्चात्य एवं जैन दर्शन का प्रस्थान : समन्वय की भूमिका

कोऽहं, कथं, केन, कुतः समुद्गतो ? यास्यामि चेतः क्व शरीर संक्षये।

किमस्ति चेद्वागमने प्रयोजनं ?, वासोऽत्र मे स्यात् कति वासराणि ?।।

अर्थात् मैं कौन हूँ ? कैसे ? किस कारण ? कहां से आया हूँ ? शरीर नाश होने पर कहां जाऊंगा ? यहां आने का उद्देश्य क्या है ? कितने दिन यहां निवास है ? यह आत्मा के अनुसंधान का संकेत है।

इस चिंतन पर विशाल साहित्य का सृजन हुआ, फिर भी आत्मा इतना गूढ़ तत्त्व है कि रहस्य अनावृत नहीं हो सका।

बालक जन्म लेता है। बुद्धि विकास के साथ जैसे-जैसे नई वस्तुओं को खोजता है। यही वृत्ति प्रौढ़ावस्था में विकसित होकर सृष्टि का अणु-अणु एवं स्व-अस्तित्व को जानने को उत्कंठित रहती है। सत्य का अन्वेषण तत्त्वज्ञों का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

भारतीय मनीषियों की तरह पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी सत्य की शोध पूरे मनोयोग के साथ की है। तत्त्व के प्रति रुझान और सत्य की जिज्ञासा का उद्भव सर्वप्रथम दो देशों में हुआ—भारत और यूनान। यूनान तत्त्वज्ञान की दृष्टि से पश्चिमी जगत में गुरु स्थानीय माना जाता है।

ज्ञान का अन्वेषण स्वयं ज्ञान है। ज्ञान की प्राप्ति पश्चिमी दर्शन का चरम लक्ष्य है। किन्तु भारतीय दर्शन के अनुसार ज्ञान साधन है, साध्य नहीं। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और निर्वाण की उपलब्धि परम ध्येय है। उसे पाने का साधन है—ज्ञान। ‘ऋते ज्ञानान् मुक्तिः’ ज्ञान के अभाव में मुक्ति नहीं।

पाश्चात्य दर्शन का प्रारंभ भौतिक तत्त्वों के चिन्तन-मनन एवं विश्लेषण से होता है। थेलीज से जार्जियस तक प्रायः सभी दार्शनिकों का बहिर्मुखी चिंतन रहा है। अन्तर्मुखी चिंतन में प्लेटो का नाम सर्वप्रथम आता है। यद्यपि एनेक्जोरोस का नाम भी आता है, किन्तु आत्म तत्त्व का समुचित विवेचन सर्वप्रथम प्लेटो ने किया था।

प्लेटो के मत से आत्मा जीवन शक्ति है। शरीर निष्क्रिय है। किन्तु शरीर की गति एवं निष्क्रियता का कारण आत्मा ही है। आत्मा गति में निमित्त है, साथ ही विवेक का आश्रय भी है। विवेक के आधार पर विज्ञान के साथ उसका सम्बन्ध है और गति का कारण होने से इन्द्रिय जगत से संपर्क है। अतः विज्ञान एवं वस्तु जगत—दोनों का आधारभूत आत्मा है। प्लेटो ने आत्मा को विश्वात्मा (World soul) कहा है किन्तु विश्वात्मा की तरह वह पूर्ण तथा असीम नहीं है।

आत्मा जीवधारियों के जीवन का वह अंश है जो मृत्यु के बाद भी अस्तित्व में रहता है।

जीवात्मा के उसने दो रूप—बौद्धिक एवं अबौद्धिक प्रतिपादित किये हैं। मनुष्य में जो विवेक की स्फुरण है उसका कारण बौद्धिक आत्मा (Rational Soul) है।

संवेदना, वासना और क्रिया अबौद्धिक आत्मा (Irrational Soul) के कार्य हैं। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ फिडो में तीन प्रकार की आत्माओं का उल्लेख किया है—बौद्धिक, कुलीन अकुलीन। कुलीन आत्मा बौद्धिक आत्मा और अकुलीन आत्मा अबौद्धिक आत्मा में समाहित हो जाती है। प्रवृत्ति के आधार पर ये भेद किये गये हैं।

बौद्धिक आत्मा दिव्य ज्ञान की ओर अभिमुख है। अबौद्धिक की गति भौतिक जगत की ओर है। प्लेटो ने आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिये कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। जैसे जीवन एक प्रवाह है, उसका आदि बिन्दु है जन्म। अंतिम बिन्दु है मृत्यु। यह चक्र (Cycle) अनादिकालीन है। जन्म न हो तो मृत्यु किस की? यह आत्मा की अमरता प्रमाणित करता है।

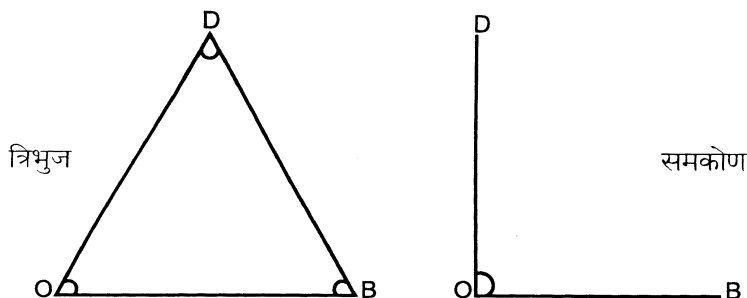
प्लेटो ने कहा—संसार के सभी पदार्थ सावयव हैं इसलिये इन्द्रियगम्य हैं। आत्मा निरवयव होने से प्रत्यक्ष नहीं है, केवल अनुभूति का विषय है। वह आत्मा की पूर्व सत्ता (Pre-existence) तथा अमरता को स्वीकार करता है।

प्रश्न होता है—स्मृति में स्मर्तव्य विषय कारण बनता है। स्मरणकर्ता आत्मा कारण नहीं। प्लेटो के मत से स्मृति के विषय अनन्त हैं। कौनसा पदार्थ कब स्मृति का विषय बन जाये, निर्णय करना कठिन है। अतः स्मरणकर्ता आत्मा मान लेना ही न्यायसंगत है।

केवल देखना ही स्मृति का कारण नहीं, अनुभूति भी उसकी होती है। आत्मा के बिना अनुभूति नहीं। यह भी एक बिन्दु है अमरता साबित करने का।

प्लेटो की आत्म-सम्बन्धी अवधारणा जैन दर्शन के समकक्ष ही है। आत्मा न हो तो पुनर्जन्म, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा की कल्पना भी निरर्थक है।

पाश्चात्य विचारकों ने ज्ञान के तीन स्तर माने हैं—ऐन्द्रिक अनुभवात्मक ज्ञान (Empirical Knowledge), बौद्धिक ज्ञान (Intellectual Knowledge), अन्तर आत्मज्ञान (Intutional Knowledge)। ऐन्द्रिक ज्ञान अनुभव सापेक्ष है। बौद्धिक ज्ञान अनुभव निरपेक्ष है। यह जन्म से आत्मा में विद्यमान रहता है। इसका कोई विपक्ष नहीं होता। जैसे—



त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के समान हैं। बौद्धिक ज्ञान का यह प्रतीक है। आत्मा के अभाव में इन ज्ञानों का आधार क्या होगा ? इस प्रश्न ने पश्चिमी दार्शनिकों के दृष्टिकोण को परिष्कृत किया है। भौतिक जगत से परे आत्मा के अस्तित्व को मान्यता मिली।

देकार्त (1556 ई. से 1650 ई.)

पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त (Descartes) ने आत्मा को आध्यात्मिक तत्त्व माना है। जिसका स्वभाविक गुण चिन्तन अथवा चेतन है। देकार्त संदेह से सत्य की खोज करते हैं। दार्शनिक चिन्तन का आदि उत्स संदेह है। उनकी मान्यता थी कि संदेह से संदेहकर्ता के अस्तित्व की अनुभूति होती है, जैसे चिन्तन से चिन्तनकर्ता की।

देकार्त के आत्म-अस्तित्व को प्रमाणित करने वाला प्रसिद्ध सूत्र है— 'Cogito ergo sum' I think, therefore I am. मैं सोचता हूँ इसलिये मेरा अस्तित्व है। ज्ञान आत्मा का गुण है, यह ज्ञाता के अभाव में संभव नहीं। ज्ञान और आत्मा में गुण-गुणी का सम्बन्ध है। चिन्तन के अनेक पहलू हैं—संदेह करना, समझना, स्वीकार करना, कल्पना करना आदि ये सब मानसिक क्रियाएं हैं—?

‘It is a thing that doubts, understands, affirms, denies, wills, refuges, imagines also and perceives.....all other properties belong to my nature.’ आत्मा का अस्तित्व न हो तो क्रियाएं नहीं हो सकेंगी। अस्तित्व सिद्धि के देकार्त ने दो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—प्रातिभ प्रमाण और अखंडनीयता।

१. प्रातिभ प्रमाण—आत्मा स्वयं प्रकाशमय है। उसका ज्ञान प्रातिभ है। ‘मैं हूँ’ यह अनुभव प्रातिभ ज्ञान से होता है। प्रामाणिकता के लिये अन्य साक्षी की अपेक्षा नहीं।

२. अखंडनीयता—आत्मा का अस्तित्व अखंड है। अविभाज्य (Indivisible) है। शाश्वत (Eternal) है। अभौतिक (Immaterial) है।

देकार्त द्वैतवादी है। उसने चित् (आत्मा), अचित् (शरीर)—दो तत्त्वों का निरूपण किया है। दोनों विरोधी गुण वाले हैं। आत्मा का गुण चैतन्य है, शरीर का गुण विस्तार है। देकार्त ने भी यह स्वीकार किया है।

प्रश्न होता है कि दो विरोधी तत्त्वों का साथ में सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है? सम्बन्ध न मानें तो द्वैतवाद निराधार बन जाता है। इस समस्या का समाधान वह क्रिया-प्रतिक्रियावाद के आधार पर करता है। इस अन्तःक्रिया से पारस्परिक आदान-प्रदान चलता है। आत्मा का निवास उसने पीनियल ग्रन्थि में माना है। यहीं से सारे शरीर में वह प्रकाशित होती है।

देकार्त का प्रिय विषय गणित था। वह चाहता था, गणित की तरह दर्शन की नींव सुदृढ़ बने। गणित प्रणाली का विकास नहीं होता तो संदेहरहित सत्य की उपलब्धि असंभव थी। गणित में निश्चयात्मकता है। $2 \times 2 = 4$ को कोई संदेह से नहीं देखता। यह सर्वमान्य सत्य है।

देकार्त के मत में संदेह साधन एवं सत्य साध्य है। परीक्षा के बिना वे किसी सत्य को मानने के लिए तैयार नहीं थे। संभवतः यूरोपीय इतिहास में वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने संदेह की कसौटी पर सत्य को कसा।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ‘(The discourse on method)’ में सत्य को परखने के चार विकल्प सुझाये हैं—

- हम किसी भी विषय की प्रामाणिकता तब तक स्वीकार न करें, जब तक उसकी परीक्षा न हो जाये।^२
- किसी भी विषय की सत्यता प्रमाणित करने के लिये उस विषय को

उसके अंग-प्रत्यङ्गों में विभक्त कर देना चाहिये। इससे समस्या का समाधान संभव है।^३

- हमें समस्या के सरल भाग से प्रारंभ कर जटिल की ओर अग्रसर होना उचित है।^४
- किसी भी निर्णय पर पहुंचने से पूर्व, दिल में पूर्ण विश्वास होना जरूरी है कि समस्या का कोई पहलू छूट नहीं गया है जिससे निष्कर्ष में कहीं गलती न रह जाये।^५

तुलनात्मक दृष्टि से देकार्त के विचार जैन दर्शन से काफी साम्य रखते हैं। जैन दर्शन में जीव और पुद्गल—दो तत्त्वों का निरूपण है। देकार्त ने उन्हें चित् और अचित् की संज्ञा दी है तथा आत्मा को अभौतिक और पुद्गल को भौतिक माना है। देकार्त ने भी चित् को अभौतिक तथा अचित् को भौतिक माना है।

जैन दर्शन में आत्मा कार्य-कारण की शृंखला से मुक्त है क्योंकि उत्पत्ति-विनाश से परे है। जिसकी उत्पत्ति होती है वह तत्त्व कार्य-कारण से मुक्त नहीं रह सकता। आत्मा नित्य है। शाश्वत है। देकार्त ने भी आत्मा को नित्य, शाश्वत, विभु तथा उत्पत्ति-विनाश से परे कहा है।

देकार्त के मत में संदेह सत्य तक पहुंचने का सोपान है। संशय से ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है। जैन दर्शन में भी संशय द्वारा आत्मा की सिद्धि का उल्लेख मिलता है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अभिमत से 'जीव है या नहीं' यह संशय ज्ञान है। ज्ञान जीव है। संशयकर्ता भी चेतन है, अचेतन नहीं। अतः विशेषावश्यक भाष्य में संशय द्वारा आत्मा की सिद्धि की है।

आचार्य अकलंक देव ने तत्त्वार्थ वार्तिक में कहा है कि जिसका अस्तित्व नहीं, उसके विषय में संदेह नहीं हो सकता। 'आत्मा है' यह ज्ञान यदि संशय रूप है तो आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है।

देकार्त का अभिमत भी यही है कि सबमें संदेह किया जा सकता है किन्तु संदेह में संदेह करना संभव नहीं। संदेह का अस्तित्व संदेह से परे है। संदेह का अर्थ विचार करना है। विचारक के अभाव में विचार कौन करेगा ?

विचार साम्य के साथ कुछ ऐसे प्रश्न भी हैं जो जैन दर्शन के साथ मेल नहीं खाते। जैसे देकार्त ने आत्मा को अभौतिक मानकर उसका निवास पीनियल ग्लैण्ड में बताया है। किन्तु अभौतिक आत्मा का पीनियल में निवास कैसे हो सकता है ? जैन दर्शन आत्मा को देह-परिमाण मानता है।

देकार्त ने आत्मा को द्रव्य रूप कहा किन्तु द्रव्य रूप में सिद्ध नहीं कर सका। निष्कर्ष की भाषा में यही कह सकते हैं—देकार्त का आत्मवाद जैन आत्मवाद के काफी निकट है। उसने जो आत्म-प्रयोजन मूलक व्याख्या की, वह आत्मा की महत्ता की अभिव्यक्ति है।

ह्यूम (1711 ई. से 1776 ई.)

देकार्त ने सत्य तक पहुँचने का माध्यम संदेह को माना है। संदेह से ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया किन्तु संदेह को साधन रूप ही माना है, साध्य नहीं।

ह्यूम के दर्शन में संदेह साधन और साध्य दोनों है। देकार्त संदेह से सत्य तक पहुँचता है। ह्यूम का दर्शन संदेह से प्रारंभ होता है और अंत भी उसी में हो जाता है।

बुद्धिजीवियों की प्रतिक्रिया स्वरूप अनुभववाद आया। उसका जन्मदाता था 'जान लॉक'। विशप बर्कले ने उसे आगे बढ़ाया। ह्यूम का अभिमत अलग है। उसने कहा— यदि हम अनुभव को ही ज्ञान का साधन स्वीकार कर लें तो आत्मा, परमात्मा आदि किसी की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। यद्यपि ज्ञान का एकमात्र स्रोत ह्यूम ने अनुभव को ही माना है फिर भी लॉक और बर्कले के अनुभववाद से ह्यूम का अनुभववाद भिन्न है।

ह्यूम को अज्ञेयवादी भी कहा जाता है। कारण उसने आत्मा-परमात्मा आदि तत्त्व अज्ञेय माने हैं। जिसको प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, ऐसी वस्तु उसे मान्य नहीं।

जिन दार्शनिकों ने प्रतिक्षण आत्मा को जानने का दावा किया है और उसके लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं समझते, ह्यूम ने उनके सामने प्रश्न खड़ा किया कि आपके पास आत्मा का प्रत्यक्ष स्पष्ट है तो इसका आधार कोई संस्कार होना चाहिये, और आत्म द्रव्य का ज्ञान इन्द्रियानुभव संस्कार से होता है या मानसिक चिन्तन संस्कार से ?

यदि इन्द्रियों के अनुभव से है तो कौनसी इन्द्रिय इसमें निमित्त है ? यदि आंख माध्यम है तो रूप होना चाहिये। कान से जानते हैं तो ध्वनि होगी, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों से। किन्तु कोई भी यह कहने का साहस नहीं करेगा कि आत्मा—रूप, रस, गंध और ध्वनि है। रूप, रस आदि इन्द्रियों के विषय हैं। आत्मा शब्दातीत, रूपातीत, गंधातीत, रसातीत है। इन्द्रियों से अप्रत्यक्ष है।

यदि मानसिक चिन्तन से आत्मा का अनुभव होता है तो मानसिक चिन्तन का अनुभव सदा उत्तेजना एवं मनोवेग के रूप में होता है। अतः इन्हें आत्म-द्रव्य नहीं कहा जा सकता। आत्म-द्रव्य गुण समवाय का नाम है।

ह्यूम आत्मा को सरल (Simple) और शाश्वत (Eternal) के रूप में न मानकर मानसिक क्रियाओं के समूह रूप में देखता है। उसका अभिमत है—

There is properly no simplicity in the self at one time nor identity in different time. अर्थात् इनमें न तो किसी एक समय सरलता होती है और न भिन्न-भिन्न समयों में तादात्म्य ही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ह्यूम ने विचारों के समूह को ही आत्मा स्वीकार किया है, यह ठीक नहीं। विचार परिवर्तनशील है तो प्रवाह भी परिवर्तनधर्मा है। अतः उसके मत से आत्मा भी स्थिर नहीं है। दूसरी बात विचारक के अभाव में विचार असंभव है।

ह्यूम ने जिस रूप में आत्मा को स्वीकार किया, जैन दर्शन के साथ समानता नहीं हो सकती। क्योंकि जैनों ने आत्मा को भावात्मक प्रत्यय के रूप में मान्य किया है।

जैन दर्शन परिणामी नित्यवाद को मानता है। ह्यूम के दर्शन में 'विचारों के समूह' के अतिरिक्त कोई नित्यात्मा नहीं है।

ह्यूम ने नित्य आत्मा को प्रवाह रूप में क्षणिक स्वीकार किया है तो जो आपत्तियाँ बौद्धों के क्षणिकवाद पर आती हैं उन्हें ह्यूम के आत्मवाद पर भी घटित किया जा सकता है। अतः ह्यूम का आत्मा के संदर्भ में अनित्य एकान्तवादी दृष्टिकोण तर्कसंगत नहीं है।

काण्ट (1424 ई. से 1804 ई.)

मानव विचारधारा के इतिहास में उन्नीसवीं सदी का महत्त्व अधिक रहा है। अनेक विचारों की उद्गम स्थली यही सदी है। काण्ट इस युग का ख्यातनामा दार्शनिक है।

आत्मा के सम्बन्ध में उसके विचार देकार्त एवं ह्यूम से भिन्न हैं। वह देकार्त की तरह आत्मा को न ज्ञेय मानता है न ह्यूम की तरह विचारों का प्रवाह ही। उसके अभिमत से आत्मा नित्य है, शाश्वत है। उसने आत्मा के स्वरूप को एक शब्द में इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है—The soul is transcendental

synthetic unity of pure apperception. अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय, समन्वयात्मक, अद्वय-विशुद्ध, अपरोक्षानुभूति रूप है।

काण्ट आत्मा को व्यावहारिक जगत का तत्त्व न मानकर उसका निवास परमार्थ जगत में स्वीकार करता है।

काण्ट ने आत्मा को अतीन्द्रिय कहा है। इन्द्रियों का विषय मूर्त है। आत्मा अमूर्त है। इन्द्रियों की पहुँच से परे है। बुद्धि और वाणी से भी अवक्तव्य है। यहां काण्ट के विचार जैन दर्शन के अति निकट हैं। जैन दर्शन में भी आत्मा को अमूर्त माना है। द्रव्य संग्रह में आत्मा की अमूर्तता सिद्ध करते हुए लिखा है—

वण्ण, रस, पंच, गंधादो, अट्ठणिच्चया जीवे।

णो संति असुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।।

अर्थात् पुद्गल वर्ण, गंधादि से युक्त और मूर्त हैं। आत्मा इनसे मुक्त, अमूर्त है।

काण्ट ने आत्म को समन्वयात्मक (सिन्थेटिक) इसलिये कहा कि यह हमारे अनुभवों, विज्ञानों को एक सूत्र में बांधता है। इसलिये अनुभवों में एकरूपता दिखाई देती है। आत्मा एक है, अनेक नहीं है।

आत्मा ज्ञेय नहीं, ज्ञाता है। ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं बनता। कहा भी है— The subject can not be reduced to an object. ज्ञाता न हो तो ज्ञान संभव नहीं है। संग्रहण, समन्वय, सम्बन्ध, सार्वभौमता, नियम, नियमितता आदि सब ज्ञाता के कारण ही अस्तित्व में हैं। काण्ट की मान्यता जैन दर्शन से कहीं समानता रखती है, कहीं असमानता।

काण्ट ने आत्मा को अमूर्त स्वीकार किया है। जैन दर्शन भी आत्मा को अमूर्त ही कहता है। काण्ट के मत में परमार्थ आत्मा पूर्ण है, जैन दर्शन में समस्त कर्मों से मुक्त आत्मा पूर्ण है। असमानता के बिन्दु हैं— काण्ट ने आत्मा को केवल ज्ञाता रूप कहा है, जैन दर्शन ज्ञाता और ज्ञेय उभय रूप मानता है। काण्ट ने आत्मा को अप्रत्यानुभूति (Apperception) रूप मानकर ज्ञान के सभी माध्यमों को नकार दिया। जैन दर्शन ने आत्मा के ज्ञान को प्रमाण द्वारा स्वीकार किया है। जैन दर्शन के अनुसार सत् मात्र का ज्ञान संभव है। अज्ञेय सत् कुछ भी नहीं। काण्ट ने एकात्मवाद को महत्त्व दिया, जैन दर्शन में अनंत आत्माओं की मान्यता है। प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्माएं हैं। जैन दर्शन में आत्मा का सूक्ष्म

विश्लेषण है। काण्ट ने सूक्ष्म विवेचना की कोशिश अवश्य की है किन्तु उसका अमूर्त एकता और अज्ञेय सत् आलोचना का विषय बना हुआ है।

काण्ट ने जिस अमूर्त एकता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को मान्य किया है, वह अनेकता के बिना व्यर्थ है। एक तरफ वह आत्मा को बुद्धि से परे का तत्त्व मानता है, दूसरी ओर आत्मा के विषय में सोचना, विचारना आदि बुद्धि का व्यायाम भी करता है। दोनों के बीच स्पष्ट विरोधाभास है।

वह आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसे अज्ञेय भी कहता है। यह कहां तक उचित है? जेम्सवार्ड के मत से काण्ट की अमूर्त आत्मा किसी अक्षर पर एक बिन्दु के समान है जिसका अक्षर से अलग कोई अर्थ नहीं है। काण्ट का आत्म विषयक प्रत्यय (The theory of nominal self) कहलाया है।

बर्कले (1685 ई. से 1753 ई.)

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में बर्कले का एक स्थान है। देकार्त के समान बर्कले भी आत्मा को सिद्ध करते हैं। आत्मा ज्ञाता है। ज्ञान का अधिष्ठान है। विज्ञान या प्रत्यय इसका विषय है। बर्कले ने ज्ञाता को ही मन (Mind), आत्मा (Soul) तथा अहं (Mind Self) आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है।

बर्कले ने आत्मा को जानने के लिये स्वानुभूति को प्रमाण माना है। आत्मा न मानें तो विधि या निषेध—किसी भी प्रकार उस संदर्भ में चर्चा निरर्थक होगी। कुछ बिन्दुओं द्वारा अस्तित्व को पुष्ट किया है—

१. आत्मा विज्ञान से भिन्न है। विज्ञान ज्ञेय है। आत्मा ज्ञाता है।
२. आत्मा स्वानुभूति गम्य है।
३. आत्मा सक्रिय है। स्वसंवेदनाओं की सृष्टि आत्मा का कार्य है।
४. आत्मा, सभी मानसिक क्रियाओं का आधार है।
५. अन्य आत्माओं का ज्ञान बुद्धि से हो जाता है किन्तु अपनी आत्मा का अस्तित्व बोध सद्यः अनुभूति से संभव है।^६

बर्कले ने जैन दर्शन की तरह आत्मा को ज्ञाता, अनुभूतिगम्य, सक्रिय माना है। बर्कले ने विश्व की समग्र सत्ता को तीन भागों में विभक्त किया है—आत्मा, परमात्मा और पदार्थ। यह सत्ता का वर्गीकरण आत्म-अस्तित्व की स्वीकृतिमूलक अवधारणा है।

मैक्डॉनल, शोपेनहावर, लेसिंग, हर्डर आदि पश्चिम के चिन्तकों ने आत्मा की मौलिकता एवं अविनाशिता को स्वीकार किया है।

नोबल पुरस्कार विजेता प्रो.ई.पी. विगनर ने कहा—“आधुनिकी भौतिकों के समीकरणों से चेतना की संरचना, स्थिति एवं उतार-चढ़ावों की व्याख्या नहीं हो सकती।”

ए.एस. एडिंग्सन का मत है—“संपूर्ण सृष्टि में एक असाधारण शक्ति काम कर रही है किन्तु हम नहीं जानते क्या कर रही है। वह युग आयेगा जब विज्ञान, अज्ञात, अज्ञेय के बंद द्वार खोलने में समर्थ होगा। मैं मानता हूँ, चेतना ही प्रमुख आधारभूत वस्तु है।”

स्पिनोजा के अनुसार “चेतना एक है परन्तु चेतना के असंख्य रूप हैं और प्रत्येक रूप आत्मा है।”

जे.वी.एस. हाल्डेन के शब्दों में—“जगत का मौलिक जड़ (Matter), बल (Force) अथवा भौतिक पदार्थ न होकर मन या चेतना ही है ?”⁹

शरीर विज्ञाता सर चार्ल्स शैरिंग्टन ने लिखा—“चेतना की परीक्षा हम ऊर्जा मापक यंत्रों से नहीं कर सकते। उसके परीक्षण के लिये भौतिकी के नियम, उपकरण निरर्थक ही सिद्ध होंगे ?”¹⁰

आत्मा के संदर्भ में प्राच्य दार्शनिकों की तरह पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी हेतुओं-युक्तियों द्वारा समर्थन किया है। जड़ से भिन्न चेतना की सत्ता है।

देहात्मवाद की समस्या

शरीर और आत्मा एक हैं या दो ? दार्शनिकों के समक्ष देहात्म की समस्या प्रमुख समस्या है। जीव चेतन है। शरीर अचेतन। दोनों स्वतंत्र द्रव्य और विरोधी स्वभाव हैं। प्रश्न उठता है, विसदृश का परस्पर सम्बन्ध कैसे हुआ ? सम्बन्ध का सेतु क्या है ? शरीर एवं आत्मा सापेक्ष है या निरपेक्ष ? सहचारी हैं या विरोधी ? सहचारी हैं तो कब से ? विरोधी हैं तो मिलकर क्रिया कैसे करते हैं ?

इन प्रश्नों पर गंभीर चिन्तन-मन्थन हुआ। डेकार्ट, मेलेब्रान्स, स्पिनोजा, ग्यूलिंक्स, लाइबनीज आदि ने अपने-अपने ढंग से समाहित करने का प्रयत्न किया है।

द्वैतवादियों को इनका समाधान देना आवश्यक हो गया। गौतम बुद्ध से पूछा गया—आत्मा और शरीर में भेद है या अभेद ? उन्होंने भेद-अभेद दोनों को स्वीकार न करके केवल मध्यम मार्ग को ही श्रेष्ठ बतलाया।

भगवती में महावीर-गौतम संवाद इस समस्या का सही समाधान है। शरीर आत्मा है या आत्मा से भिन्न तत्त्व है ? गौतम के इस प्रश्न को अनेकांतिक शैली से उत्तरित किया। महावीर ने कहा—गौतम ! शरीर आत्मा भी है, आत्मा से भिन्न तत्त्व भी है। आत्मा चेतन है। शरीर जड़ है। जड़-चेतन कभी एक नहीं होते। इस दृष्टि से भिन्न हैं। आत्मा की पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति का माध्यम शरीर है। इस दृष्टि से अभिन्न है।

इस प्रकार आगम साहित्य में आत्मा के बारे में काफी वर्णन मिलता है। आचार्य जिनभद्र, वीरसेन, सिद्धसेन, कुंदकुंद आदि ने भी भेदाभेद पर प्रकाश डाला है। ध्वला में इसे स्पष्ट करने वाली कुछ युक्तियां उपलब्ध हैं, जैसे—

१. शरीर और जीव भिन्न हैं क्योंकि शरीर सादि-सांत है। जीव अनादि-अनंत है।
२. सभी शरीरों में जीव का अनुगम होता है किन्तु शरीर का अनुगम नहीं होता।
३. शरीर का छेदन-भेदन, दहन होता है, जीव का नहीं।^९

तीसरे गणधर वायुभूति के मन में यही संशय था—‘जीव शरीर से भिन्न है या अभिन्न?’ आगम युग और दर्शन युग—दोनों युगों में यह विषय चर्चित रहा है।

आधुनिक युग में देकार्त का द्वैतवाद विख्यात है। देहात्म समस्या के समाधान के लिये उसने काफी योगदान दिया है और नये ढंग से व्याख्या की है। पहले दार्शनिकों के मत से आत्मा और शरीर एक ही तत्त्व के दो पहलू के रूप में थे। दोनों सापेक्ष थे। देकार्त ने दोनों को निरपेक्ष रूप में स्वीकार किया है। शरीर भौतिक गुणों का विस्तार है। आत्मा चैतन्य गुण है, आत्मा अमूर्त है, शरीर मूर्त है, आत्मा अभौतिक है, शरीर भौतिक है, आत्मा द्रष्टा है, शरीर दृश्य है, इन विपरीत गुणों से आत्मा और शरीर की भिन्नता सिद्ध है।

महान दार्शनिक प्लेटो ने भी व्यवहार और परमार्थ, वस्तु और विज्ञान, ऐन्द्रिय और प्रत्यक्ष जगत, आत्मा और शरीर का द्वैत स्वीकार किया है।

अन्तर्क्रियावाद

अरस्तु ने भी द्रव्य और आकार के द्वैत का प्रतिपादन किया है। देकार्त से पूर्व स्पिनोजा का मन्तव्य अलग था। वह अद्वैतवादी होने से शरीर और मन को

अलग नहीं मानता था। देकार्त ने दोनों की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार की। दोनों का अंतर कई बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया है—

आत्मा	शरीर
विवेकी	अविवेकी
अविभाज्य	विभाज्य
अमूर्त	मूर्त
चित्	अचित्
चेतन	अचेतन
अभौतिक	भौतिक
द्रष्टा	दृश्य

यह मान्यता दर्शन जगत में अन्तर्क्रियावाद के नाम से प्रसिद्ध है।

शरीर और आत्मा की इतनी निरपेक्षता में भी परस्पर होने वाले कार्य सहज प्रश्न पैदा करते हैं कि परस्पर क्रिया कैसे होती है? मन का शरीर पर और शरीर का मन पर प्रभाव कैसे पड़ता है ?

देकार्त ने शरीरशास्त्रीय दृष्टि से समाधान दिया कि दोनों का परस्पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन दोनों का सम्बन्ध सेतु मस्तिष्क के अग्रभाग में स्थित पीनियल ग्रन्थि है। ऐच्छिक कार्यों के अवसरों पर आत्मा प्रवर्तक होता है। आत्मा क्रियाशील होता है। उससे पीनियल सक्रिय हो जाता है। फलतः मस्तिष्क और शरीर गतिशील हो उठते हैं। पुरातत् नाड़ी के माध्यम से शरीर और आत्मा आपस में क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। यही अन्तर्क्रियावाद का पर्याय है।

लाइवनीज मन और शरीर में कार्य-कारण भाव स्थापित कर इस उलझन को सुलझाने की दिशा में बढ़ा है। उसके मत से शरीर और मन स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी क्रियाएं करते हैं। शरीर का कार्य नियत कारणों से होता है, उसी प्रकार मानसिक कार्य भी अपने विशिष्ट कारणों से संपादित होते हैं। दोनों में कोई किसी को प्रभावित नहीं करता। लाइवनीज ने घड़ी के उदाहरण से स्पष्ट किया। एक घड़ीसाज दो अलग-अलग घड़ियां बनाकर उनमें ऐसी व्यवस्था देता है जिससे दोनों समान रूप से समय को सूचित करती हैं। उसी प्रकार ईश्वर ने शरीर और मन की रचना इस प्रकार की है कि एक में जो घटित होता है उसकी प्रतिक्रिया दूसरे में झलकती है। शरीर और मन मूलतः स्वतंत्र हैं। उनमें क्रिया-प्रतिक्रिया का आधार पूर्व स्थापित सामंजस्य है।

हमारा प्रतिपाद्य है जीव और पुद्गल के बारे में चिंतन जो शरीर और मनस की मान्यता से आंशिक रूप से तुलनीय है। व्यवहार के स्तर पर कभी-कभी मन को चेतना के रूप में समझ लिया जाता है किन्तु वस्तुवृत्त्या मन पुद्गल रूप ही है। अतः जीव और पुद्गल भिन्न-भिन्न हैं।

रेने देकार्त ने मांडू और बॉडी, मनस (आत्मा) और शरीर—दोनों की क्रिया, स्वभाव और स्वरूप में भिन्नता का प्रतिपादन किया है। जड़ का लक्षण विस्तार है और चेतन का लक्षण है विचार। उसने कहा—

The mind or soul of a man is entirely different from body. देकार्त ने घोड़ा और घुड़सवार के उदाहरण से इस सिद्धान्त को पुष्ट किया है। घुड़सवार एड़ लगाकर घोड़े की गति में वेग उत्पन्न करता है। वैसे ही मन भी शारीरिक क्रियाओं को उत्तेजित करता है। घोड़े को अपनी इच्छा के अनुकूल गतिशील देखकर घुड़सवार प्रसन्न होता है। वैसे ही शरीर की गति देखकर आत्मा भी प्रसन्नता की अनुभूति करता है।

देकार्त के इस स्पष्टीकरण में दृष्टान्त और द्राष्टान्त का अंतर है। घोड़े और घुड़सवार का दृष्टान्त ठीक नहीं जंचता, क्योंकि दोनों का उद्देश्य समान है जबकि जड़-चेतन में किसी प्रकार का साम्य नहीं, परस्पर विरोधी हैं। इसलिये देकार्त के अन्तर्क्रियावाद में कठिनाइयां आती हैं—

शरीर की कुछ क्रियाओं में मानसिक क्रिया क्यों नहीं होती? जैसे—

१. रक्त प्रवाह शारीरिक क्रिया है पर मन उससे प्रभावित नहीं होता। न कोई प्रतिक्रिया भी करता है।
२. आत्मा अमूर्त है तो पीनियल ग्लैण्ड में कैसे रह सकती है?
३. शरीर और आत्मा एक दूसरे के विरुद्ध हैं तो आपस में अन्तर्क्रिया कैसे होती है? और एक में क्रिया होने से दूसरे में प्रतिक्रिया करने की भावना पैदा क्यों नहीं होती?

देकार्त इन प्रश्नों का समुचित समाधान नहीं दे सका। जीवनभर इस विषय पर चिन्तन किया मगर निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाया। अतः देहात्मवाद की समस्या उसके दर्शन की उलझी हुई समस्या है।

देहात्मवाद पर भिन्न-भिन्न विचार प्रकाश में आये। उन्हें चार भागों में विभक्त किया गया है—

१. क्रिया-प्रतिक्रियावाद	Inter-actionism
२. निमित्तवाद	Occasionalism
३. समानान्तरवाद	Parallelism
४. पूर्व स्थापित सामंजस्यवाद	Pre-established Harmony

निमित्तवाद (Occasionalism)

इसका समाधान आरनॉल्ड ग्यूलिक्स तथा निकोलस मेलेब्रान्स ने नये ढंग से किया। दोनों देकार्त के अनुयायी थे। इनका काल (१६२४-१६६९ ई. से १६३८-१७१५ ई.) है। इनके चिंतन का उद्देश्य था क्रिया-प्रतिक्रियावाद में आये दोषों का निराकरण किन्तु सफल नहीं हो सके। इन्होंने देकार्त के कार्य-कारणवाद, लाइबनीज के पूर्व स्थापित सामंजस्य को मान्यता नहीं दी।

उनकी धारणा थी-शरीर और आत्मा के रचयिता ईश्वर ने इस ढंग से रचना की है कि एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। इसमें कार्य-कारणवाद की अपेक्षा नहीं किन्तु समस्या का समाधान देनेवाला यह सिद्धांत भी निर्दोष नहीं रह सका।

इस चिंतन के सामने प्रश्नचिह्न लग गया कि यदि ईश्वर ही सब-कुछ है तो मानवीय स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व की कोई मूल्यवत्ता नहीं रह जाती। यदि आत्मा का ज्ञान और शरीर की गति-क्रिया का निमित्त ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं। इससे फलित होता है, मानव का अपना कुछ भी नहीं।

दूसरा तथ्य यह है कि ईश्वर ही सर्वेसर्वा है। अन्याय, अनीति, पाप आदि का अस्तित्व क्यों? न्याय के साथ अन्याय, शुभ के साथ अशुभ, उचित के साथ अनुचित भी देखा जाता है। इस अराजकता और अव्यवस्था के परिवेश में ईश्वर के सर्वशक्तिमान होने की कल्पना कैसे की जाये? इन जिज्ञासाओं का समाधान ग्यूलिक्स और मेलेब्रान्स ने भले ही अपने ढंग से किया हो किन्तु सटीक एवं न्यायसंगत तथ्य नहीं होने से वे निमित्तवाद की रक्षा नहीं कर सके। किन्तु इतना कह सकते हैं देकार्त के द्वैतवाद को कमजोर कर स्पिनोजा के अद्वैतवाद की प्रशस्त भूमि तैयार करने में सफलता जरूर मिली है।

समानान्तरवाद (Parallelism) (1632 ई. से 1677 ई.)

स्पिनोजा ने अपने ग्रंथ एथिक्स में कहा-देह और आत्मा पूर्ण रूप से स्वतंत्र द्रव्य नहीं हैं। दोनों का सम्बन्ध एक ही सत्ता से है। वह सत्ता है ईश्वर। उसने देकार्त के कार्य-कारण सम्बन्ध को भी अस्वीकार कर दिया। उसका

अभिमत था कि जहां दो द्रव्य होते हैं वहां कार्य-कारण सम्बन्ध रहता है। जब देह और आत्मा अलग ही नहीं तो कार्य-कारणवाद की उपयोगिता ही क्या? दोनों समानान्तर हैं। दोनों संयोगी नहीं, सहयोगी हैं। सहयोगी और समानान्तर होने के कारण जो-कुछ आत्मा में घटित होता है वही शरीर में और जो शरीर में घटित होता है वही आत्मा में घटित होता है। जैसे शरीर में कोई बीमारी होती है तो मन में तदनुरूप विचार उठता है।

अतः समान स्तर होने से एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। किन्तु दोनों भिन्न नहीं, एक ही ईश्वर के अंश हैं। देकार्त के द्वैतवाद से स्पिनोजा सहमत नहीं था। वह अद्वैतवाद का समर्थक रहा।

किन्तु उसका समानान्तरवाद भी अनेक कठिनाइयों से घिरा हुआ है। पहली कठिनाई यह है कि देह और आत्मा एक ही ईश्वर के अंश हैं। फिर एक-दूसरे के बाधक नहीं होने चाहिए। लेकिन मानसिक क्रिया में शारीरिक बाधा देखी जाती है।

दूसरी बात यह है—जहां शारीरिक क्रिया है वहां मानसिक क्रिया अवश्य होगी, चाहे कितनी भी भिन्न हो। इससे तो शरीर की क्रियाओं में ही नहीं, भौतिक तत्त्वों में भी मनस् की सत्ता को मान्य करना पड़ेगा जो हृदयंगम होने जैसा तथ्य नहीं। अतः देहात्म समस्या से जुड़ा यह सिद्धांत सही नहीं लगता क्योंकि उसके पास भी उचित समाधान नहीं है।

पूर्व स्थापित सामंजस्य (Pre-established Harmony)

(1646 ई. से 1716 ई.)

बहु-तत्त्ववादी लाइबनीज की अवधारणा देकार्त, स्पिनोजा, ग्यूलिक्स, और मेलेब्रान्स से अलग है। वह आत्मा और शरीर को न तो पृथक् मानता है, न एक द्रव्य का गुण। अपितु दोनों को चैतन्य रूप मानता है।

उसने दुनिया में एक चेतना की सत्ता ही स्वीकार की है। लाइबनीज ने कहा—जड़ में भी ईषत् चेतना रहती है। उन्होंने जड़-चेतन का भेद नहीं माना। देह के चिदणु और आत्म चिदणु परस्पर निर्भर नहीं हैं। इनमें परस्पर कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती। न समानान्तर गुण हैं। केवल पूर्व स्थापित सामंजस्य है। देह-आत्मा के सम्बन्ध में उसने ईश्वर की इच्छा को अपेक्षित नहीं समझा। स्पिनोजा ने ईश्वर के योगदान को स्वीकार किया। लाइबनीज का ईश्वर इतना सक्षम है कि उसे बार-बार सम्बन्ध हेतु हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता बल्कि ऐसी व्यवस्था है जिससे सदा सामंजस्य बना रहता है।

लाइबनीज के चिदणु निरपेक्ष तथा स्वतंत्र होकर भी एक दूसरे के सहयोगी हैं। इस आधार पर ही संसार में व्यवस्था है। एक नियम है। नियम, व्यवस्था, एकता और सामंजस्य का मूल कारण ईश्वर है। ईश्वर द्वारा निर्मित सामंजस्य सृष्टि से पूर्व का है।

लाइबनीज के पूर्व स्थापित सामंजस्य सिद्धांत में भी कई विसंगतियां हैं। उसके मत से यदि चिदणु गवाक्षहीन, रन्ध्रहीन हैं, एक-दूसरे से अप्रभावित हैं तो फिर इनमें पूर्व स्थापित सामंजस्य क्यों? यदि पूर्व स्थापित सामंजस्य है तो एक-दूसरे से अप्रभावित कैसे?

यदि चिदणु अनादि, अनन्त और नित्य हैं तो आत्म चिदणु और शरीर चिदणु भी ऐसे ही होने चाहिएं फिर ईश्वर द्वारा निर्मित पूर्व स्थापित सामंजस्य कैसे उचित होगा?

शरीरात्मवाद की समस्या दार्शनिक जगत् की बड़ी समस्या है। देकार्त, ग्यूलिंक्स, मेलेब्रान्स, स्पिनोजा, लाइबनीज आदि पाश्चात्य दार्शनिकों ने अपने-अपने तरीके से समाहित करने का प्रयास किया किन्तु निर्विवाद और न्यायसंगत समाधान नहीं दे सके।

जैन दर्शन द्वैतवाद का पक्षधर है। इसके अनुसार जड़-चेतन दोनों विश्व व्यवस्था के नियामक तत्त्व हैं। दोनों स्वतंत्र हैं। चेतन-अचेतन का परस्पर अत्यन्ताभाव है। फिर भी आपस में सम्बन्ध है। भगवती सूत्र में सम्बन्ध सेतुओं का निरूपण उपलब्ध होता है। “अत्थि णं जीवा य पोग्गला य अण्णमण्ण बद्धा, अण्णमण्ण पुट्ठा, अण्णमण्ण-मोग्गद्धा, अण्णमण्ण सिणेह पडिबद्धा, अण्णमण्ण घडत्ताए चिट्ठइ।” जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध हैं, स्पृष्ट हैं, अवगाहित हैं, स्नेह से प्रतिबद्ध हैं। जीव में धन शक्ति, पुद्गल में ऋण शक्ति है, अतः परस्पर मिल जाते हैं।

जीव स्वरूप से अमूर्त है किन्तु बद्धावस्था की अपेक्षा से मूर्त भी है। यही कारण है सम्बन्ध होने का। जीवन का सेन्द्रिफ्युगल, पुद्गल का सेन्द्रिपिटल आकर्षण है। जीव-पुद्गल दोनों में भोग्य-भोक्तृ भाव है। जीव भोक्ता है, पुद्गल भोग्य।

जीव और शरीर का परस्पर भेदाभेद है। सर्वथा अभेद मानने से दोनों एक रूप होंगे। भेद मानें तो परस्पर कभी मिल नहीं सकते अतः अपने विशेष गुणों के कारण भेद, सामान्य गुणों से अभेद भी है।

भगवान महावीर ने आत्मा को शरीर से भिन्नाभिन्न कहा है। यह सापेक्ष दृष्टि है। भगवती में गौतम ने महावीर से इस संदर्भ में प्रश्न उठाया है—‘आया भंते ! काये ? अण्णे काये ? गोयमा ! आया वि काये, अण्णे वि काये ?’

शरीर और आत्मा में कोरा भेद या कोरा अभेद—ये दो विरोधी दिशाएं हैं। दोनों में समन्वय स्थापित करने के लिये ही महावीर ने भेदाभेद का निरूपण किया है। शरीर नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है।

आत्मा और शरीर एक दृष्टि से भिन्न हैं। संसार अवस्था में अग्नि-लोह पिण्डवत्, क्षीर-नीरवत् दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है। इसलिये शरीर से सम्बन्धित सारा संवेदन आत्मा में होता है। व्यवहार जगत में भी मानसिक क्रिया का असर शरीर पर देखा जाता है। क्रोध आदि से रक्त दूषित हो जाता है। निराशा से पाचन शक्ति मंद हो जाती है। ईर्ष्या से अल्सर होता है। मेडिकल साइंस यह स्पष्ट प्रस्तुति देता है।

प्रश्न यह उभर कर सामने आ जाता है कि आत्मा और शरीर विजातीय तत्त्व हैं। जड़ और चेतन का स्वभाव भिन्न है। ऐसी स्थिति में दोनों में अंतः क्रिया कैसे होती है ? यह प्रश्न वहां उठता है जहां जीव को सर्वथा अमूर्त माना जाता है। जैन दर्शन की दृष्टि में हर संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त है। इसलिये मूर्त के द्वारा मूर्त के आकर्षण में कहीं कोई कठिनाई नहीं आती है।

आत्मा और देह का सम्बन्ध समझने के लिये टेलीविजन सेट और हार्ड फ्रिक्वेन्सी विद्युत चुम्बकीय तरंग का उदाहरण पर्याप्त होगा। टेलीविजन सेट के परदे पर प्रतिबिम्बित सजीव आकृतियों की हलन-चलन तथा उसमें से प्रसारित ध्वनि का मूल क्या है ?

इसका रिसर्च करने के लिये पूरे सेट को खोल कर गहराई से निरीक्षण किया जाये तो विविध ट्यूबें, ट्रांसफॉर्मर आदि अवयव मिलते हैं। वे चित्रों और ध्वनि को अभिव्यक्ति देने में सहायक जरूर होते हैं किन्तु दोनों का मूल कुछ और है, जिसका कार्य हमें दिखाई पड़ रहा है। किन्तु स्वयं अदृश्य हैं। वे हैं टेलीविजन की हार्डफ्रिक्वेन्सी तरंगें। उनके अभाव में नया सेट भी क्यों न हो, न चित्र उठेगा, न ध्वनि का प्रसारण भी।

इन्द्रियों से उन तरंगों को देख नहीं सकते किन्तु टेलीविजन सेट में प्रविष्ट होकर अभिव्यक्त होती हैं। आत्मा, इसी प्रकार इन्द्रियों का विषय नहीं, शरीर रूपी सेट में प्रविष्ट होती है, तब उसके कार्य द्वारा अस्तित्व की सिद्धि

प्रत्यक्ष है। शरीर रूपी सेट के मस्तिष्क रूप ट्रांसफॉर्मर और परदे हैं। उन पर ज्ञान की ऊर्मियाँ, अनुभूति, स्मृति आदि अभिव्यक्त होते हैं। मस्तिष्क मूल शक्ति नहीं, मूल शक्ति है—चेतना (आत्मा) जो हाई फ्रिक्वेन्सी तरंग की तरह अदृश्य रहकर कार्य करती है। चैतन्य शक्ति के बिना शरीर-सेट सक्रिय नहीं हो सकता।

टेलीविजन सेट का उपयोग करते-करते द्यूबें घिस जाती हैं। ट्रांसफॉर्मर बिगड़ जाता है तो तरंगें मृत सेट से प्रसारित नहीं होतीं। नये सेट का आश्रय पाकर उस सेट के परदे को सजीव बना देती हैं। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध भी ऐसा ही है। आत्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिए अयोग्य और जीर्ण शरीर का त्याग कर नया शरीर चुन लेती है। पूर्व शरीर का नाश होने से उस पर कोई असर नहीं पड़ता। केवल अभिव्यक्ति के लिये शरीर की अपेक्षा है।

जैसे—टेलीविजन से हाईफ्रिक्वेन्सी विद्युत तरंगें भिन्न हैं वैसे ही शरीर और आत्मा भिन्न हैं।

पाश्चात्य देहात्म सम्बन्ध, जैन दर्शन

क्रिया-प्रतिक्रियावाद का प्रवर्तक देकार्त, निमित्तवाद का ग्यूलिक्स तथा मेलेब्रान्स, समानान्तरवाद का स्पिनोजा और पूर्व स्थापित सामंजस्यवाद का लाइबनीज। इन्होंने देहात्म सम्बन्ध में किसी-न-किसी रूप में ईश्वर को मुख्यता दी है। जैन दर्शन ने ईश्वर को मान्य नहीं किया, उसके स्थान पर कर्म को प्रतिष्ठित किया है।

जब आत्मा राग-द्वेषादि भावों से कर्म का बंधन करता है, शब्द से ऐसा अभिव्यंजित होता है कि आत्मा ने ही कर्मों को बांधा है, कर्मों ने आत्मा को नहीं। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। जिस प्रकार आत्मा कर्मों को बांधता है, उसी प्रकार कर्म भी जीव (आत्मा) को बांधते हैं। पंचाध्यायी में कहा है—‘जीवः कर्म निबद्धो हि जीव बद्धं हि कर्म तत्’ (१०४)

आत्मा मूर्त कर्मों का अवगाहन करता है। उस परिपाक को पाकर मूर्त कर्म भी आत्मा का विशिष्ट रूप से अवगाहन करते हैं।

देकार्त ने आत्मा और शरीर को पूर्ण विरोधी माना है किन्तु जैन दर्शन में पूर्ण विरोध नहीं। शुद्धात्मा शरीर से मुक्त होती है। उसका शरीर से विरोध है। संसारी आत्मा का विरोध नहीं क्योंकि संसारी आत्मा कर्मण शरीर से मुक्त

नहीं हो सकती। देकार्त ने आत्मा का निवास पीनियल में कहा है। यह संगत नहीं। जैन दर्शन आत्मा को शरीर-परिमाण मानता है।

क्रिया-प्रतिक्रियावाद के संदर्भ में जैन दर्शन का अभिमत है कि शरीर और आत्मा एक-दूसरे से प्रभावित हैं।

ग्यूलिक्स एवं मेलेब्रान्स का निमित्तवाद पूर्ण रूप से ईश्वराधीन है। जैन दर्शन ने इस समस्या का समाधान ईश्वर पर नहीं छोड़ा। विश्व-वैचित्र्य का कारण ईश्वर नहीं, कर्म को स्वीकार किया है।

स्पिनोजा शरीर और आत्मा को भिन्न न मानकर ईश्वर का अंश मानता है जो एक ही भू-भाग से बहने वाली दो धाराओं की तरह है और उद्गम स्थल की एकता से परस्पर सम्बन्धित है।

जैन दर्शन इससे सहमत नहीं कि शारीरिक और मानसिक क्रियाएं समानान्तर चलती हैं। जैन दर्शन की धारणा इससे अलग है। जैन दर्शन कहता है—जहां पुद्गल का विस्तार है वहां आत्मा की उपस्थिति अवश्य है। आत्मा शरीर का नियामक तत्त्व है, समानान्तर नहीं।

लाइबनीज ने पूर्व स्थापित सामंजस्यवाद में देह और आत्मा—दोनों को चेतन कहा है। इनके निर्माण से पूर्व ही ईश्वर ने सामंजस्य स्थापित कर दिया। सारी क्रियाओं का आधार उसके अभिमत से ईश्वर है। किन्तु जैन दर्शन की धारणा में सब-कुछ ईश्वर है तो प्राणियों का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रह पाता। फिर तो वह ईश्वर के हाथ की कठपुतली बन जाएगा। व्यक्ति, काल और पुरुषार्थ का महत्त्व ही समाप्त हो जायेगा। जैन दर्शन को यह मान्य नहीं। उसके अनुसार काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ—पांचों का समवाय ही प्रत्येक क्रिया में निमित्त कारण है। निरपेक्ष एकान्तवाद यथार्थ नहीं है।

इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों ने देहात्म समस्या का जो समाधान दिया उसमें अतिवाद का ही पोषण लगता है। यहां जैन दर्शन के अनेकांतवादी चिन्तन में सही समाधान प्रतीत होता है। भगवती में आत्मा के गति, इन्द्रिय आदि दस परिणामी भाव का निरूपण है। वह आत्मा और शरीर का अभेद सूचित करता है। जीव को सवर्ण, सगंध कहा है जो इसी का साक्ष्य है तथा जीव को अरूपी और अकर्म कहा है—यह भेदाभेद की सच्चाई को प्रकट करता है।

जैन दर्शन में शरीर के पांच प्रकार माने हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कर्मण। उपनिषदों में आत्मा के पांच कोषों की चर्चा है—अन्नमय कोष

(स्थूल शरीर, जो अन्न से निष्पन्न है), प्राणमय कोष (शरीर के अन्तर्गत वायु तत्त्व), मनोमय कोष (मन की संकल्प-विकल्पात्मक क्रिया), विज्ञानमय कोष (बुद्धि की विवेचनात्मक क्रिया), आनन्दमय कोष (आनन्द की स्थिति)।^{१०} तत्त्वार्थ और ठाणांग में शरीर का विस्तृत वर्णन है।

शरीर की परिभाषा इस प्रकार है—“प्रतिक्षण शीर्यन्ते इति शरीराणि” जो प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता है, गलन स्वभाव है, संसारी आत्माओं का निवास स्थान है, जिसके द्वारा चलना-फिरना आदि गत्यात्मक क्रियाएं होती हैं, वह शरीर है।^{११}

अथवा—“पौद्गलिक सुख-दुखानुभव साधनं शरीरम्।” जो पौद्गलिक सुख-दुःख रूप अनुभूति का साधन है, वह शरीर है। जीव के शरीर की रचना, शरीर नाम कर्म के उदय से होती है। शरीर नाम कर्म पाँच प्रकार का है—औदारिक आदि।^{१२}

औदारिक शरीर—जो रक्त-मांस, अस्थि-मज्जा, रज आदि धातुओं और उपधातुओं से निर्मित है तथा वात-पित्त-श्लेष्म, स्नायु-शिरा, जठराग्नि प्रभृति इस शरीर की संपत्ति हैं। शरीर से आत्मा अलग होने पर भी यह शरीर टिका रहता है। इसका छेदन-भेदन भी हो सकता है। धातु-उपधातु के संतुलन पर इसका अस्तित्व रहता है। देवता और नारक जीवों के अतिरिक्त अन्य संसारी जीवों के यह शरीर होता है।

वैक्रिय शरीर—जिस शरीर से छोटे-बड़े, सूक्ष्म-स्थूल, एक रूप-अनेक रूप आदि विक्रियाएं की जाती हैं, वह वैक्रिय शरीर है। यह दिव्य गुण-ऋद्धियों से युक्त होता है।^{१३} एकत्व और पृथक्त्व ऐसे विक्रिया के दो प्रकार हैं। अपने शरीर को सिंह, व्याघ्र, हिरण, हंस आदि रूपों में परिवर्तित करना एकत्व विक्रिया है।

अपने शरीर से भिन्न मकान, नगर, मंडप आदि उपस्थित करना पृथक्त्व विक्रिया है। देवताओं और नारकी जीवों के ये शरीर भवोत्पन्न हैं। ये लब्धिजन्य भी होते हैं एवं प्रतिघातरहित हैं।

आहारक शरीर—चतुर्दश पूर्वधर मुनि अपनी जिज्ञासा समाहित करने हेतु दूर संचार में इसका प्रयोग करते हैं। तपस्या आदि विशिष्ट साधना से प्राप्त योग शक्ति से इस शरीर का निर्माण होता है। गति अप्रतिहत है। उत्पत्ति स्थान है—मस्तिष्क।^{१४} शरीर का वर्ण अति विशिष्ट शुभ स्फटिक के समान अति धवल होता है। आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

तैजस शरीर—तेजपुंज पुद्गलों से निर्मित तैजस शरीर है। प्राणी मात्र के शरीर में विद्यमान उष्णता से इसकी सिद्धि होती है। यह पाचन, सक्रियता एवं तेजस्विता का मूल है। इससे प्राण शक्ति उत्पन्न होती है जो स्थूल शरीर, श्वास, इन्द्रिय, वचन और मन को संचालित करती है। आभामंडल भी इसी से निर्मित होता है, तैजस शरीर सूक्ष्म शरीर है। इसके इलेक्ट्रॉन स्थूल शरीर के इलेक्ट्रॉनों से अधिक तीव्र गति से चलायमान होते हैं।

हमारे अर्जित कर्म संस्कारों के अनुसार तैजस शरीर स्पंदित होता है। प्राणधारा विकिरण करता है। स्वाभाविक तैजस शरीर सब में होता है किन्तु तपोलब्ध तैजस शरीर सब में नहीं होता। यह तपस्या द्वारा प्राप्य है। तपोजनित तैजस शरीर में अनुग्रह और निग्रह की शक्ति रहती है।^{१५}

वैज्ञानिक दृष्टि से यह एक शक्तिशाली बिजलीघर (पॉवर हाऊस) है। इसे एस्ट्रल बॉडी (सूक्ष्म शरीर) कहा जाता है। गामा, बीटा, अल्ट्रा, वायलेट, इन्फ्रारेड आदि विद्युत तरंगों का सुन्दर समन्वय है तैजस शरीर।

प्रत्येक व्यक्ति अपने श्वास से वायुमंडल स्थित विद्युत कणों को ग्रहण करता है। वे समस्त ऊतकों एवं कोषों को संपोषित कर पुनः त्वचा से निष्कासित हो वायुमंडल में व्याप्त हो जाते हैं। हृदय की धड़कन, मांसपेशियों का आंकुचन-प्रसारण, रसायन-हार्मोन्स का उत्पादन आदि इस विद्युत शरीर के क्रिया-कलाप हैं।

आधुनिक अनुसंधानों ने तैजस शरीर के अस्तित्व को अधिक पुष्टि दी है। यह शक्ति विकिरण का केन्द्र तथा पूरे स्थूल शरीर में व्याप्त रहता है। तैजस शरीर, जीव और स्थूल शरीर के बीच सेतु तथा संपर्क अधिकारी का कार्य करता है।

कार्मण शरीर—कर्म समूह से निष्पन्न कार्मण शरीर है। तैजस शरीर सूक्ष्म है। कार्मण अति सूक्ष्म शरीर है। तैजस और कार्मण—दोनों अभिन्न सहचारी हैं। दोनों के बीच इतनी अभिन्नता है कि एक-दूसरे से अलग नहीं रहते। कार्मण शरीर को कर्म शरीर या कारण शरीर (Causal body) भी कहते हैं। यह आठ कर्मों के पुद्गल समूहों का समवाय है, कर्मों का प्ररोहक^{१६}, उत्पादक एवं सुख-दुःख का बीज है।

कर्म शरीर संस्कारों का वाहक है। जन्म-जन्मान्तर की संस्कार परम्परा इसके साथ जुड़ी हुई है। व्यक्ति का चरित्र, व्यवहार, ज्ञान, व्यक्तित्व, कर्तृत्व पाश्चात्य एवं जैन दर्शन का प्रस्थान : समन्वय की भूमिका ————— ● ८५ ●

आदि सबका बीज कर्म शरीर में है। जेनेटिक साइंस के अनुसार व्यक्ति के आकार-प्रकार और संस्कार का आधार 'जीन्स' हैं। पैतृक संस्कारों के संवाहक इस 'जीन' की रचना डी.एन.ए. (Deoxyribo Nucleic acid) नामक स्कंधों से होती है।

प्रत्येक जीन शृंखला में ढाई अरब आधार कण के जोड़े होते हैं। व्यक्तित्व के निर्माण में ये मूलभूत कारण हैं। इनमें संगृहीत सूचनाओं का आनुमानिक परिमाण पुस्तकारूढ़ किया जाये तो पुस्तक की पृष्ठ संख्या पांच लाख तक पहुंच सकती है।

डॉ. स्टेनर^{१७} ने मनुष्य के भीतर चार शरीरों का निवास माना है—फिजिकल बॉडी, एथरिक बॉडी, एस्ट्रल बॉडी और ईगो। फिजिकल बॉडी को मृत्यु के बाद सूक्ष्म शरीर और ईगो छोड़कर चले जाते हैं। एथरिक बॉडी के विलीनीकरण में तीन दिन लगते हैं। जीव की सात स्थितियां भी बतलाई हैं—^{१८}

फिजिकल बोडी	भौतिक शरीर	Physical body
इथरिक बोडी	कारण शरीर	Etheric body
एस्ट्रल बोडी	सूक्ष्म शरीर	Astral body
मेन्टल बोडी	मानसिक शरीर	Mental body
स्प्रिच्युअल बोडी	चेतन शरीर	Spiritual body
कॉस्मिक बोडी	दिव्य शरीर	Cosmic body
बोडीलेस बोडी	जीवन मुक्त	Bodyless body

परामनोविज्ञान में 'सूक्ष्म शरीर न्युत्रिलोन कणों से निर्मित है। ये कण ऐसे हैं जिनमें भार नहीं है। विद्युत आवेश नहीं है। प्रस्फुटन नहीं है। इस आधार पर वैज्ञानिकों ने उन कणों को अभौतिक माना है। न्युत्रिलोन कण कोरे कण के रूप में नहीं देखे जाते। जब दूसरे कणों के साथ संघर्ष होता है तब पकड़ में आते हैं। वे सूक्ष्म परमाणु सूक्ष्म शरीर का निर्माण करते हैं। सूक्ष्म शरीर के द्वारा विचित्र घटनाएं घटित होती हैं।'^{१९}

उक्त सात शरीरों के भी अपने-अपने प्रभाव और कार्य हैं। भौतिक शरीर जन्मजात है, इन्द्रियगम्य है। कारण शरीर सूक्ष्म और अदृश्य है। सूक्ष्म शरीर के जागने से तर्क शक्ति, अनुभूति, विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण बढ़ता है। परिवेश के अनुसार इसका विकास होता है। कला, सौन्दर्य, विज्ञान, कल्पना,

वैचारिक एवं आध्यात्मिक क्रांति मानस शरीर के अवदान हैं। दिव्य शरीर की उपलब्धि, अतीन्द्रिय शक्तियों का विकास जीवनमुक्त अवस्था का सम्बन्ध परमात्मा से है।

महर्षि अरविंद ने कहा— स्थूल शरीर के अतिरिक्त अनेक सूक्ष्म शरीर हैं। उनके निर्माता हम ही हैं।

परमहंस स्वामी योगानंद के विचारों में— मानव आत्मा तीन शरीरों से आवेष्टित है। मनोमय कोष— कारण शरीर, सूक्ष्म प्राणमय कोष, जो मनुष्य की मानसिक और शारीरिक भावनात्मक प्रवृत्ति की लीलाभूमि है, अन्नमय कोष—भौतिक शरीर।

तैजस, कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इनकी गति में लोक की कोई भी वस्तु बाधक नहीं बनती। कर्म शरीर सब शरीरों का मूल है। स्थूल शरीर का सीधा संपर्क तैजस शरीर से है, तैजस शरीर का कर्म शरीर से है और कर्म शरीर का चेतना से है।

जीव और शरीर की चर्चा हर दर्शन में उपलब्ध है। औदारिक शरीर की अपेक्षा आत्मा मूर्त है। कार्मण की अपेक्षा अमूर्त। सापेक्ष दृष्टि से आत्मा और शरीर में भेदाभेद है।

प्रश्न होता है—आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कब से है? क्यों है? इस संदर्भ में दार्शनिकों के मतभेद हैं। सम्बन्ध के कारण भिन्न-भिन्न हैं। उनका विश्लेषण अगले अध्याय में किया जायेगा। यहां इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि शरीर और चेतना भिन्न धर्मक हैं। चेतन शरीर का निर्माता है। शरीर चेतना का अधिष्ठान है। इसलिये दोनों में क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। यही अनादि सम्बन्ध है। जड़-चेतन का संयोग संसार है। उनका वियोग मुक्ति है।

स्थिति परिमाण—औदारिक शरीर की कम से कम स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट तीन पल्पोयम की है। वैक्रिय शरीर की जघन्य स्थिति एक समय उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम की होती है। आहारक शरीर की जघन्य व अधिकतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। तैजस कार्मण की अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त है।

पारिभाषिक शब्दों में कार्मण शरीर को कर्म शरीर एवं शेष शरीरों को नोकर्म शरीर कहते हैं। तैजस और कार्मण शरीर जीव के साथ अनादिकाल से हैं। शेष तीन शरीरों का सम्बन्ध अस्थायी है।

जैनागम के अनुसार जिस प्राणी के शरीर का जितना आकार होता है। उसकी आत्मा का भी उतना ही आकार होता है, जैसे दीपक का प्रकाश स्थान के अनुसार संकुचित या विस्तृत होता रहता है। यही स्थिति आत्मा की है।

संदर्भ सूची

1. R Descartes, a Discourse on method, pp. 8,9।
2. Scrupulously to avoid precipitancy, and prejudice in judgement to accept nothing as true which can not be clearly recognised as such.....so clearly and so distinctly that I have no occasion for doubting it. —R Descartes
3. To divide each of the difficulties in to as many part's as may be required for its adequate solution —R Descartes
4. To develop an orderly connection of thinking starting with simple facts and gradually leading to more complex, problem. I may ascent little by little as it were step, to the knowledge of the more complex. . —R Descartes
5. In all cases to make enumerations so complete,
6. It must therefore be a substance; but it has been shown that there is no material substance. It remains therefore that the cause of ideas is an incorporeal active substance or spirit. —Berkeley Introduction
7. We comprehend our own existence by inward feeling or reflection and of other spirits by reasm.
8. Berkeley Introduction. Human Knowledge p. 140
९. धवला, पु. ९ पृ. २७९।
१०. सर्वार्थ सिद्धि ९।३६।१९४।४।
११. प्रज्ञापना शरीर पद २१।
१२. राजवार्तिक २।४७।४।, १५२।७।
१३. गोम्मटसार (जीव काण्ड) २३७।
१४. षट् खंडागम १४।५।
१५. घट-घट दीप जले (आचार्यश्री महाप्रज्ञ) पृ. ३९।
१६. ठाणं २।४३।
१७. After life पृ. १९३।
१८. आस्तिकता की दार्शनिक एवं वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पृ. ९२।

चतुर्थ अध्याय

कर्मवाद; उसका स्वरूप और वैज्ञानिकता

- भारतीय दर्शन में कर्म
- मनोविज्ञान एवं कर्म
- कर्म की विभिन्न अवस्थाएं
- कर्मों की विपाक प्रक्रिया
- आधुनिक विज्ञान एवं कर्म
- कर्मशास्त्र और शरीर विज्ञान
- आत्मा का आन्तरिक वातावरण, परिस्थिति के घटक
- जैन कर्मवाद, समन्वयात्मक चिन्तन
- कर्मवाद किसका समर्थक, नियतिवाद या पुरुषार्थवाद ?
- कर्मवाद का इतिहास
- जैन कर्म सिद्धांत और उसका विकास
- जैन कर्मवाद की लाक्षणिक विशेषताएं
- क्लोनिंग तथा कर्म सिद्धांत
- कर्म सिद्धांत और क्वान्टम् यांत्रिकी
- जैन कर्म सिद्धांत की छः अवधारणाएं

कर्मवाद; उसका स्वरूप और वैज्ञानिकता

मूर्त और अमूर्त, जड़ एवं चेतन, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध विचित्र है। दोनों का स्वभाव सर्वथा भिन्न है। फिर दोनों में सम्बन्ध कैसे हुआ ? कब हुआ ? सम्बन्ध होने में मूलभूत कारण क्या हैं ? ये प्रश्न जीवन के उषाकाल से ही मानव मस्तिष्क को झकझोरते रहे हैं। जिस प्रकार ये प्रश्न सनातन काल से चले आ रहे हैं उसी प्रकार इनका उत्तर साथ-साथ दिया जा रहा है। प्रत्येक चिन्तक ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार समाधान करने का प्रयास किया है।

जैन दर्शन इस संयोग को अनादि मानता है। इसमें पौर्वापर्य नहीं निकाला जा सकता। दोनों शाश्वत भाव से साथ-साथ चल रहे हैं। यह कोई जटिल समस्या नहीं, प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार एवं जीवात्मा को अनादि माना है। आत्मा अनादि काल से ही कर्मबद्ध और विकारी है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ने जगत को ईश्वरकृत मानकर भी संसार तथा चेतन एवं शरीर के सम्बन्ध को अनादि स्वीकार किया है। अनादि नहीं मानें तो कर्म सिद्धांत की मान्यता निर्मूल हो जाती है। यही कारण है कि उपनिषदों के टीकाकारों में शंकर को ब्रह्म और माया का अनादित्व मान्य करना पड़ा।

भास्कराचार्य ने सत्य रूप उपाधि का ब्रह्म के साथ अनादि सम्बन्ध, रामानुज, निम्बार्क एवं माध्व ने अविद्या को अनादि कहा है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति एवं पुरुष, बौद्धमत में नाम एवं रूप का सम्बन्ध अनादि है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म और उसका कार्य अनादि है वैसे ही जैन दर्शन में जीव और कर्म का संयोग अनादि है।

यदि कर्मों से पूर्व आत्मा को मानें तो उसके कर्म बंधन का कोई कारण नजर नहीं आता। कर्म को आत्मा से पूर्व कहा जाये तो कर्म का उत्पादक कौन था ? —प्रश्न खड़ा होता है। उसका समाधान किसी के पास नहीं होगा। अतः इनका सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी कहना ही उचित है। अनादि-निधन है।

पुद्गल में एक आकर्षण शक्ति है। धरती एवं नक्षत्रों का आकर्षण यथार्थ सत्य है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्युत् चुम्बकीय तरंगें व्याप्त हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण लोकाकाश^१ में कर्मण वर्गणा के परमाणु तरंगों के रूप में फैले हुए हैं।

आत्मा में पूर्व स्थित कर्म वर्गणा कषायों की न्यूनाधिकता के आधार पर आत्म-प्रदेशों को स्पंदित करती है। कंपन एवं स्पंदन क्रिया से कर्म-परमाणुओं में आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रिया चलती है। जो पुद्गल कर्म रूप में परिणत होते हैं उन्हें कर्मण वर्गणा कहते हैं। कर्म पुद्गल पदार्थ हैं, अचेतन हैं, किन्तु जब जीव के साथ संश्लिष्ट होते हैं तब उनकी स्थितिज ऊर्जा (Potential energy) बढ़ जाती है। कर्मों की स्थितिज ऊर्जा को गतिज ऊर्जा (Kinetic energy) में रूपान्तरित करने वाले मिथ्यात्व आदि आस्रव निमित्त हैं।

कर्म की अव्यक्त शक्ति जीव को बंधन में रखती है। वह शक्ति प्रकाश, ध्वनि और विद्युत तरंगों से सूक्ष्म और इलेक्ट्रॉन एवं प्रोटोन से अनंत गुणा सूक्ष्म है।

बंधन क्या है ?

इसका शाब्दिक अर्थ है—जुड़ना, बंधना, मिलना, संयुक्त होना।^२ बंध दो या दो से अधिक परमाणुओं का होता है। जीव अपने वैभाविक भावों से कर्म-परमाणुओं का बंध करता है। राग-द्वेष के योग से कर्म परमाणु आत्मा के साथ संपृक्त होने पर केमिकल कम्बिनेशन (Chemical Combination) रासायनिक सांयोगिक प्रक्रिया होती है उसे बंध कहते हैं। बंध भी पुद्गल की ही एक पर्याय है। जीव और कर्म का एक क्षेत्रावगाही हो जाना या दोनों का व्यवस्थाकरण ही बंध है।^३ बंध दो प्रकार का है—प्रायोगिक और वैस्रसिक।

जीव और कर्म का सम्बन्ध प्रयत्नसाध्य है इसलिये प्रायोगिक है। बादलों का संयोग वैस्रसिक है क्योंकि वह स्वाभाविक है।

उमास्वाति^४ के मन्तव्य से—कषाय भाव के कारण जीव का कर्म पुद्गलों में आक्रांत हो जाना ही बंध है। जैन दर्शन में बंधन की और अनेक परिभाषाएं उपलब्ध हैं। आचारांग में कर्म-स्रोतों की चर्चा विविध रूप में मिलती है। उसमें कहीं अतिपात स्रोत (हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह) को^५, कहीं त्रियोग रूप स्रोत^६ (मन, वचन, काया की प्रवृत्ति), कहीं मात्र हिंसा को^७, कहीं अज्ञान और प्रमाद को^८, कहीं राग को^९, कहीं मोह को^{१०}, कहीं लोभ, कहीं कामासक्ति को^{११} कर्म-स्रोत के रूप में माना है। जहां जैसा प्रसंग आया तदनु रूप उन

कारणों का उल्लेख है। द्वितीय^{१२} श्रुतस्कंध में भी कर्म बंधन के हेतुओं का निरूपण है। इससे सिद्ध है कि आचारांग सूत्र के आधार पर सम्पूर्ण लोक कर्मस्रोतों से परिव्याप्त है।

आत्मा के साथ कर्म का बंध कैसे होता है ? किन कारणों से होता है ? कर्म आत्मा के साथ कितने समय तक रहते हैं ? आत्मा के साथ लगे हुए कर्म कितने समय तक फलदान में असमर्थ हैं ? आदि अनेक प्रश्नों का समाधान कर्मवाद से ही संभव है।

अन्य दार्शनिकों ने कर्म बंध के संदर्भ में अनेक भिन्न-भिन्न कारणों को प्रस्तुति दी है।

भारतीय दर्शन में कर्म

वेदान्त में कर्म बंध का हेतु अज्ञान, सांख्य में ज्ञान का विपर्यय अज्ञान, बंध का हेतु है। न्याय-वैशेषिक में बंध के हेतु—राग-द्वेष, मोह हैं। राग से काम, मात्सर्य, स्पृहा, तृष्णा और लोभ—ये पांच दोष उत्पन्न होते हैं। द्वेष से क्रोध, ईर्ष्या, असूया, तृष्णा और आमर्ष आदि। इन दोषों से संसार बंध होता है। मोह इनमें प्रधान है क्योंकि मोह से ही अविद्या, राग-द्वेष का उद्भव है।

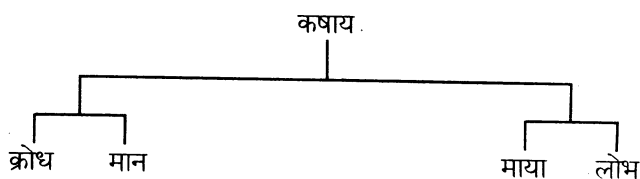
वैशेषिक दर्शन में अविद्या के चार कारण हैं—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, स्वप्न। योग दर्शन में बंध का कारण है—क्लेश। क्लेशों का मूल अविद्या है। सांख्य दर्शन का अविद्या शब्द, योग दर्शन के क्लेश के समकक्ष है। क्लेश पांच हैं^{१३}— तमस, मोह, महामोह, तामिस्र, अंधकार।

जैन दर्शन में बंध का हेतु आस्रव भी माना है। जैन आगम साहित्य में उसके पांच प्रकार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग। विपर्यय, क्लेश, अविद्या, और मिथ्यात्व इनमें काफी अर्थ-साम्य है। क्लेश पांच हैं, आश्रव भी पांच हैं। पांच क्लेशों की तुलना सांख्य के पांच तत्त्वों से भी की जा सकती है। जैसे—

सांख्य	योग	जैन दर्शन
अविद्या	तमस्	मिथ्यात्व
अस्मिता	मोह	अविरति
राग	महामोह	प्रमाद
द्वेष	तामिस्र	कषाय
अभिनिवेश	अन्ध तमिस्र	योग

अविद्या के चार पाद हैं—अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान है।

जैन दर्शन में कषाय के चार पाद हैं—



टीकाकारों ने क्रोध और मान को द्वेष तथा माया और लोभ को राग की संज्ञा दी है। प्रमाद को बंध का हेतु इसलिए माना कि वह एक प्रकार का असंयम है इसलिए अविरति या कषाय में समाहित हो जाता है। सूक्ष्मता से अध्ययन करें तो मिथ्यात्व एवं अविरति—दोनों कषाय के स्वरूप से भिन्न नहीं हैं।

कहीं-कहीं योग और कषाय को बंध का हेतु कहा है। योग, प्रकृति और प्रदेशबंध का निमित्त है। कषाय^{१४}, स्थिति और अनुभाग का कारण है।

नेमीचन्द्र शास्त्री सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा— जिस चैतन्य परिणाम से कर्म बंधता है, वह भाव बंध है। कर्म और आत्म-प्रदेशों का एक क्षेत्रावगाही हो जाना द्रव्य बंध है। कुल मिलाकर राग-द्वेष, कषाय या आश्रव—सभी आत्मा की वैभाविक अवस्थाएं हैं। विभाव बंध का कारक है।

मिथ्यादर्शन अज्ञान का सूचक है। आत्मा की मूढ़ दशा है। दर्शन मोह से युक्त है। अयथार्थ दृष्टिकोण ही मिथ्यात्व (इग्नोरेंस) है। मिथ्यात्व, सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी है। मिथ्यात्व के दो प्रकार हैं—विपर्यासात्मक और अनधिगमात्मक।

“यद्यपि जीवादि पदार्थेषु तत्त्वमिति निश्चयात्मकस्य सम्यक्त्वस्य प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं विविधमेव पर्यवस्यति—जीवादयो न तत्त्वमिति विपर्यासात्मकं। जीवादयोस्तत्त्वमिति निश्चयाभावं रूपानधिगमात्मकं च। तदाह वाचक मुख्यः अनधिगम विपर्ययौ मिथ्यात्वम् इति।” अर्थात् जीवादि तत्त्वों में निश्चयात्मक तत्त्व बुद्धि का नाम सम्यग्दर्शन है और इसका प्रतिपक्ष मिथ्यात्व है।

जीवादि तत्त्वभूत पदार्थों में अयथार्थ बुद्धि विपर्यासात्मक मिथ्यात्व है और जीवादि तत्त्वभूत पदार्थ है—ऐसा ज्ञान ही न हो, उस अज्ञान को अनधिगमात्मक मिथ्यात्व कहते हैं।

मिथ्यात्व के छह विकल्प हैं—

१. नास्त्येवात्मा आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है।
२. न नित्यात्मा आत्मा नित्य नहीं है।
३. न कर्ता आत्मा स्वयं कर्म का कर्ता नहीं है।
४. कृतं न वेदयति कृतकर्म का वेदन नहीं है।
५. नास्ति निर्वाणम् मोक्ष भी नहीं है।
६. नास्ति मोक्षोपाय मोक्ष प्राप्ति के उपाय भी नहीं हैं।

यह मिथ्या दृष्टि मिथ्यात्व आश्रव है। तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने आश्रव की परिभाषा इस प्रकार व्याख्यायित की है—“काय वाङ् मनः कर्म-योगः स आश्रवः”—काय, वचन और मन की क्रिया योग है। वही आश्रव है।

आश्रव के द्रव्यास्रव, भावास्रव—ऐसे दो विभाग और भी हैं। जीव की विकारी मनोदशा भावास्रव है। उस समय नए कर्म-परमाणुओं का स्वतः आत्मा के एक क्षेत्र में आना द्रव्यास्रव है। भावास्रव, द्रव्यास्रव का कारण है। द्रव्यास्रव कार्य है। कषायों के कारण भावास्रव की स्थिति तैलयुक्त शरीर जैसी और द्रव्यास्रव की स्थिति है उड़ती हुई धूल का शरीर पर चिपक जाना।

अविरति—(Want of self-restraint) अविरति यानी विरति का अभाव। भीतर में एक प्यास है, आग है, अतृप्त चाह है, कुछ पाने की अदम्य आकांक्षा है। उसका जो स्रोत है वही अविरति है। अविरति से चंचलता बढ़ती है, सक्रियता बढ़ती है। अथवा यों कह सकते हैं कि अमर्यादित एवं असंयत जीवन प्रणाली ही अविरति आस्रव है।

मनोविज्ञान में मन के तीन स्तर हैं— अदस मन, अहं मन, अधिशास्ता मन।

अदस मन—इसमें आकांक्षाएं पैदा होती हैं। जितनी भी प्रवृत्त्यात्मक आकांक्षाएं और इच्छाएं हैं वे सभी इसी मन से पैदा होती हैं।

अहं मन—समाज व्यवस्था की ओर से जो नियंत्रण प्राप्त होता है उससे आकांक्षाएं नियंत्रित हो जाती हैं। वे कुछ परिमार्जित हो जाती हैं। अहं मन इच्छाओं को क्रियान्वित नहीं करता।

अधिशास्ता मन—यह अहं पर भी अंकुश रखता है। अविरति यानी छिपी हुई चाह। विभिन्न प्रकार की तमन्नाएं हैं। उन्हें कर्मशास्त्र में अविरति

आस्रव कहा है। मनोविज्ञान की भाषा में उसे अदस् मन कहा जाता है। अदस् मन और अविरति समकक्ष हैं।

प्रमाद आस्रव (Inadvertance)

प्रमाद का अर्थ है— विस्मृति, मूर्च्छा, अनुत्साह। जागरूकता अप्रमाद है। जो अध्यात्म की जीवंत अनुमोदना है। प्रमाद, आत्म-विस्मृति है।^{१५} प्रमाद कर्म रूप है। ऐन्द्रियिक लोलुपता, तन्द्रा, मूर्च्छा, आवेग आदि प्रमाद के ही लक्षण हैं। जब तक मिथ्या दृष्टिकोण है, आकांक्षाएं बनी रहती हैं। आकांक्षाओं के परिवेश में स्व-विस्मृति अस्वाभाविक नहीं है।

कषाय आस्रव (Passions)

राग-द्वेषात्मक उत्ताप को कषाय कहते हैं। राग-द्वेष के कारण क्रोध (Anger), मान (Vanity), माया (Descitfulness), लोभ (Avarice)—ये चार मूल आवेग हैं। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, घृणा, काम आदि उप-आवेग हैं। इन आवेगों की पृष्ठभूमि में राग-द्वेषात्मक संवेदन काम करते हैं।

योग आस्रव (Activities of mind, speech and body)

मन, वचन और काया की क्रियाशीलता को योग कहते हैं। मन, इन्द्रियों का नियन्ता है। वचन अन्तस्थ भावों की अभिव्यंजना का माध्यम है। शरीर क्रियाशक्ति का केन्द्र है। इस सम्बन्ध में महावीर-गौतम का संवाद मननीय है।

भंते ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बंधन करता है ?

हां, गौतम !

भंते ! वह किन कारणों से कर्म बांधता है ?

गौतम ! उसके दो हेतु हैं— प्रमाद और योग।

भंते ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?

योग से।

भंते ! योग किससे उत्पन्न होता है ?

वीर्य, पराक्रम, प्रवृत्ति से।

भंते ! वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?

शरीर से।

भंते ! शरीर किससे उत्पन्न होता है ?

जीव से।^{१६}

तात्पर्य यह है कि शरीर का निर्माता जीव है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। आत्मा और शरीर के संयोग से उत्पन्न वीर्य को क्रियात्मक शक्ति कहा है। अतः शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म का बंध करता है। अतः दोनों बंध के कारण हैं। स्थानांग और प्रज्ञापना में कर्म बंध का कारण कषाय है।^{१७} समवायांग^{१८} में कषाय और योग, भगवती^{१९} में प्रमाद और योग तथा गोम्मत सार^{२०} में चार कारणों का उल्लेख है।

यदि बन्धनों के प्रमुख कारणों की मीमांसा करें तो मूलभूत तीन कारण हैं—राग-द्वेष, मोह। बौद्ध दर्शन में आस्रव तीन हैं—काम, भव, अविद्या। अविद्या-मिथ्यात्व, काम-कषाय और भव-पुनर्जन्म के समानार्थी शब्द हैं। आस्रव के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद नहीं है। बौद्ध दर्शन^{२१} में लोभ, द्वेष और मोह को भी बंधन का निमित्त माना है। बंधन की मूलभूत त्रिपुटी का सापेक्ष सम्बन्ध भी है। अज्ञान (मोह) के कारण राग-द्वेष की प्रवृत्ति होती है। राग-द्वेष यथार्थ ज्ञान से वंचित कर देते हैं। अविद्या से तृष्णा बढ़ती है। तृष्णा से मोह—यह एक वर्तुल है।

गीता में आसुरी सम्पदा को बंधन का हेतु माना है। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य (कठोरवाणी) एवं अज्ञान आसुरी सम्पदा हैं। कर्म वर्णा के आकर्षण का निमित्त रागादि भाव हैं। जीव की स्वाभाविकता जब भंग होती है तब कर्मावरण की दीवार खड़ी हो जाती है। राग-द्वेष की स्निग्धता लोह चुम्बक की तरह कर्माणुओं को आकृष्ट करती है तब उनका आत्मा के साथ संश्लेष हो जाता है।

समवायांग^{२२} और तत्त्वार्थ सूत्र में बंध के चार भेदों का विश्लेषण है—प्रकृति-बंध, स्थिति-बंध, अनुभाग-बंध, प्रदेश-बंध।

प्रकृति-बंध—रागादि भावों से आकर्षित कर्माणुओं के स्वभाव का निर्धारण प्रकृति-बंध है। कर्मों के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। अपने-अपने स्वभाव सहित जीव से सम्बन्धित होना प्रकृति-बंध है। यह स्वभाव व्यवस्था है। कर्म परमाणु कार्य भेद से आठ भागों में विभक्त हो जाते हैं। क्योंकि कर्म की मूल प्रकृतियां आठ ही हैं।

स्थिति-बंध—यह काल-मर्यादा की व्यवस्था है। कोई भी कर्म अपनी काल-मर्यादा के अनुसार ही आत्मा के साथ रहता है। स्थिति समाप्त होते ही आत्मा से पृथक् हो जाता है। स्थिति-बंध का आधार कषाय की न्यूनाधिकता है।

अनुभाग-बंध—आत्मा से अनुबंधित कर्मों में फलदान की शक्ति को अनुभाग-बंध कहते हैं। यह कर्म फलदान की व्यवस्था है। इसके अनुसार कर्म पुद्गलों में रस की तीव्रता एवं मंदता का निर्माण होता है।

प्रदेश-बंध—प्रदेश-बंध में जीव और पुद्गल प्रदेश क्षीर-नीर की तरह एक क्षेत्रावगाही हो जाते हैं। वह प्रदेश-बंध है। यह कर्म का व्यवस्थाकरण है। बंध की चारों अवस्थाएं एक साथ होती हैं। कर्म-व्यवस्था के ये प्रधान अंग हैं। आत्मा और कर्म पुद्गलों के एकीभाव की दृष्टि से प्रदेश-बंध का स्थान पहला है। प्रदेश-बंध के साथ ही स्वभाव-निर्माण, काल-मर्यादा, और फलदान-शक्ति का निर्माण हो जाता है।

कर्म साहित्य में प्रकृति बंध के दो प्रकारों का उल्लेख मिलता है— मूल प्रकृति-बंध, उत्तर प्रकृति-बंध। ज्ञानावरणीय^{२३} आदि आठ कर्म मूल प्रकृति-बंध हैं। स्वभाव या कार्य-भेद के कारण आठ भेद होते हैं। जैसे एक बार में खाया हुआ भोजन पचकर खून, रक्त, मांस, मज्जा, मल-मूत्र, वात-पित्त, श्लेष्मा आदि अनेक रूप में परिणत हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा के परिणमन से एक बार में ग्रहण किये गये पुद्गल परमाणु ज्ञानावरणीय आदि विभिन्न रूपों में परिणत हो जाते हैं।

कर्म के मूल आठ भेद हैं। उनकी उत्तर प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस प्रभेदों में विभक्त हैं। पंचाध्यायी में उत्तर प्रकृति के अवान्तर भेद असंख्यात होने का भी उल्लेख है।

१. ज्ञानावरणीय— ज्ञान को आवृत करता है जैसे बादल सूर्य प्रकाश को आवृत करता है।
२. दर्शनावरणीय— जो कर्म वर्णनाएं दर्शन-शक्ति में बाधक होती हैं। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन में बाधक बनता है।
३. वेदनीय— सांसारिक सुख-दुःख की संवेदना का अनुभव कराता है।
४. मोहनीय— विवेक-शक्ति को कुण्ठित कर देता है, जैसे मद्यपान से विवेक लुप्त हो जाता है।
५. आयुष्य— यह विविध गतियों में जीवन की अवधि का नियामक है। इस कर्म की तुलना कारागृह से की जा सकती है।
६. नामकर्म— यह गति आदि पर्यायों के अनुभव के लिये बाध्य करता है तथा विविध परमाणुओं से शरीर की रचना का दायित्व निभाता है।

७. गोत्रकर्म— गोत्रकर्म प्रतिष्ठित एवं अप्रतिष्ठित कुल में जन्म का कारण है।

८. अन्तराय— जो दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य शक्ति के उपयोग में अवरोधक बनता है, वह अन्तराय कर्म है।

उत्तर प्रकृतियों के अनुक्रम से भेद हैं—

$$५+९+२+२८+४+९३+२+५ = १४८ भेद हैं।$$

कर्म प्रकृतियों का सम्बन्ध प्रकृति-बंध से है। पंच-संग्रह आदि में प्रकृति बंध के अन्य चार बंधों का भी निरूपण है। जैसे—सादि बंध, अनादि बंध, ध्रुव बंध, अध्रुवबंध। सभी प्रकृतियां पुण्य-पाप उभय रूप हैं। इनमें पुद्गल विपाकी, क्षेत्र विपाकी, भव विपाकी, जीव विपाकी—ऐसा वर्गीकरण भी है।^{२४}

कषाय और योग के निमित्त से कर्मों का आदान होता है। कषाय गोंद या पानी के तरह है तो योग हवा के समान है। जैसे—हवा द्वारा आई हुई धूल गीली या गोंदयुक्त दीवार पर चिपक जाती है। उसी प्रकार योग रूप हवा से गृहीत कर्मरज कषाययुक्त आत्म-प्रदेश रूप दीवार पर चिपक जाती है।

समझना यह है कि सभी जीवों में न तो कर्मों की मात्रा समान होती है, न उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति। जैन चिन्तकों ने कम या अधिक मात्रा में कर्म परमाणु क्यों होते हैं—इसका कारण योग रूप वायु के वेग को माना है।^{२५}

कर्मों के वर्गीकरण की ऐसी विवेचना जैन दर्शन के अतिरिक्त कहीं उपलब्ध नहीं होती। किन्तु बंधन एवं जन्म-मरण की परम्परा के कारकों की व्याख्या जैन दर्शन की तरह बौद्धों के प्रतीत्य समुत्पाद में भी उपलब्ध है। उसका आशय है कि प्रत्येक उत्पाद का कोई प्रत्यय, हेतु या कारण अवश्य है। जब उत्पाद सहेतुक हैं तो हमारे बंधन या दुःख का भी हेतु कोई अवश्य होगा।

जैन दर्शन में दर्शन मोह एवं चारित्र मोह में पारस्परिक कार्य-कारण सम्बन्ध स्वीकार किया है। बौद्ध दर्शन में अविद्या और तृष्णा का सम्बन्ध है। अविद्या या दर्शनमोह अहेतुक नहीं हैं। अविद्या का हेतु तृष्णा एवं दर्शन मोह का हेतु चरित्रमोह है।

बौद्ध दर्शन में प्रतीत्य समुत्पाद की बारह कड़ियों का उल्लेख है। जैन दर्शन के कर्मों का जो वर्गीकरण है, दोनों में काफी निकटता देखी जाती है। जैसे—

जैन परम्परा

बौद्ध परम्परा

मोह कर्म की सत्ता-अवस्था

१. अविद्या
२. संस्कार

मोह कर्म का विपाक और
नये बंध की अवस्था

३. तृष्णा
४. उपादान
५. भव

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय
आयुष्य, नाम, गोत्र और
वेदनीय की विपाक अवस्था

६. विज्ञान
७. नाम-रूप
८. षडायतन
९. स्पर्श
१०. वेदना

भावी जीवन के लिये आयुष्य,
नाम, गोत्र आदि कर्मों के
बंध की अवस्था

११. जाति
१२. जरा-मरण

मनोविज्ञान-कर्म-

आधुनिक मनोविज्ञान चेतना के तीन पक्ष मानता है— ज्ञानात्मक (Cognitive), भावात्मक (Affective) और संकल्पात्मक (Conative)। इस आधार पर चेतना के तीन कार्य हैं— १. जानना, २. अनुभूति, ३. इच्छा करना। इस विषय पर प्राचीन समय से भारतीय मनीषियों ने काफी चिंतन किया है। आचार्य कुंदकुंद ने चेतना के तीन पक्षों का उल्लेख किया है। ज्ञान-चेतना, कर्म-चेतना, कर्मफल-चेतना।^{२६}

तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो मनोविज्ञान ने ज्ञान-चेतना को ज्ञानात्मक पक्ष, कर्मफल-चेतना को भावात्मक पक्ष और कर्म-चेतना को संकल्पात्मक पक्ष से अभिहित किया है।

बौद्ध दर्शन में भी इसी प्रकार चेतना के तीन स्तरों का निरूपण है जो जैन दर्शन एवं मनोविज्ञान से काफी साम्य रखता है।

जैन दर्शन

बौद्ध

मनोविज्ञान

ज्ञान-चेतना

सन्ना या क्रिया-चेतना

ज्ञानात्मक पक्ष

कर्मफल-चेतना

विपाक-चेतना या वेदना

भावात्मक पक्ष

कर्म-चेतना

चेतना (संकल्प)

संकल्पात्मक पक्ष

इनमें न ज्ञानात्मक पक्ष बंधन का कारण है, न अनुभूत्यात्मक पक्ष। तीसरा संकल्पात्मक पक्ष—जिसे कर्म-चेतना कहते हैं, बंधन का कारण है। ज्ञान-चेतना कर्म बंध का कारण नहीं बनती, क्योंकि वह बन्धन-मुक्त आत्माओं के होती है। कर्मफल-चेतना भी कर्म बंध में निमित्त नहीं क्योंकि केवली या अर्हत में भी वेदनीय कर्म का फल भोगने के कारण कर्मफल चेतना तो होती है किन्तु बन्धन का निमित्त नहीं बनती। मूल कर्म-चेतना ही राग-द्वेष या कषायादि भावों की कर्ता है।

बंध तत्त्व व्यापक है। बंध क्या है? बंध किसका होता है? बंध का हेतु क्या है? बंध की प्रक्रिया, बंध के भेद-प्रभेद आदि का विश्लेषण किया गया। कर्म का मुख्य कार्य है संसार का परावर्तन कराना। जैन दर्शन में जीव एवं कर्म का सम्बन्ध एक सांयोगिक प्रक्रिया है।

विविध संवेदनात्मक अनुभूतियां भी कर्मों के सांयोगिक परिणाम के प्रतिफल हैं। जीव अनंत हैं। उनसे भी अनंत गुण-कर्म-वर्गणाएं हैं और उन कर्म-वर्गणाओं से ब्रह्माण्ड परिपूरित है।

आधुनिक विज्ञान में समस्त प्राकृतिक घटनाएं पदार्थ एवं ऊर्जा की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं (Interaction) के कारण हैं। इसी तरह जीव और जगत् में जो विविधताएं परिलक्षित हैं। उनका मूलभूत कारण है—जीव एवं सूक्ष्मतम पौद्गलिक कणों की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं की निष्पत्ति।

आत्मा में प्रति समय राग-द्वेषात्मक कोई न कोई भाव अवश्य रहता है। उन भावों से आत्म प्रदेश प्रकंपित होते हैं। उस स्थिति में जीव की योगशक्ति समीप की कर्म-वर्गणाओं को आकर्षित कर अपने साथ एकरूप कर लेती है। वे ही कर्म-वर्गणाएं कर्म नाम से अभिहित होती हैं। भाव कर्म भीतर की जैविक-रासायनिक प्रक्रिया है। द्रव्य कर्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करती हैं।

कर्म के दो प्रकार हैं—द्रव्य और भाव। मानसिक चिन्तन भाव कर्म है। जो इन भावों का प्रेरक है, वह द्रव्य कर्म है। कर्म की समुचित व्यवस्था के लिये आवश्यक है कि कर्म के आकार (Form) और विषयवस्तु (Matter) दोनों ही हों। कर्म विषयवस्तु है, मनोभाव आकार है। भाव कर्म का आन्तरिक कारण आत्मा है। जैसे—घट का उपादान मिट्टी है।

द्रव्य कर्म कार्माण वर्गणा का विकार है। आत्मा निमित्त कारण है। किसी भी कार्य में निमित्त और उपादान—दोनों की समान विवक्षा है। भाव कर्म उपादान है, द्रव्य कर्म निमित्त है।

अशुद्ध अवस्था में जीव और पुद्गल की प्रत्येक पर्याय में निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्ध है। निमित्त में जैसी अवस्था होती है, वैसी ही नैमेत्तिक में होगी। इसमें काल-भेद नहीं। दोनों अवस्थाएं एक साथ होती हैं। जैसा पूर्व बंधे हुए कर्मों का निमित्त होगा वैसे ही जीव के परिणाम होंगे और परिणामानुसार ही नये कर्मों का बंधन होगा। इस प्रकार निमित्त के अनुकूल अवस्था का धारण करना ही नैमेत्तिक है। यह अनादिकालीन शृंखला है। संसार परिभ्रमण का यही हेतु है।

आधुनिक विज्ञान का अभिमत है कि बिना पौद्गलिक स्पंदन (Vibration) के विचारों का उद्भव नहीं होता। इन लहरों की लम्बाई अत्यन्त सूक्ष्म होती है। जितने रेडियो स्टेशन हैं, एक जैसी विद्युत की लहरें हवा में उत्सर्जन करते हैं। लम्बाई में अंतर होता है।

जब कभी बाहर के स्टेशन से सुनना चाहते हैं तो एक घुंटी को घुमाकर सेट के अंदर उतनी ही लम्बाई की लहरें उत्पन्न करते हैं। रेडियो सेट में जिस लम्बाई की लहरें उत्पन्न होती हैं उतनी ही लंबी लहरें बाहर से अंदर आ जाती हैं। वैसे ही अच्छे-बुरे विचारों के अनुसार पुद्गल वर्गणा बाहर से भीतर आ जाती है, आत्मा पर आवरण डाल देती है। कम लोग इस तथ्य को जानते हैं कि रेडियो ट्यूनिंग के समय बाहर से कोई पुद्गल द्रव्य, रेडियो के अंदर आता है। इसी प्रकार पुद्गल वर्गणा के भीतर प्रवेश को कर्मों का आस्रव (Influx) कहते हैं। इससे आत्मा विकारी बनती है।

जीव में भावनात्मक या चैतन्यप्रेरित क्रियात्मक कम्पन होता है। कम्पन अचेतन वस्तुओं में भी होता है, किन्तु यह चैतन्यप्रेरित नहीं, नैसर्गिक है। आन्तरिक वर्गणा द्वारा निर्मित कम्पन में बाहरी पौद्गलिक धाराएं संपृक्त होकर क्रिया-प्रतिक्रिया से परिवर्तन करती रहती हैं। क्रियात्मक शक्ति-जनित कम्पन से आत्मा और कर्म-परमाणुओं का संयोग होता है। इस प्रक्रिया का नाम आस्रव है।

नये बन्धन का हेतु पूर्वबद्ध कर्म-वर्गणाओं को नहीं मानें तो अबद्ध जीव भी कर्म से बंधे बिना नहीं रह सकता। अतः पूर्व कर्म-वर्गणाएं नई वर्गणाओं को आकर्षित करती हैं। चिंतन जैसा है वैसी वर्गणाओं का ग्रहण होता है।

संसार अनंत वर्गणाओं का समवाय है। कर्म भी अमुक प्रकार के परमाणुओं का संग्रह है। प्रश्न होता है—अनन्त परमाणु का संयोग कैसे होता है?

जैन दर्शन का समाधान इस प्रकार है कि इनके जोड़ में वर्ण, गंध, रस कारण नहीं, केवल स्पर्श इसका हेतु है। स्निग्ध-रुक्ष में से एक और शीत-उष्ण में से एक। इस प्रकार दो से लेकर अनंत तक परमाणु जुड़ते हैं। स्निग्ध का अर्थ है पोजीटिव (Positive) और रुक्ष का अर्थ है नेगेटिव (Negative)।

विज्ञान की भाषा में नेगेटिव-पोजीटिव मिलकर विद्युत् उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक एटम में, चाहे किसी भी वस्तु का हो, पोजीटिव-नेगेटिव बिजली के कण भिन्न-भिन्न संख्या में विद्यमान रहते ही हैं। सोना, चांदी आदि सभी द्रव्यों के अणुओं में इसी प्रकार की रचना है। एक परमाणु भी इलेक्ट्रॉन (Electron), न्यूट्रॉन (Neutron) और प्रोटॉन (Proton) का समिश्रण है। ये परमाणु संयुक्त होकर जब आत्मा के साथ सम्बन्ध करते हैं तब उनका स्वभाव (Nature), काल (Period), बल (Power), संख्या (Quantity) निश्चित हो जाती है।

कोई भी क्रिया की जाती है तो उसके साथ ही कर्मों का बंधन हो जाता है। ऐसा कभी नहीं होता कि क्रिया अभी हो, कर्म-बंधन कभी बाद में हो सकता है। उसके विपाक और उपभोग का काल लम्बा हो सकता है। आत्मा के साथ संपृक्त होने के पश्चात् उनमें जो व्यवस्था होती है वह स्वतः होती है। फल देने की शक्ति आ जाती है और समय आने पर कर्म पुद्गल उदय में आने लग जाते हैं।

कर्म की विभिन्न अवस्थाएं

कर्म की दस अवस्थाओं का निरूपण कर्म-साहित्य में उपलब्ध है। इनका गहरा चिंतन हुआ है। दस अवस्था में प्रथम अवस्था बंध है और अंतिम अवस्था है निकाचना। दोनों के बीच में हैं—सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधत्ति।

प्रस्तुत अवस्थाएं भाग्य परिवर्तन, रूपान्तरण, परिशोधन, परिवर्धन, संरचना एवं संक्रमण करने की कला का विज्ञान हैं।

१. बंध—कषाय और योग के फलस्वरूप कर्म-प्रदेशों का आत्म-प्रदेशों से मिलकर नई अवस्था पैदा करना बंध है। यह महत्त्वपूर्ण अवस्था है, क्योंकि अन्य सभी अवस्थाएं इसी पर निर्भर हैं। बंध समय की अवस्था के बद्ध^{२७}, स्पृष्ट और बद्धस्पृष्ट—ऐसे तीन पक्ष हैं।

बद्ध—कर्म प्रायोग्य पुद्गलों की कर्म रूप में परिणति।

स्पृष्ट—आत्म-प्रदेशों से कर्म-प्रदेशों की संश्लिष्ट अवस्था।

बद्धस्पृष्ट—आत्मा और कर्म पुद्गलों का दूध-पानी की तरह एक हो जाना बद्धस्पृष्ट अवस्था है।

बद्धस्पृष्ट, ऐसी अवस्था है जिसमें उद्वर्तना एवं अपवर्तना को छोड़कर और किसी दूसरे कारण की संभावना नहीं रहती।

२. सत्ता—कर्मों का बंध हो जाने के बाद उनका विपाक किसी भी समय हो सकता है। काल-मर्यादा परिपक्व नहीं होती वहां तक कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहता है। इसी का नाम सत्ता है।^{२८} जब तक कर्म क्षय या निर्जरा की स्थिति पैदा न हो जाये। कर्मों का अकर्म पुद्गल रूप में परिवर्तन न हो जाये, तब तक आत्मा में अवस्थिति रहती है।

३. उदय—यह तीसरी अवस्था है। इसमें कर्म अपना फल देना प्रारंभ कर देते हैं। जैन दर्शन की विशेष बात यह है कि कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं जो फल देकर भी भोक्ता को उसकी अनुभूति नहीं कराते, वैसे ही निर्जरित हो जाते हैं। उसे प्रदेशोदय कहा जाता है। जो कर्म फलानुभूति देकर निर्जरित होते हैं उनका उदय विपाकोदय कहलाता है।

४. उदीरणा—नियत काल से पूर्व प्रयत्न के द्वारा कर्म दलिकों को उदय में लाकर, उदयप्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा है। जैसे-समय से पूर्व कृत्रिम साधनों से फलों को पकाया जाता है। उदय एवं उदीरणा में अन्तर क्या है? इसे समझना जरूरी है। उदय में कर्मों का परिपाक होने पर कर्म स्वयं फल देते हैं। उदीरणा में अनुष्ठान द्वारा अपरिपक्व कर्मों को पका कर फल प्राप्त किया जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक पद्धति का रूप है। एक बात और है कि जिस कर्म का उदय या भोग चल रहा है, उसकी सजातीय प्रकृति की ही उदीरणा संभव है।

५. उद्वर्तना—काषायिक तरतमता के आधार पर अनुभाग और स्थिति बनती है। किसी निमित्त^{२९} से अनुभाग और स्थिति में वृद्धि हो जाना उद्वर्तना है।

६. अपवर्तना—यह उद्वर्तना की विपरीत स्थिति है। पूर्व संचित कर्मों की स्थिति और अनुभाग को साधना^{३०} द्वारा कम कर देना अपवर्तना है।

७. संक्रमण—कर्म आठ हैं। सबके अवान्तर भेद हैं। अवान्तर सजातीय कर्म प्रकृतियों का परस्पर रूपान्तरित होना संक्रमण है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी माना है कि कुत्सित मनोवृत्तियों को उदात्त मनोवृत्तियों में रूपान्तरित करना उदात्तीकरण है। उदात्तीकरण की प्रक्रिया को भी केवल सजातीय

मनोवृत्तियों में ही स्वीकार किया है। संक्रमण और उदात्तीकरण के उद्देश्य में साम्य है।

८. **उपशम**—कर्मों के उदय—उदीरणा को काल विशेष के लिये रोक देना या फल देने में अक्षम कर देना उपशम है। अन्तर्मुहूर्त तक मोहनीय कर्म की सर्वथा अनुदय अवस्था उपशम है। उपशम की अवस्था समाप्त होते ही कर्म पुनः अपना फल देना चालू कर देते हैं क्योंकि उपशम में कर्म की सत्ता विद्यमान है।

९. **निधत्ति**—यह कर्म की वह अवस्था है जिसमें कर्म के अवान्तर भेदों में रूपान्तरण नहीं होता है और न वे अपना फल दे सकते हैं।^{३१} इसमें उद्वर्तन, अपवर्तन के अतिरिक्त कोई अवस्था नहीं होती। इस अवस्था में समय-मर्यादा या अनुभाग का उत्कर्षण और अपकर्षण संभव है।

१०. **निकाचना**—यह कर्मों की प्रगाढ़ अवस्था है। इसमें उदीरणा, संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन कुछ भी संभव नहीं। न समय से पूर्व उनका भोग होता है। कर्म का जिस रूप में बंधन हुआ, उसी रूप में अनिवार्यतया भोगना पड़ता है।

ये अवस्थाएं पुरुषार्थ की प्रतीक हैं। सम्यक् साधना से संक्रमण अवस्था में मोड़ देकर उन्हें अध्यात्म-विकास की ओर बढ़ाया जा सकता है।

बौद्ध दर्शन में जनक, उपस्तंभक, उपपीलक, उपघातक—ऐसे चार प्रकार के कर्म स्वीकृत हैं। इनका कार्य भिन्न-भिन्न है।

जनक—जन्म का हेतु है। जन्म ग्रहण करवाता है।

उपस्तंभक—दूसरे कर्म का फल देने में सहायक बनता है।

उपपीलक—दूसरे कर्मों की शक्ति को क्षीण करता है।

उपघातक—दूसरे कर्म का विपाक रोककर अपना फल देता है।

जैन दर्शन में वर्णित सत्ता, उद्वर्तन, अपवर्तन और उपशम के साथ तुलनीय है।

बौद्ध—जनक

उपस्तंभक

उपपीलक

उपघातक

जैन—सत्ता

उद्वर्तना

अपवर्तना

उपशम

संक्रमण के सम्बन्ध में भी बौद्धों की धारणा जैन दर्शन के अति निकट लगती है। बुद्ध ने कहा—विपच्यमान^{३२} अर्थात् जिन कर्मों को बदला जा सके, ऐसे कर्मों का सातिक्रमण (संक्रमण) हो सकता है।

हिन्दू आचार शास्त्र में कर्मों की तीन अवस्थाएं अभिव्यक्त की हैं—संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण। अहंकार, काम आदि से जो नये कर्मों का अनुग्रहण होता है, वे क्रियमाण हैं। क्रियमाण कर्म ही संचित में जाकर संकलित हो जाते हैं। जैसे—क्षेत्र में उत्पन्न धान्य कोठार में संगृहीत होता है। जो अनन्त कर्मों के अच्छे-बुरे फल अनुदयमान अवस्था में हैं, वे संचित कहलाते हैं।

संचित कर्मों में से एक जन्म से पूर्व ही जिनका निर्माण हो जाता है, उन फलदानोन्मुख कर्मों को प्रारब्ध कहा है। पूर्वबद्ध कर्म के दो विभाग हैं—जो भाग अपना फल देना प्रारंभ कर देता है वह प्रारब्ध कर्म है। जिसका फलभोग प्रारंभ नहीं हुआ है, वह संचित कर्म है। ये तीनों अवस्थाएं ठीक जैन दर्शन में वर्णित बन्ध, सत्ता और उदय की समानार्थक हैं।

आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध मुख्यतः मन की प्रक्रिया पर आधारित है। मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य जो खाता है वह परिपाक होने पर तीन भागों में विभक्त हो जाता है। अति स्थूल अंश—पुरिष, मध्यम अंश—मांस, सूक्ष्मतम अंश—मन बनता है। जो जलपान किया जाता है उसका परिपाक होने पर सूक्ष्म अंश—मूत्र, मध्यम अंश—रक्त और अति सूक्ष्मतम अंश—प्राण बनता है।

वह जो तेज भोजन करता है उसका स्थूल अंश—अस्थि, मध्यम अंश—मज्जा, सूक्ष्मतम अंश—वाक् बनता है।

इस प्रकार मनुष्य के भोजन और जल का परिपाक ही मन, प्राण, वाक् है। मन, प्राण के साथ चंचल बनता है तब सारा व्यापार वाक्मय होता है। सोचना, विचारना, संकल्प-विकल्प, स्मृति आदि मन के उत्पादन हैं। प्राण कंपन के साथ मन और इन्द्रिय से संपृक्त होकर कर्म की निष्पत्ति करता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर हम जो भी कार्य करते हैं उनका सूक्ष्म चित्रण है। इस चित्र को अध्यात्म की भाषा में रेखा भी कहा जाता है।

डॉ. योवन्स लिखते हैं कि जब सूक्ष्मदर्शक यंत्र से मस्तिष्क का निरीक्षण किया तो एक-एक परमाणु पर असंख्य-असंख्य रेखाएं हैं। उनमें क्रियाशील अधिक हैं, क्रियाहीन कम। यही रेखाएं उपयुक्त समय पाकर साकार रूप धारण करती हैं जिसे कर्मफल कहते हैं। रेखाएं साकार उसी प्रकार बनती हैं जैसे गाने-

बजाने के विशेष यंत्रों की सहायता से ग्रामोफोन रिकार्ड भर लिया जाता है। वह ध्वनि रेखा के रूप में होती है। रेखाओं के रूप में ही ध्वनियां सुरक्षित रहती हैं। जब भी चाहें, विशेष विधि से सुई के आघात से उस ध्वनि को साकार रूप दे दिया जाता है।

इसी प्रकार हर शारीरिक-मानसिक कार्य का सूक्ष्म चित्रण अन्तर्मन के परमाणुओं पर होता है, फिर प्रकट होना क्रिया की प्रतिक्रिया का स्थूल रूप है।

कर्मों की विपाक प्रक्रिया

ऊपर हमने कर्मों की दस अवस्थाओं की चर्चा की। उनमें देखा, कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका विपाक नियत है। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं। उन्हें निकाचित कर्म कहा जाता है।

कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका विपाक नियत नहीं है। उनके विपाक में स्वरूप, समय, मात्रा को परिवर्तित किया जा सकता है। जैन दर्शन में नियत-अनियत दोनों विपाक मान्य हैं।

प्रश्न होता है—कर्मों का विपाक कैसे होता है? शुभाशुभ फल देने में कर्म स्वयं शक्तिमान है या अन्य किसी शक्ति का हाथ है? प्रश्नों का उत्तर अत्यन्त जटिल एवं उलझन भरा है। हर व्यक्ति के समझ से परे है फिर भी यथार्थ पर अयथार्थ का परदा नहीं डाला जा सकता।

विपाक शब्द वि+पाक का जोड़ है। 'वि' के विशिष्ट और विविध—दोनों अर्थ विहित हैं। पाक का अर्थ है—पकना या पचना। विशिष्ट रूप से कर्मों के पकने को विपाक कहते हैं।^{३३}

आगम की भाषा में विपाक^{३४} को अनुभव कहा है। कषायादि के कारण सुख-दुःखादि फल देने की शक्ति या उदय—उदीरण के द्वारा कर्म-फल की प्राप्ति विपाक है।

कर्मों के^{३५} फलदान की शक्ति कषायों पर निर्भर है। कर्मों के आदान में कषायों की तीव्रता रही तो कुछ समय बाद ही तीव्र फल देना प्रारंभ कर देते हैं। यदि आस्रवण में मंदता रही तो विपाक देरी से भी हो सकता है।

कर्मों का फल प्रदान करना बाह्य सामग्री पर निर्भर है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार फल देते हैं।^{३६}

प्रश्न उठता है, कर्म फल दिये बिना ही अलग होते हैं या नहीं? जैन दर्शन की दृष्टि से समाधान मिलता है कि उदीयमान कर्मों को अनुकूल सामग्री उपलब्ध नहीं होती है तो बिना फल दिये ही उदय होकर आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। इसे 'प्रदेशोदय' कहा जाता है।

जो कर्म, फल देकर आत्म-प्रदेशों से अलग होते हैं उसे 'विपाकोदय' कहते हैं। विपाकोदय ही आत्मगुणों का अवराधक तथा नये कर्मों का उत्पादक है।

कर्म बंध के साथ ही फलदान की क्रिया प्रारंभ नहीं होती। बीज बोने के साथ ही अंकुर नहीं निकलता। बाजरा ९० दिन बाद, गेहूं १२० दिन और आम सामान्यतया पांच वर्ष बाद फल देता है। समयावधि के पूर्व फलदान की क्रिया नहीं होती।

इसी प्रकार कर्म बंध के बाद सत्ता में कुछ समय के लिये निष्क्रिय रहता है उसे अबाधाकाल कहते हैं।^{३७}

अबाधाकाल सभी कर्मों का समान नहीं है। एक कोटाकोटि सागर के पीछे एक हजार वर्ष का होता है। जैसे-ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति तीस कोटाकोटि सागर है तो अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का होगा। यही नियम सब कर्मों के लिये है—

कर्म	स्थिति	अबाधाकाल
ज्ञानावरणीय कर्म	३० कोटाकोटि सागरोपम	३ हजार वर्ष
दर्शनावरणीय कर्म	३० कोटाकोटि सागरोपम	३ हजार वर्ष
वेदनीय कर्म	३० कोटाकोटि सागरोपम	३ हजार वर्ष
मोहनीय कर्म	७० कोटाकोटि सागरोपम	७ हजार वर्ष
आयुष्य कर्म	३३ कोटाकोटि सागरोपम	करोड़ पूर्व का तीसरा भाग
नाम कर्म	२० कोटाकोटि सागरोपम	२ हजार वर्ष
गोत्र कर्म	२० कोटाकोटि सागरोपम	२ हजार वर्ष
अन्तराय कर्म	३० कोटाकोटि सागरोपम	३ हजार वर्ष

कर्म विधान की सीमा क्या है? क्या जीव और जड़ दोनों पर उनका विधान लागू है? प्रश्न उचित हैं। जैन दर्शन का इस संदर्भ में मन्तव्य है—कर्म का नियम आध्यात्मिक दृष्टि से सम्बन्धित है। भौतिक सृष्टि पर नियम लागू नहीं

है। जड़-सृष्टि का निर्माण अपने ही नियम से होता है। जैसे-भूकंप, चक्रीयवात, उल्कापात आदि में कर्म के नियम का कहीं हस्तक्षेप नहीं है।

जीव-सृष्टि में जो वैषम्य है। विविधता है। उसका मूल कर्म है। यह कर्म का स्वरूप, प्रकृतियां, विपाकावस्था आदि से स्वतः ज्ञात हो रहा है। यहां महावीर और कालोदायी का संवाद प्रसंगानुकूल है। कालोदायी महावीर के उपपात में पहुंचा और प्रश्न उठाया—

भंते ! जीवों के कर्मों का परिपाक होता है ?

कालोदायी ! होता है।

भंते ! कैसे होता है ?

कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष अठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है। वह भोजन आपातभद्र होता है किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें दुर्गंध पैदा होती है। वह परिणामभद्र नहीं होता। वैसे ही प्राणातिपात आदि अठारह पापों का सेवन आपातभद्र और परिणामविरस होता है। पाप कर्म का पाप विपाक स्पष्ट है।

कालोदायी ने पुनः पूछा— भंते ! जीवों के कृत कल्याण कर्मों का परिपाक कल्याणमय होता है ?

होता है।

भंते ! कैसे होता है ?

कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक, शूद्ध अठारह प्रकार के व्यंजनों से पूर्ण, औषध-मिश्रित भोजन करता है। वह आपातभद्र नहीं लगता किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें सुरूपता, सुवर्णता और सुखानुभूति होती है। वह परिणामभद्र होता है। इसी प्रकार प्राणातिपात आदि अठारह पापों से विरति आपातभद्र नहीं, परिणामभद्र है। वैसे ही कल्याण कर्म, कल्याण विपाक वाले होते हैं।^{३८} दशाश्रुतस्कंध^{३९}, सूत्रकृतांग^{४०}, उत्तराध्ययन^{४१}, आदि में भी कर्म-विपाक की चर्चा है।

बौद्ध दर्शन में राजा मिलिन्द ने नागसेन से पूछा—भंते ! जीव द्वारा शुभ-अशुभ, कुशल-अकुशल कृत कर्म कहां रहते हैं ?

स्थविर नागसेन का उत्तर था— शरीर की छाया के समान ये कर्म भी जीव का साथ नहीं छोड़ते। उसके पीछे-पीछे चलते रहते हैं। कर्म कर्ता का अनुसरण करते हैं।

तथागत बुद्ध ने कहा—जो जैसा बीज बोता है, तदनु रूप फल पाता है।^{४२} कर्म ही पुनर्जन्म का मूल है। सद्गति-असद्गति का आधार कर्म है। यही उनका विपाक है।^{४३}

वैदिक दर्शन में भी विपाक के सम्बन्ध में विचारणा उपलब्ध है। महाभारत में कहा है—गाय का बछड़ा, हजारों गायों में भी अपनी मां को खोज लेता है और उसका अनुसरण करता है वैसे ही पूर्वकृत कर्म कर्ता का अनुसरण करते हैं।^{४४} जो कर्म करता है वही उसे भोगनेवाला है।^{४५}

कर्म और कर्मविपाक की चर्चा करने पर प्रश्न उठता है कि अचेतन कर्म नियमित एवं यथोचित फल कैसे देते हैं ?

उक्त प्रश्न समाधान मांगता है। कर्म नहीं जानते किसे क्या फल देना है किन्तु आत्म-प्रवृत्ति से शुभाशुभ कर्म आकृष्ट होते हैं उनके संयोग से आत्मा की वैसी ही परिणति हो जाती है। आत्मा को उसी के अनुसार फल मिल जाता है। विष ने मारने की कला कहां सीखी ? किन्तु आत्मा के संपर्क में आते ही उसमें मारक शक्ति पैदा हो जाती है।

पथ्य भोजन आरोग्य देना नहीं जानता। दवा रोग मिटाना नहीं समझती, फिर भी उनकी जो निष्पत्ति आनी है, आयेगी। रोका नहीं जा सकता।

बाह्य रूप से ग्रहण किये पुद्गलों का जब इतना असर होता है तो आंतरिक वृत्ति से गृहीत कर्म पुद्गलों का आत्मा पर असर हो उसमें संदेह का अवकाश नहीं रहता।

विज्ञान के अप्रत्याशित विकास ने संदेह की दीवारों को तोड़ा है। ईथर (Ether) मेटर (Matter) धन विद्युत् (Protons) ऋण विद्युत् (Electrons) आदि पारमाणविक विचित्र शक्ति और उसके नियमन की क्षमता को देखते हुए कर्मों की फलदान शक्ति पर स्वतः विश्वास जम जाता है।

उदीयमान कर्मों को अनुकूल सामग्री प्राप्त न हो तो कभी बिना फल प्रदान किये ही उदय होकर कर्म आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। जैसे दंड, चक्रादि निमित्त कारणों के अभाव में मात्र मिट्टी से घट निर्मित नहीं होता। सहकारी कारण के अभाव में कर्म भी फल नहीं दे सकते।^{४६}

कर्मों की अपनी अवधि है। कौनसा कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ रहता है। प्रश्न होता है, स्थिति से पूर्व भी क्या फलदान कर सकते हैं ?

जैन दर्शनानुसार यद्यपि कर्म स्थितिबंध की समाप्ति पर फल देते हैं किन्तु जिस प्रकार आम आदि फलों को असमय में घास आदि में पकाकर रस देने योग्य कर दिया जाता है उसी प्रकार स्थिति पूर्ण होने से पूर्व तपश्चर्या आदि के द्वारा कर्मों को पकाकर स्थिति से पूर्व फलदान के योग्य कर देते हैं।^{४७}

कर्मों के फलदान का कार्य पूर्ण हो जाता है तब वे कहां रहते हैं? क्या पुनः उदयावस्था में आकर फल दे सकते हैं? यह भी चिन्तनीय प्रश्न है।

तथ्य यह है, आत्मा और कर्म की सहावस्था में ही फलदान की शक्ति रहती है। फल देने के बाद आत्मा से अलग होने पर वह सामर्थ्य नहीं रहता।^{४८} फल पककर यदि डाल से नीचे गिर जाता है तो पुनः उसके साथ आबद्ध नहीं होता। कर्म की भी यही स्थिति है। आत्मा से विलग होकर कर्म पर्याय से अकर्म पर्याय में रूपान्तरित हो जाते हैं।

आत्मा और कर्म समान से प्रतीत होते हैं किन्तु प्रमुखता किसकी है? इस संदर्भ में उपाध्याय अमर मुनि ने लिखा— जैसे सूर्य सायं मेघों को उत्पन्न करता है। उनसे आच्छादित होता है। फिर वही सूर्य अपनी प्रखर ज्योति से उन्हें छिन्न-भिन्न कर देता है। आत्मा भी स्वयं कर्म करता है। उनसे आवृत हो जाता है और स्वयं ही उन कर्मों को तोड़ कर निर्जरा से निर्मूल कर देता है।^{४९}

देवेन्द्र मुनि के अभिमत से— मात्र बाह्य दृष्टि से कर्म बलवान् प्रतीत होते हैं किन्तु अन्तर्दृष्टि से आत्मा ही बलवान् है। क्योंकि कर्मों का कर्ता वही है। मकड़ी की तरह कर्मों का जाल बिछाकर उसमें उलझ जाता है। वह चाहे तो कर्मों को काट भी सकता है।^{५०} अतः आत्मा की शक्ति असीम है। आत्मा की शुभाशुभ प्रवृत्ति की उपज कर्म है। कर्म शब्द अनेकार्थी है।

कर्म शब्द का अर्थ है—कार्य, क्रिया और प्रवृत्ति आदि। आचार्य देवेन्द्र सूरि के शब्दों में— जीव^{५१} की क्रिया का जो हेतु है, वह कर्म है।

मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव द्वारा जो किया जाता है, वही कर्म है।^{५२} आवश्यक निर्युक्ति में कृषि, वाणिज्य आदि कार्यों को कर्म कहा है।^{५३} पौराणिकों ने व्रत-नियम को कर्म कहा है। कारक परिधि में कर्ता का व्याप्य कर्म है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म आत्मा की मलिनता का हेतु है, इस आधार पर कर्म के कुछ नाम मलिनता के द्योतक हैं—पंक, मङ्गल, कलुष, मल आदि।

कर्म दुःख परम्परा का निमित्त है इसलिये कारण में कार्य की औपचारिकता की दृष्टि से क्लेश, असात्, खुह, दुष्पक्खं आदि शब्द कर्म के वाचक हैं। कर्म के पर्यायवाची और भी शब्दों का उल्लेख मिलता है।

कर्म शब्द ढाई अक्षरों का जोड़ है किन्तु बड़ा विचित्र है। समस्त अध्यात्म के रहस्यों को अपने में समेटे हुए है। जैन तीर्थंकरों ने विश्व को अनेक अवदान दिये हैं। कर्मवाद उस-श्रृंखला में अद्वितीय है।

इसके आधार पर ही गति-अगति, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, उत्कर्ष-अपकर्ष, मोक्ष का सिद्धांत निरूपित किया है। कर्म का स्वरूप, फल, परिपाक, आदेयत्व, अनादेयत्व आदि अनेक पहलू हैं, जिन पर विभिन्न दर्शनों में विस्तार से चिंतन किया गया है। जैन दर्शन में कर्मवाद पर मौलिक चिन्तन उपलब्ध है, जो तर्कसंगत और वैज्ञानिकतापूर्ण है।

भारत के सभी धर्मग्रन्थों, धर्मशास्त्रों और दर्शनों में कर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है जो आत्मा की विभिन्न शक्तियों को प्रभावित, आवृत और कुंठित करता है। शब्दान्तर हो सकता है किन्तु मूल तथ्य समान है। जैसे—

वेदान्त	—	माया या अविद्या
सांख्य दर्शन	—	प्रकृति या संस्कार
योग दर्शन	—	कर्माशय या क्लेश
न्याय दर्शन	—	अदृष्ट या संस्कार
बौद्ध दर्शन	—	वासना या अविज्ञप्ति
वैशेषिक दर्शन	—	धर्माधर्म
शैव दर्शन	—	पाश
मीमांसा दर्शन	—	अपूर्व
जैन दर्शन	—	कर्म

ऋग्वेद^{१४} में कर्म शब्द चालीस बार प्रयुक्त हुआ है। वहां धार्मिक अनुष्ठान का द्योतक है। इस प्रकार किसी-न-किसी रूप में सभी दर्शनों ने कर्म को मान्य किया है। बौद्ध दर्शन में शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग किया है। कर्मोत्पत्ति के तथागत ने तीन कारण माने हैं—लोभ, द्वेष और मोह। ये तीनों अकुशल के मूल हैं।

पातंजल योग दर्शन में कर्म के संस्कारों की जड़ है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। ये पांच क्लेश हैं। यह क्लेशमूलक कर्माशय जिस प्रकार इस जन्म में दुःख देता है वैसे भविष्य में भी। चित्तगत ये भावनाएं और क्रियाएं ही विविध अवस्थाओं में परिणत होकर संचित होती हैं। उस अवस्था में

उन्हें कर्माशय कहा जाता है। कर्माशय का फल जन्म और जन्मान्तर दोनों में प्राप्त हो सकता है।^{५५} जन्म (जाति), आयु और भोग रूप फल तीन प्रकार का है।^{५६}

अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैन दर्शन में कर्म का विशेष विवेचन है। यही कारण है, कर्मवाद जैन दर्शन का विशिष्ट अंग बन गया। जैन दर्शन में कर्म के आधारभूत सिद्धांत हैं—

१. प्रत्येक क्रिया फलवती होती है। निष्फल नहीं होती।
२. कर्म का फल यदि वर्तमान में नहीं मिलता तो भविष्य में अवश्य मिलेगा।
३. कर्म का कर्ता और भोक्ता जीव स्वयं है।
४. व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नता का हेतु कर्म ही है।

आधुनिक विज्ञान और कर्म

संसार का वैषम्य जिज्ञासा पैदा करता है कि यह वैषम्य क्यों? इसके पीछे कारण क्या है? करोड़ों मनुष्यों में जातिगत एकता होने पर भी वैयक्तिक भिन्नता क्यों है? कोई भी मनुष्य शारीरिक या मानसिक, किसी भी दृष्टि से समानता नहीं रखता।

अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, लम्बा-छोटा, यह वैयक्तिक भिन्नता प्रत्यक्ष है। गति-मति-संस्कृति में भिन्नता, विचार एवं भावना में भिन्नता, बौद्धिक क्षमता एवं स्वभाव में भिन्नता। इनके पीछे हेतु क्या है?

ज्ञान, बुद्धि, इन्द्रिय-शक्ति, विद्वत्ता, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, आयु, जन्म, कुल, जैविक-लक्षण, शारीरिक संरचना आदि ऐसे अनेक पहलू हैं जो जीव-जगत की विचित्रता विभक्ति को पैदा करते हैं।

भेद के कारणों पर मनोविज्ञान ने सूक्ष्मता और व्यापकता के साथ चिन्तन किया है। उसने दो कारण खोजे हैं—हेरिडिटी (Heredity) वंशानुक्रम और पर्यावरण। ये दोनों तत्त्व मनुष्य के जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं। नैतिक, सामाजिक, बौद्धिक और शारीरिक सभी परिस्थितियां वातावरण के अन्तर्गत आ जाती हैं।

वंशानुक्रम गुणों का एक जोड़ है जो बालक जन्म से लेकर आता है। सामान्यतया यह धारणा है कि समान-समान को ही पैदा करता है। अर्थात् माता-पिता के अनुरूप संतान होती है। अभिभावक बुद्धिमान, स्वस्थ और

निर्बल है तो संतान भी वैसी ही उत्पन्न होगी। किन्तु यह धारणा यथार्थ प्रतीत नहीं होती। कहीं-कहीं इसके विपरीत भी दृष्टिगोचर होता है। तब किसी अन्य कारण की जिज्ञासा उठती है। वह कारण मनोविज्ञान की भाषा में वंशानुक्रम और परिवेश है। जैन दर्शन में कर्म है।

आनुवंशिकता का सम्बन्ध जीवन से है। कर्म का सम्बन्ध जीव से है। अनेक जन्मों के कर्म संस्कार जीव में संचित हैं। वे ही वैयक्तिक विलक्षणता के आधार हैं। मात्र वंशानुक्रम व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व नहीं हो सकता।

विज्ञान के अनुसार हमारा शरीर कोशिकाओं (Cells) की संरचना है। कोशिका शरीर की सबसे छोटी इकाई है। कोशिका में जीवन-रस है। जीवन रस में जीवकेन्द्र (Nucleus) और न्युक्लीयस में क्रोमोसोम (Chromosomes) गुण-सूत्र हैं। क्रोमोसोम में जीन (Genes) हैं। संस्कारसूत्र जीन में हैं। ये जीन्स ही माता-पिता के संस्कारों के वाहक या उत्तराधिकारी हैं। एक जीन में करीब ६० लाख संस्कारसूत्र अंकित रहते हैं। उनके आधार पर मनुष्य की आकृति, प्रकृति, भावना और व्यवहार में अन्तर आता है।

व्यक्ति के आनुवंशिक गुणों का निश्चय क्रोमोसोम के द्वारा होता है, जो उसके अनेक जीनों का समुच्चय है। इसमें ही शारीरिक, मानसिक विकास की क्षमताएं (Potentialities) भरी हैं। व्यक्ति में कोई ऐसी विलक्षणता नहीं जिसका बीज जीन में न हो।

Law of Variation भिन्नता के नियम की चर्चा प्राचीन आयुर्वेद एवं जैनागमों में उद्धृत है। आयुर्वेद के अनुसार पैतृक गुण संतान में संक्रमित होते हैं।

जीवन विज्ञान के अभिमत से जीवन की किताब इस शब्द को जीन कहा है। ये जीन माता-पिता से विरासत में मिलते हैं। गर्भ में जीवन की बुनियाद रखने वाली कोशिका में कुल मिलाकर ४६ गुणसूत्र होते हैं। जिनमें २३ माता के और २३ पिता से प्राप्त होते हैं। डी.एन.ए. गुणसूत्रों का आधार है।

भ्रूण के लिङ्ग का निर्धारण भी पिता के शुक्र पर आधारित है। माता के रज में केवल X होता है और पिता के शुक्र में X और Y दोनों होते हैं। जब माता के X और पिता के Y का संयोग बनता है तब पुत्र उत्पन्न होता है। दोनों के XX संयुक्त होने से पुत्री का जन्म होता है।

कुछ लोगों ने शुक्राणु के जीवत्व में संदेह व्यक्त किया है। किन्तु जीव विज्ञान ने संदेह का निवारण इस प्रकार किया है—

“पुरुष के अण्डकोष (Testicles) में अनेक कोशिकाएं होती हैं। उनमें से कुछ कोशिकाएं विभिन्न जटिल परिवर्तनों से होकर गुजरती हैं। जो कोशिकाएं Mature हो जाती हैं उन्हें शुक्राणु कहते हैं।

शुक्राणु तीन भागों में विभक्त होते हैं—शिरोभाग, मध्यभाग, तथा पूंछ। इसकी लम्बाई लगभग ०, ०५ मि.मी. तथा मोटाई पतले बाल की आधी होती है। पुरुष एक बार में दो करोड़ से ४० करोड़ तक शुक्राणु निकालता है। शुक्राणु के शिरोभाग में क्रोमोसोम है। मध्यभाग (Middle Piece) ऊर्जा देता है। पूंछ (Tail) चलने में सहयोगी है। शुक्राणु की औसत आयु ४८ से ७२ घंटे की है।

लेकिन इन्हें ० से १८० डिग्री सेल्सियस नीचे ताप पर द्रवित कर कार्बन-डाई-ऑक्साइड में पूर्ण रूप में फ्रीज कर दिया जाये तो महीनों तक सुरक्षित भी रखा जा सकता है। यदि शिरोभाग से मध्यभाग और पूंछ अलग कर दिये जायें तो ये निष्क्रिय होकर अड़तालीस घंटे से पूर्व ही मर जाते हैं।” इससे शुक्राणु की सजीवता प्रमाणित है।

शरीर विज्ञान की मान्यता से शरीर का महत्वपूर्ण घटक ‘जीन’ है। मनुष्य की शक्ति, पुरुषार्थ और कर्तृत्व कितना है जीन उनका आधार है। विश्व की विषमता और विचित्रता का मुख्य निमित्त ‘जीन’ को ही माना है।

आनुवंशिकता, जीन, रासायनिक परिवर्तन और कर्म सिद्धांत। तुलनात्मक दृष्टि से इनमें कर्म ही मुख्य है। जीन स्थूल शरीर का अवयव है। कर्म सूक्ष्मतर शरीर का। दोनों परस्पर अनुबंधित हैं।

महावीर ने भगवती तथा स्थानांग में ‘जीन’ को मातृअंग, पितृअंग के रूप में निरूपित किया है। इसलिये आधुनिक विज्ञान के वंशानुक्रम की खोज कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है।

माता-पिता के संस्कार संतान में संक्रमित होते हैं किन्तु एक समान वातावरण, समान पर्यावरण, समान संस्कार एवं शिक्षा की व्यवस्था समान होने पर भी दो संतानों में काफी विषमताएं दोषी जाती हैं। समान ‘जीन संरचना’ फिर भी दोनों के विकास, व्यवहार, बुद्धि और आचरण में भेद है। ऐसा क्यों ?

वंशानुक्रम विज्ञान के पास इनका उत्तर नहीं है। मनोविज्ञान भी निरुत्तर है। तब कर्म की ओर दृष्टि टिकती है। कर्म जीन से सूक्ष्मतर है। जैन दर्शन में भिन्नता का मूल कर्म है।

केवल वंशानुक्रम के आधार पर व्यक्तित्व को समझने का प्रयास, पर्याप्त नहीं कहा जाता क्योंकि कोई भी वंशानुक्रम व्यक्ति के पूर्व कर्मों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इसलिये कर्म सिद्धांत ही महत्वपूर्ण है।

मनोविज्ञान में आनुवंशिकता के साथ परिवेश (Environment) को भी स्वीकार किया है। परिवेश का भी अपना महत्व है। फिर भी उसे मूल कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि कभी-कभी उपादान की शक्ति निमित्तों को अप्रभावी बना देती है।

मूल प्रेरणाओं (Primary Motives) का भी सम्बन्ध है। वे सबमें होती हैं किन्तु मात्रा में अन्तर है। किसी में कोई एक प्रधान है किसी में दूसरी।

संवेगों के उद्दीपन (Stimulation) से व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आता है। मनोविज्ञान का सिद्धांत है—कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म के विपाक से व्यक्ति के चरित्र और व्यवहार में रूपान्तरण होता है। कर्मवाद का आधार कषाय एवं योग है जो चेतना के बाह्य और भीतरी दोनों स्तरों से जुड़ा है।

कर्मवाद का सिद्धान्त प्राचीन है। आप पुरुषों की अनुभूत वाणी है। जबकि मनोविज्ञान का जन्म केवल दो शताब्दी पूर्व हुआ है किन्तु तुलना की दृष्टि से एक-दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। कर्मवाद भावजगत् तथा प्राणी के आचरणों के मूल स्रोतों की व्याख्या करता है। मनोविज्ञान भी। अतः दोनों की साथ में युति कर दी जाये तो मनोविश्लेषण में चिन्तन एवं प्रयोगों को नई दिशाएं मिल सकती हैं।

मनोविज्ञान चेतना के तीन स्तरों की व्याख्या करता है। ज्ञानात्मक (Cognitive), भावात्मक (Affective) और संकल्पात्मक (Conative)। मनोविज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र अनुभव और व्यवहार है किन्तु कर्मवाद का मनोविज्ञान केवल पशु-पक्षी और मनुष्य के मन तक ही नहीं रुका, बल्कि उन सभी जीवों के आन्तरिक भावों की व्याख्या करता है जिनके मन नहीं होता।

शरीर मनोविज्ञान में शरीर में स्थित ग्रंथियों^{५७} का सूक्ष्म विवेचन है। बौना या लम्बा, सुन्दर-असुन्दर, स्वस्थ-रोगी, बुद्धिसंपन्न या बुद्धिहीन बनाना ये सब ग्रन्थियों के स्रावों के प्रभाव हैं। स्राव ही इन सबको नियंत्रित करते हैं।

कर्मशास्त्र में नामकर्म के कारण सुन्दर-असुन्दर आदि जो भी बनता है। शरीर का निर्माण नामकर्म के आधार पर होता है। कर्मशास्त्र और शरीरशास्त्र दोनों में भाषा का अंतर है। तथ्य समान हैं। शरीर मनोविज्ञान की भाषा में जिन्हें

हार्मोन्स, ग्रन्थियों के साव कहा जाता है, कर्मशास्त्र में उन्हें रसविपाक या अनुभाग की संज्ञा दी है।

फ्रायड ने भी मन के तीन पक्ष बताये हैं—चेतन (Conscious) अवचेतन (Pre-conscious) और अचेतन (Un-conscious)। चेतन मन वह है जिसमें इच्छाओं, विचारों, घटनाओं की वर्तमान में अनुभूति रहती है।

अवचेतन मन, इच्छाओं और स्मृतियों का भंडार है पर उनका ज्ञान वर्तमान में नहीं रहता। अचेतन मन दमित भावनाओं, विचारों एवं आवेगों का संग्रहालय है जिसकी चेतना न वर्तमान में होती है न प्रयास करने पर भी प्रत्यक्ष विषय बनती है।

चेतन मन जो-कुछ करता है वह सब वर्तमान का ही नहीं, उसमें अवचेतन मन का हिस्सा होता है। कर्मशास्त्र की भी यही मान्यता है कि मनुष्य जो कार्य करता है वह केवल वर्तमान परिवेश और परिस्थिति से प्रभावित होकर ही नहीं करता बल्कि उसके पीछे पूर्वार्जित कर्मों का भी हाथ होता है।

दबी हुई इच्छाएं, आकांक्षाएं अवचेतन मन में चली जाती हैं। जब वे जाग्रत होती हैं तो चेतन मन को प्रभावित कर सक्रिय बनाती हैं। कर्मशास्त्र के अनुसार पूर्वार्जित कर्म जब उदयावस्था में आते हैं तो अपना फल देते हैं। तब उनसे स्थूल मन प्रभावित होता है और तदनुरूप व्यवहार करने लगता है।

फ्रायड ने मानव-व्यवहार की प्रेरक शक्ति के रूप में दो तत्त्व माने हैं—इरोज (Eros) एवं थैनटॉस (Thanatos)। जैन दर्शन की भाषा में इन्हें राग-द्वेष कहा जाता है। कर्म संग्रह में दो निमित्त हैं। ज्ञान चेतना से कर्म बंध नहीं होता। कर्मफल चेतना जब राग-द्वेष युक्त होती है तब संवेदनात्मक बनती है।

उत्तराध्ययन में कहा है—मोह चेतना से युक्त अनुभूति ही कर्म बंधन का कारण है। जयंति श्राविका ने प्रश्न उठाया था—भंते ! प्रशस्त क्या है ? अप्रशस्त क्या है ?

महावीर—जयंति ! लघुता प्रशस्त है। गुरुता अप्रशस्त है।

जयंति का मन समाहित नहीं हुआ। इस रहस्य को समझ नहीं पाई तब प्रतिप्रश्न किया— भंते ! क्या जीव हल्का-भारी होता है ?

महावीर—जीव प्राणातिपात, मृषावाद आदि क्रियाओं से भारी होता है। इनका निरोध करने से हल्का होता है।

यह संवाद सूक्ष्म सत्य की अभिव्यक्ति है। महावीर ने कहा—क्रिया केवल क्रिया के रूप में ही समाप्त नहीं होती। वह अपने पीछे संस्कार के पदचिह्न भी छोड़ती है। इन संस्कारों के उदय होने पर पुनः उसी रूप में क्रिया करने को तत्पर हो जाता है। संस्कारों का अक्षय भंडार है जो भरता ही रहता है।

संस्कारों के इस भंडार को ही मनोविज्ञान में अचेतन मन (Un-conscious mind) कहा जाता है। अतः तुलनात्मक दृष्टि से कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान काफी निकट हैं। दोनों एक ही धुरी पर अवस्थित हैं।

कर्मशास्त्र और शरीर विज्ञान

कर्मशास्त्र में मोहनीय कर्म के चार आवेग हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। चार मुख्य आवेग हैं। उपआवेग की संख्या नौ है—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद। इन्हें नोकषाय भी कहा जाता है। ये सब मोहकर्म के ही भेद-प्रभेद हैं। व्यक्ति की दृष्टि और चरित्र को प्रभावित करते हैं। मोह के परमाणु मूर्च्छा के जनक हैं। मूर्च्छा से दृष्टि, व्यवहार और आचार—सभी मूर्च्छित हो जाते हैं।

शरीरशास्त्र के आधार पर आवेग छह हैं—भय, क्रोध, हर्ष, शोक, प्रेम और घृणा। आवेगों का बड़ा महत्त्व है। स्नायुतंत्र, मांसपेशियाँ, रक्त-प्रवाह, फुफ्फुस, हृदयगति, श्वास और ग्रन्थियाँ, इन सब पर इनका प्रभाव है। शारीरिक क्रियाओं में रासायनिक परिवर्तन भी आवेगों के कारण होता है।

प्राणियों की विभिन्नताओं, वैयक्तिक विशेषताओं, अपूर्व क्षमताओं, मानसिक और बौद्धिक विलक्षणताओं का मूल कारण पूर्व कृत कर्म ही क्यों ?

इसे प्रमाणित किया है जीन, आनुवंशिकता, परिवेश, ग्रन्थियों के साव, मनोविज्ञान, जैवविज्ञान आदि ने। किन्तु जैन दर्शन ने स्पष्ट रूप से वैविध्य का कारण कर्म घोषित किया है। भगवती सूत्र में प्रश्न है—“कम्मओ”^{१८} णं जीवे णो अकम्मओ विभत्ति भावं परिणमई।” अर्थात् जीव कर्म के द्वारा ही विविधता को प्राप्त करता है। अकर्म से नहीं।

आत्मा का आन्तरिक वातावरण : परिस्थिति के घटक

आत्मा की आन्तरिक योग्यता सबमें एक जैसी नहीं होती। इसका हेतु भी कर्म है। कर्म के संयोग से आत्मा आवृत, विकृत होती है। कर्म के विलय से स्वभाव में स्थित हो जाती है। कर्म-मुक्त आत्मा पर बाह्य परिस्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अशुद्ध आत्मा प्रभावित हो जाती है। परिस्थिति उत्तेजक है। कारक नहीं।

परिस्थिति क्या है? जैन दर्शनानुसार काल (Time) क्षेत्र (Space) पुरुषार्थ (Effort) नियति (Universal law) स्वभाव (Nature) और कर्म, इनका समवाय परिस्थिति है। इसमें केवल कर्म को निमित्त मानना एकांगी दृष्टिकोण है और परिस्थिति को भी एकांत महत्त्व नहीं दिया जाता। जैन दृष्टि अनेकांतवादी है।

अनेकांत के आधार पर हर स्थिति का समाधान दिया जाता है। जैन दर्शन कहता है, रोग पैदा होने में केवल देश-काल ही कारण नहीं बल्कि उससे कर्म उत्तेजित होते हैं। वे रोग के जनक हैं। इसी तरह उत्तेजित कर्म पुद्गलों से ही आत्मा में विविध प्रकार के परिवर्तन घटित होते हैं।

परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव है। परिस्थिति की पहुंच कर्म-संघटना तक ही है। परिस्थिति से कर्म प्रभावित है। आत्मा कर्मों से। कर्म पर प्रभाव नहीं पड़ता तो आत्मा पर भी प्रभाव नहीं है।

जैन कर्मवाद : समन्वयात्मक चिंतन

कोई कालवाद को प्रमुखता देता है, कोई पुरुषार्थ और नियति को। एकान्तवादी एक-एक तत्त्व को विश्व-वैचित्र्य का कारण मानते हैं। यह यथार्थ नहीं है। एकान्तवाद से सत्य की उपलब्धि संभव नहीं है। जैन दर्शन किसी एक को नहीं, पांचों के समवाय को महत्त्व देता है।

उदाहरण के तौर पर यदि सद्-असद् प्रवृत्ति का प्रेरक तत्त्व स्वभाव को ही मानलें तो किसी प्रकार के सुधार की संभावना ही नहीं रहेगी। यदि नियति को मुख्यता दी जाये तो व्यक्ति के कर्तृत्व और पुरुषार्थ का अवमूल्यन हो जाता है। जबकि कर्म और पुरुषार्थ का सापेक्ष महत्त्व है।

आचार्य सिद्धसेन का अभिमत है—काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ परस्पर निरपेक्ष रहकर कार्य-सम्पादन में असमर्थ रह जाते हैं। इनकी समन्विति में कार्य की सफलता है।

कर्मवाद किसका समर्थक : नियतिवाद या पुरुषार्थवाद ?

प्रश्न उठता है, क्या कर्म सिद्धांत एकान्त रूप से पुरुषार्थवादी विचारधारा का समर्थक है या नियतिवादी? व्यक्ति स्वतंत्र रूप से जो-कुछ करता है, यह उसका पुरुषार्थ है। नियति शब्द भाग्य का पर्यायवाची शब्द है। नियतिवाद की सामान्य धारणा यह है कि मनुष्य जो-कुछ करता है वह पहले से नियत है। उसका अतिक्रमण नहीं होता। यहां पुरुषार्थवाद का कोई मूल्य नहीं।

जैन दर्शन में कर्म के अनुसार नियति का अर्थ इस प्रकार नहीं है। नियति का अभिप्राय कर्मों का नियत क्रम में संचित होकर समय के परिपाक से फल देने से है।

आचार्य हरिभद्र ने नियति का स्वरूप जो बताया है—“जिस वस्तु को, जिस रूप में, जिस समय, जिस कारण से होना है, वह वस्तु उस समय, उस कारण से, उस रूप में निश्चित रूप से उत्पन्न होती है।” नियतिवाद के संपोषक विचार हैं।

इसके बावजूद भी कर्म सिद्धांत को एकान्त रूप नियतिवादी नहीं कह सकते। यदि मानलें कि हमारे समग्र विचार, सारी क्रियाएं नियति के अधीन हैं तो पुरुषार्थ का कोई मूल्य नहीं। न परिवर्तन करने में भी समर्थ हो सकेंगे।

कर्मों के सम्पादन में व्यक्ति के आत्म-स्वातंत्र्य या पुरुषार्थ का प्रश्न है। जैन आगमों में पुरुषार्थवादी विचारधारा के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं।

उपासक दशाङ्ग में महावीर और सद्दालपुत्र का संवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इससे स्पष्ट है कि जैन दर्शन में पुरुषार्थवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से कर्मों को निर्मूल कर मुक्ति का अधिकारी बन जाता है।

कर्म का सिद्धांत कार्य-कारण का सिद्धांत है। भाव कर्म, द्रव्य कर्म को उत्पन्न करता है और द्रव्य कर्म, भाव कर्म को। भाव कर्म का द्रव्य कर्म निमित्त है। द्रव्य कर्म का भाव कर्म। दोनों का परस्पर बीजांकुर की तरह कार्य-कारण सम्बन्ध है। कर्म सिद्धांत के दोनों आधारभूत अंग हैं।

जीव और पुद्गल की समन्वित अवस्था में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं। पूर्वबद्ध कर्मों के निमित्त से जीव के परिणाम और उन परिणामों के निमित्त से नये कर्मों का बंध। ऐसी अटूट शृंखला अनादिकालीन है।

कर्म के उदय से आत्मा के जो भाव होते हैं उन्हें औदयिक भाव कहते हैं।

जो कर्म सत्ता में हैं यानी जिनका उदयकाल अभी आया नहीं है ऐसे कर्मों को जिन भावों से उदय में लाया जाता है उसे उदीरण कहते हैं। उदीरणा में आत्मा के परिणाम कारण हैं, और कर्म का उदयावली में आना कार्य है।

औदयिक भाव में कर्म का प्राधान्य है, उदीरणा में आत्मा के परिणाम मुख्य हैं। औदयिक भाव प्रतिसमय रहता है, जबकि उदीरणा के भाव पुरुषार्थ के साथ अनियत समय के लिये होता है। औदयिक भाव में उदीरणा की नियमा

नहीं। हो भी सकती है, और नहीं भी। किन्तु उदीरणा भाव में औदयिक भाव नियम से होते हैं। कर्म का निमित्त-नैमित्तिक भाव औदयिक भाव के साथ है।

जितने अंश में रागादि भाव आत्मा में होंगे, उतने ही अंश में कार्मण वर्गणा को तदनुरूप होना नैमित्तिक है। प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में स्वभाव, काल आदि पांचों समवाय कारण अवश्य होते हैं। स्वभाव यानी द्रव्य की स्वशक्ति। काल-समय। पुरुषार्थ-बल है। नियति-समर्थ उपादान और कर्म से निमित्त लिया गया है। कार्य बिना निमित्त के संभव नहीं। उपादान में अनेक कार्य करने की क्षमता है पर उसमें कौनसी शक्ति कार्यरूप में परिणत होगी, यह निमित्त पर आधारित है।

पानी में वाष्प या बर्फ दोनों बनने की शक्ति है। किन्तु वाष्प बनेगा या बर्फ यह अग्नि और फ्रिज पर निर्भर है। विज्ञान जगत में भी निमित्त-नैमित्तिक की चर्चा है। हम जिसे निमित्त कहते हैं, रसायन विज्ञान में उसे उत्प्रेरक के नाम से अभिहित किया है।

उत्प्रेरक किसे कहते हैं—“वह पदार्थ जो केवल अपनी उपस्थिति द्वारा रासायनिक क्रियाओं का वेग घटा या बढ़ा देते हैं और प्रक्रिया के अंत में इनकी बनावट और भार में कोई अंतर नहीं आता है, ऐसे पदार्थों को उत्प्रेरक कहते हैं। और इस प्रकार की प्रक्रिया को उत्प्रेरणा कहा जाता है।”

अतः कर्म का सिद्धान्त कार्य-कारण या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का सिद्धान्त है। कार्य-कारण में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। प्रत्येक कार्य में कारण अवश्य होता है। जहां कारण है कार्य नियमतः देखा जाता है। कारण पूर्ववर्ती अवस्था है, कार्य उत्तरवर्ती। कार्य का नियामक हेतु कारण है। न्याय-वैशेषिक में कारण के संदर्भ में तीन कसौटियों का निर्देश है—पूर्ववर्तित्व, नियतत्व, अन्यथा सिद्धत्व।^{१३}

१. पूर्ववर्तित्व—कारण कार्य से पूर्व होता है किन्तु पूर्ववर्ती प्रत्येक क्रिया कारण नहीं बनती। जैसे—मयूर बोला और वर्षा आ गई। किन्तु यह नियम नहीं बनता कि मयूर बोलेगा तभी वर्षा होगी। यह तो कादाचित्क घटना है।

२. नियतत्व—कार्य से पूर्व जो कारण विद्यमान रहता है उसे नियतत्व कहते हैं। पूर्ववर्ती की भी अनेक स्थितियां हो सकती हैं पर वे सब की सब कारण नहीं कहलातीं। अतः तीसरा विशेषण है अन्यथा सिद्ध—इसका तात्पर्य है जिसका कार्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध न हो। जैसे घट के निर्माण में

मृत्तिका की तरह उसके रूपादि गुण भी सहायक होते हैं, किन्तु उन गुणों को घट का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वे कार्य के साथ अन्यथा सिद्ध हैं। उन्हें अवान्तर सहयोगी भी कहा जाता है। कारण नहीं। कारण वही होता है जिसके बिना कार्य निष्पन्न न हो।

वैशेषिक दर्शन में अन्य तीन कारणों का और उल्लेख है—समवायी कारण, असमवायी कारण, निमित्त कारण। तन्तु पट का समवायी कारण है। तन्तुओं का सहयोग असमवायी कारण है। जुलाहा, तुरी आदि उसके निमित्त कारण हैं।^{६०} समवायी कारण का पर्याय उपादान कारण है।

भारतीय साहित्य में कारण-कार्यवाद के संदर्भ में अनेक मतवाद प्रचलित हैं। असत् कारणवाद, सत् कारणवाद, असत् कार्यवाद, सत्कार्यवाद, सदस्सत् कार्यवाद आदि। अतः प्राचीनकाल से ही कार्य-कारण पर विमर्शणा होती रही है। कर्म में भी कार्य-कारणवाद सम्बन्ध हैं।

यदि निरपेक्ष रूप से पुरुषार्थ को ही महत्त्व दिया जाये तो कर्म विपाक की नियत अवस्था के अभाव में कर्म और उसके फल के बीच में कोई सुनिश्चित क्रम नहीं बन पाता तथा एकमात्र नियति को सत्य स्वीकार किया जाये तो व्यक्ति के आत्म-स्वातन्त्र्य पर कुठाराघात है। अतः कर्म सिद्धान्त न तो एकान्ततः नियतिवादी है न पुरुषार्थवादी, बल्कि कर्म-सिद्धान्त में दोनों का विशिष्ट योगदान है।

कर्मवाद का इतिहास

भारत अनेक दर्शनों की जन्मस्थली है। प्रत्येक दर्शन और दार्शनिक अवधारणा की विकास यात्रा के पीछे एक पृष्ठभूमि है। केन्द्रीय सिद्धान्त है। भारतीय दर्शनों में नामान्तर रूप से भी कर्मवाद की विवेचना का प्राधान्य है। किन्तु कर्मवाद की विशिष्ट व्याख्या-विश्लेषण और निरूपण शैली का श्रेय जैन परम्परा को है। जैन आचार्यों की मौलिक देन है।

इसका दार्शनिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अनुशीलन अति महत्त्वपूर्ण है। इस संदर्भ में प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी के विचार स्पष्ट हैं।

“वैदिक तथा बौद्ध साहित्य में कर्म सम्बन्धी उल्लेख है किन्तु उसका कोई मौलिक ग्रन्थ दृष्टिपथ में नहीं आता, जबकि जैन दर्शन में कर्म सम्बन्धी विचार व्यवस्थित और विस्तार से हैं।”^{६१}

कर्म के उद्भव का जहां तक प्रश्न है, जैन आगम या ग्रन्थों के तलस्पर्शी अध्ययन का निष्कर्ष है—“सर्वप्रथम वैयक्तिक विषमता के कारणों की खोज के फलस्वरूप ही कर्म-सिद्धान्त अस्तित्व में आया।”

विश्व के रंगमंच पर विचित्र अभिनय है। इससे अनेक चिन्तकों के मस्तिष्क पर दस्तक हुई कि यह वैषम्य क्यों ? किस अदृश्य शक्ति की लीला है ? विभिन्न लोगों ने विभिन्न कारण प्रस्तुत किये किन्तु मूल कारण की खोज करें तो कर्म के अतिरिक्त जागतिक वैचित्र्य का और कोई युक्ति पुरस्सर कारण ज्ञात नहीं होता। जैन दर्शन का कर्मवाद यथार्थ है। आचारांग सूत्र में महावीर ने कहा—“कर्म से उपाधि का जन्म होता है”।^{६२}

वैदिक ऋषियों को इस वैषम्य की अनुभूति नहीं थी—ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु विविधता का कारण अन्तरात्मा में दूढ़ने की अपेक्षा उसे बाह्य तत्त्व में मान कर ही संतोष कर लिया। इससे लगता है कि उनका रुझान इस ओर अधिक नहीं था।

कुछ विचारकों ने काल को मूल कारण माना तो किसी ने स्वभाव को। किसी ने नियति को तो किसी ने यदृच्छा तथा ईश्वर को। कर्म का उल्लेख वहां अधिक नहीं मिलता । किन्तु उक्त मान्यताएं भी तर्कसंगत नहीं लगतीं।

यदि काल को ही सुख-दुःखानुभूति का कारण मानें तो एक ही समय में सुख-दुःख की भिन्न अनुभूति देखने को नहीं मिलती। तथा अचेतन काल सुख-दुःखात्मक अनुभूति का निमित्त कैसे हो सकता है ? इस प्रकार अन्य कारणों के सम्बन्ध में भी यही उलझन है इसलिये उक्त मान्यताएं सही प्रतीत नहीं होतीं। इन सब वादों का निरसन करने हेतु मानो कर्मवाद अस्तित्व में आया।

कर्म सिद्धान्त के उद्भव के पीछे पंडित सुखलालजी ने तीन हेतुओं का उल्लेख किया है—

१. वैदिक धर्म की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता का निरसन।
२. बौद्ध धर्म के एकान्त क्षणिकवाद का निरसन।
३. आत्मा को जड़-तत्त्व से भिन्न चेतन तत्त्व स्थापित करना।

वेदों^{६३} और उपनिषदों^{६४} के आधार पर लोकधारणा इस रूप में पुष्ट हो चुकी थी कि अच्छे-बुरे कर्मों का फल ईश्वर द्वारा मिलता है। ईश्वर नियामक है।^{६५} न्याय दर्शन का मन्तव्य है। महाभारत^{६६} और गीता^{६७} में भी इसकी पुष्टि मिलती है।

जैन दर्शन का मन्तव्य अलग है। उसमें किसी न्यायाधीश या नियन्ता की आवश्यकता नहीं। कर्म फल में जीव की अपनी निजी भूमिका ही प्रमुख रूप से उत्तरदायी है।

जैन दर्शन कर्मफल नियन्ता ईश्वर का विरोध ही नहीं करता बल्कि इसके सम्बन्ध में पुष्ट एवं प्रामाणिक तर्क भी प्रस्तुत करता है कि यदि ईश्वर नियन्ता है तो व्यक्ति का स्वतंत्र कर्तृत्व कुण्ठित हो जाता है। कर्मवाद इस मान्यता का निरसन है।

क्षणिकवाद के आधार पर प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है। परिवर्तनशीलता के कारण कर्म विपाक की कोई निश्चित कालावधि नहीं बन पाती। अतः क्षणिकवाद का समाधान कर्म सिद्धांत से हो सकता है।

तीसरा कारण है आत्मा और शरीर की अभिन्नता। शरीर के साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है। भौतिकवादियों की इस धारणा का उत्तर है— कर्मवाद। यदि आत्मा को क्षणिक माना जाये तो कर्म विपाक की किसी तरह उपपत्ति नहीं हो सकती। जब कर्म का विपाक ही नहीं तो अस्तित्व कहां टिकेगा? जैन दर्शन ने कर्म सिद्धांत के साथ आत्मा की अमरता का भी प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार कर्म सिद्धांत का उद्भव तत्कालीन दार्शनिक अवधारणाओं की संगतियों के परिमार्जन एवं कर्मफल व्यवस्था को सुसंगत बनाने हेतु हुआ है। यह यथार्थ की अभिव्यक्ति है, अतिशयोक्ति नहीं।

जैन कर्म सिद्धांत और उसका विकास

जैन कर्म सिद्धांत का विकास कैसे हुआ ? उसे समझने के लिये कालक्रम का वर्गीकरण और विभाजन करने से आसान हो जायेगा।

1. कर्म सिद्धांत का प्रारंभिक काल या उद्भव काल ई. पू. छठी शताब्दी से ई.पू. तीसरी शताब्दी है।
2. जैन कर्म सिद्धांत का व्यवस्थापन काल ई.पू. दूसरी सदी से ईसा की तीसरी सदी।
3. जैन कर्म सिद्धांत का विकास काल ईसा की चौथी शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी।

जैन कर्म सिद्धांत का आदि काल ई. पू. छठी शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक माना जाता है। इसका प्रमाण साहित्यिक दृष्टि से तीन ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

आचारांग, सूत्रकृतांग और ऋषिभाषित। भाषा, विषयवस्तु और अन्य सामग्री की दृष्टि से तीनों ई.पू. तीसरी शताब्दी की रचनाएं हैं। इनमें भी आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध अति प्राचीन हैं। इन ग्रन्थों में भी जैन कर्म सिद्धान्त के केवल मूल बीज ही उपलब्ध होते हैं, सुव्यवस्थित विवेचन नहीं।

जैनागम साहित्य में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को महावीर वाणी का प्रतिनिधित्व करने वाला विद्वानों ने मान्य किया है। कालक्रम की दृष्टि से आचारांग के बाद सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध को स्थान मिला। उसमें बंधन को जानने और तोड़ने की बात कही है।

इस काल की रचनाओं में तीसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है—ऋषिभाषित। ऋषिभाषित के दूसरे अध्याय में लिखा है— जीव संसार में कर्म का अनुगामी होता है।^{६८} कर्म रूपी बीजों से मोहांकुर और मोहांकुर से पुनः कर्मबीज उत्पन्न होते हैं।^{६९}

पच्चीसवें अध्याय में, पापकर्म ही गर्भावास यानी पुनर्जन्म का कारण है।^{७०} इकतीसवें अध्याय में, महावीर से पूर्व तीर्थंकर पार्श्व की मान्यताओं का उल्लेख है।

तीसरी शताब्दी के प्रमुख ग्रन्थों में उत्तराध्ययन, स्थानांग, समवायांग, भगवती के कुछ अंश और प्रज्ञापना, तत्त्वार्थ सूत्र आदि की गणना है। इनका पारायण करने पर कर्म की चैतसिक और भौतिक—दोनों पक्षों की समस्त अवधारणाएं स्पष्ट हो जाती हैं। कर्म की मूल और उत्तर सभी प्रकृतियों का विस्तृत चित्रण भी उपलब्ध है।^{७१}

इसके बाद कालखण्ड के इस अध्याय से आगे बढ़ते हैं तो परवर्ती काल में जैनाचार्यों का कर्म साहित्य के विकास में उल्लेखनीय योगदान है। उन्होंने मूलभूत ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी हैं। जैन शासन की महान् सेवा की है किन्तु उन टीकाओं में कोई नई अवधारणाएं आई हों, ऐसा नहीं लगता।

आधुनिक काल के विद्वानों में आचार्य महाप्रज्ञ, पं. सुखलाल संधवी, डॉ. सागरमल जैन, पं. दलसुख मालवणिया आदि ने कर्म सिद्धांत को आधुनिक शैली में, समकालीन संदर्भों में प्रस्तुत किया है। आचार्य महाप्रज्ञ ने कर्मवाद जैसे जटिल और गहन विषय को विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीरशास्त्र आदि के साथ संपृक्त कर जैन दर्शन को अमूल्य अवदान दिया है।

इस प्रकार सम्पूर्ण कालक्रम में कर्मवाद के परिवर्द्धन, संशोधन और संगतिपूर्ण प्रस्तुतीकरण के प्रयत्न होते रहे हैं। भगवती सूत्र में कर्म विषयक संदर्भों का सुविस्तृत विवेचन है। भगवती की विशेषता है, जिस प्रसंग को उठाया उसकी मार्मिक व्याख्या उपलब्ध होती है। कर्म-सिद्धांत के विकास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

विपाक सूत्र में कर्मों के विपाक से सम्बन्धित चर्चा है। उपांग साहित्य पर दृष्टिपात करने से प्रज्ञापना और किसी हद तक जीवाभिगम को छोड़कर शेष उपांगों में कर्म-सिद्धांत से सम्बन्धित सामग्री का अभाव ही है।

प्रज्ञापना सूत्र में कर्म-बंधन एवं बंधन के कारकों के प्रमुख भेदाभेद, कर्म-सिद्धांत के विकास को तो इंगित करते हैं, साथ ही उन तथ्यों पर भी प्रकाश डालते हैं जिनके कारण जीव कर्मपाश में फंसता है।

भारतीय विचार दर्शन एक धुरी है जिसके चारों ओर मौलिक मूल्यों का विकास होता रहा है। मूल स्रोतों से सारी सामग्री एकत्रित कर पाना संभव नहीं है। एक जैन कर्म-सिद्धांत का क्षेत्र भी इतना विशाल है कि आद्योपांत पढ़ना भी कठिन है।

जैन कर्म सिद्धांत की लाक्षणिक विशेषताएं

१. कर्म एक सार्वभौमिक नियम है। प्राणी मात्र उससे प्रभावित है।
२. प्रत्येक प्राणी के साथ कर्म सम्बन्ध प्रवाहतः अनादि हैं, व्यक्तिशः सादि हैं।
३. कर्मों की कर्ता-भोक्ता आत्मा स्वयं है।
४. आत्मा को कर्म फलदान स्वतः मिलता है, किसी अन्य माध्यम से नहीं।
५. कर्मबंधन के बाद उनमें परिवर्तन भी संभव है।
६. आत्मा अपने पुरुषार्थ की छैनी से अनादिकालीन कर्मों को तोड़ सकता है।
७. साधना का सार यही है, नये कर्मों का आदान रोकना और बद्ध कर्मों को तोड़ना।

कर्मवाद जैन दर्शन का केन्द्र है, जिसके आस-पास उसका समग्र दर्शन परिक्रमा करता है। कर्म-सिद्धांत का मनन करने पर लगता है, कर्म-सिद्धांत का तार्किक एवं वैज्ञानिक प्रतिपादन एक साथ नहीं हुआ। कालक्रम से हुआ है।

जैसे-जैसे दार्शनिक क्षेत्र में विविध दार्शनिक अवधारणाएं एवं व्याख्याएं अस्तित्व में आईं, वैसे-वैसे जैनों ने कर्म की समीक्षा की और अपने कर्म-सिद्धांत को तार्किक बनाने का प्रयत्न किया।

जैनाचार्यों ने कर्म-सिद्धांत पर आये आक्षेपों के निराकरण का भी प्रयास किया है ताकि जैन कर्म-सिद्धांत को तार्किक आधार दिया जा सके। इस सम्बन्ध में जैन आचार्यों की विशेषता यह रही, उन्होंने कर्म-सिद्धांत के प्रस्तुतीकरण में तथा आक्षेपों के निराकरण के लिये एकान्तिक दृष्टिकोण न अपनाकर अनेकांतिक दृष्टि का प्रयोग किया है।

क्लोनिंग तथा कर्म सिद्धांत

विज्ञान जगत में क्लोनिंग की अत्यधिक चर्चा है। डौली के रूप में भेड़ का क्लोनिंग किया गया। प्रश्न उठता है, क्या क्लोनिंग की प्रक्रिया कर्म-सिद्धांत के लिये चुनौती नहीं है ? क्लोनिंग में जीव पैदा करने के लिये नर और मादा दोनों का होना आवश्यक नहीं ? क्या जैन दर्शन में वर्णित गर्भ-धारण की प्रक्रिया गलत है? क्लोनिंग की मान्यता है शरीर की रचना, आकृति, शक्ल जैसी चाहें वैसी निर्मित की जाती है तो नाम-कर्म की उपयोगिता क्या होगी? क्या कर्मों का स्वभाव, स्थिति, अनुभाग आदि में अंतर नहीं पड़ जायेगा ?

ऐसे अनेक प्रश्न खड़े होते हैं जिनका उत्तर हमें कर्म-सिद्धांत से ही पाना है। उससे पहले 'क्लोन' क्या है? समझ लेना जरूरी है। किसी जीव विशेष का जेनेटिकल प्रतिरूप पैदा होना 'क्लोनिंग' कहलाता है। 'क्लोन'^{७२} उस जीव का एक कॉर्बन कॉपी होता है।

'जन्म की सामान्य प्रक्रिया में भ्रूण का निर्माण नर के शुक्राणु (Sperm cell) तथा मादा के अण्डाणु (Egg cell) के संगठन (Fussion) से होता है। इस भ्रूण कोशिका (Cell) के केन्द्रक (Nucleus) में गुणसूत्र (Chromosome) पाये जाते हैं। उनमें कुछ गुणसूत्र मादा के, कुछ नर के होते हैं। इस प्रक्रिया को लैंगिक (Sexual) प्रजनन कहा जाता है।

क्लोनिंग की प्रक्रिया इससे भिन्न है। यहां भ्रूण की कोशिका केन्द्रक में सारे गुणसूत्र किसी एक के होते हैं। चाहे नर के हों या मादा के। दोनों के संयुक्त गुणसूत्र की अपेक्षा नहीं। जिस जीव का 'क्लोन' तैयार करना है उसी जीव के सारे गुणसूत्र 'क्लोन' की कोशिका केन्द्र में होते हैं। यह अलैंगिक (Asexual) प्रजनन की प्रक्रिया है। जिससे 'क्लोन' तैयार होता है उस प्रक्रिया को 'क्लोनिंग' कहते हैं।

क्रोमोसोम यानी गुणसूत्र की रचना D.N.A तथा R.N.A. नामक रसायनों से होती है। इन गुणसूत्रों पर जीन्स स्थित होते हैं। कोशिका के केन्द्रक के चारों ओर एक जीवद्रव होता है जिसे 'प्रोटोप्लाज्मा' कहते हैं।

अब हम 'क्लोन' और कर्म-सिद्धांत पर गहराई से चिन्तन करेंगे कि दोनों में कहां विसंगति है, कहां संगति है ?

वैज्ञानिकों का कहना है कि 'क्लोन' किसी जीव या डोनर पेरेन्ट (Donor Parent) का अंश नहीं है। दोनों का अस्तित्व अलग-अलग है। शरीरशास्त्र के अनुसार प्रत्येक कोशिका अपने आप में स्वतंत्र जीव है। जब प्रत्येक कोशिका का अलग अस्तित्व है तो उससे निर्मित भ्रूण और भ्रूण से निर्मित क्लोन डोनर पेरेन्ट का अंश कैसे हो सकता है ?

क्लोन उससे बिल्कुल अलग है। उसका आयुष्य, उसकी भावनाएं तथा उसका सुख-दुःख भी बिल्कुल भिन्न होते हैं। यह बात डौली के गर्भधारण से तथा माता बनने से अधिक स्पष्ट हो गई।

विज्ञान की मान्यता है कि मनुष्य का भी क्लोन तैयार किया जा सकता है। मान लें मनुष्य के दो क्लोन तैयार किये। दोनों की शक्ल-सूरत एक जैसी है किन्तु दोनों को भिन्न-भिन्न वातावरण तथा खान-पान मिला तो व्यक्तित्व-निर्माण में अंतर आ जायेगा।

विकास अलग-अलग होगा। कभी-कभी एक जैसा वातावरण और अनुकूलताएं मिलने पर भी व्यक्तित्व में अंतर हो जाता है। जैसे किसी के दो जुड़वां बच्चे पैदा हुए हैं। शान-शक्ल एक-सी है फिर भी आगे जाकर एक विद्वान बन जाता है एक निरक्षर रह जाता है। अक्सर यह देखा जाता है।

दूसरा प्रश्न जन्म के प्रकार से है कि बिना नर के संयोग से जीव पैदा किया जा सकता है किन्तु डोनर पेरेन्ट नर है तो क्लोन नर होगा। मादा है तो क्लोन भी मादा होगा। क्लोन को मादा के गर्भ में रखा जाता है, वहीं बच्चे का विकास होता है। गर्भकाल पूरा होने पर ही बच्चा पैदा होता है। गर्भ की प्रक्रिया बराबर होती है। अतः शास्त्रों में वर्णित गर्भ की प्रक्रिया में विसंगति नहीं आती।

नामकर्म के सम्बन्ध में यह प्रश्न है कि इच्छित शान-सूरत बनाने पर नामकर्म का महत्त्व क्या रहेगा ? प्रश्न महत्त्वपूर्ण है।

किन्तु कर्म-सिद्धांत का गहरा अध्ययन करने के बाद समाधान स्वतः मिल जाता है। कर्म भी निरंकुश सत्ता नहीं है। उस पर भी अंकुश है।^{७३} कृत कर्मों का भोग अवश्यंभावी है। यह सामान्य नियम है। इसमें कुछ अपवाद भी हैं। परिवर्तन भी किया जा सकता है।

कर्मों की उदीरणा, उत्क्रमण, अपक्रमण तथा संक्रमण संभव है। कर्मों की काल मर्यादा, तीव्रता को बढ़ाया-घटाया भी जा सकता है। उदय में आ रहे कर्मों के फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिये अक्षम भी किया जा सकता है। यह उपशम अवस्था है।

संक्रमण का सिद्धांत जीन को बदलने का सिद्धांत है। मुख्य बात यह है, कर्मों का विपाक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार होता है। विपाक भी निमित्त आश्रित है। निष्कर्ष की भाषा में कह सकते हैं कि व्यक्तित्व-निर्माण में केवल कर्म ही नहीं उसके साथ परिस्थिति, आनुवंशिकता, पर्यावरण, वातावरण, भौगोलिकता आदि सबका प्रभाव होता है।

प्रत्येक घटना कर्म से ही घटित नहीं होती।^{७४} यदि हम कर्म या नियति के अधीन हैं तो परिवर्तन में विवश बन जायेंगे। जैसे कर्म है तदनुरूप ही कार्य करेंगे। पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं रहेगी।

कर्म के साथ परिस्थितियां भी निमित्त हैं। शक्ल-सूरत में नामकर्म का योग है किन्तु देश-काल का प्रभाव भी मनुष्य के रंग-रूप पर देखा जाता है। अफ्रीका के लोग कृष्णावर्णी होते हैं। यूरोप में रंग सफेद है। शीत और उष्ण प्रदेश का भी प्रभाव है। भारत में भी यह भिन्नता प्रत्यक्ष है। रासायनिक परिवर्तन और जीन्स का भी असर देखते हैं।

आयुष्य कर्म जितना है व्यक्ति या प्राणी उतने समय तक जीवित रहता है। आम धारणा है। इसमें भी अपवाद है। आयुष्य के दो प्रकार हैं— अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय। बाह्य निमित्त, जहर, पराघात, सर्पदंश, संक्लेश आदि से आयुष्य कम हो जाता है।^{७५} इसी प्रकार गुणसूत्र और शक्ल-सूरत में परिवर्तन हो जाये तो आश्चर्य नहीं। नाम कर्म के साथ बाह्य परिस्थितियों का भी योग होता है। इससे कर्म-सिद्धांत और विज्ञान में कोई विसंगति प्रतीत नहीं होती। क्योंकि कर्मों का भी तो संक्रमण होता है।

अतः क्लोनिंग की प्रक्रिया कर्म-सिद्धांत के लिये चुनौती है, यह धारणा निराधार है। बल्कि यह कहना उचित है कि कर्म-सिद्धांत को समझने की क्लोनिंग एक व्यवस्थित प्रक्रिया है।

शरीर का रासायनिक परिवर्तन, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव की अल्पता-अधिकता भी व्यक्ति के व्यवहार की नियामक है। न्यूरो-इण्डोक्राइन तंत्र की संयुक्त प्रणाली का फंक्शन व्यक्तित्व के घटक तत्त्वों में मुख्य है।

मानसशास्त्री मन के विभिन्न स्तरों के आधार पर व्यक्तित्व की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। मन के तीन स्तर हैं—Conscious Mind चेतन मन, Subconscious mind अवचेतन मन और Un conscious mind अचेतन मन की संयुक्त क्रियाशीलता व्यक्तित्व-व्याख्या का महत्वपूर्ण बिन्दु बनती है। मनोविज्ञान इनके आधार पर मन की मूलभूत समस्याओं को समाहित करने का प्रयत्न करता है। मूल प्रवृत्तियों के संवेग, उद्दीपन द्वारा व्यवहार में परिवर्तन परिलक्षित होता है। मौलिक मनोवृत्तियां प्राणीमात्र में जन्मजात हैं।

आज मनोवैज्ञानिक जिस बात की चर्चा करते हैं, उनका विवरण ढाई हजार वर्ष पूर्व के आगम साहित्य में उपलब्ध हो रहा है। महावीर ने आहार, भय, मैथुन आदि दस संज्ञाओं का निरूपण किया है। चेतना की विशेष अवस्था का नाम संज्ञा है। जो मानव-व्यवहार की मूल प्रवृत्ति है। इनकी उत्पत्ति बाह्य और आंतरिक उत्तेजना से होती है। दसों जीवन-संचालन की प्रेरक शक्ति के रूप में हैं।

मनोवैज्ञानिकों में फ्रायड के विचार भिन्न हैं। उसके अभिमत से लिबिडो (Libido) ही वास्तव में एक मूल प्रवृत्ति है। उससे ही संपूर्ण जीवन-व्यवहार संचालित होता है। मनोविज्ञान व्यवहार का शास्त्र है इसलिये लिबिडो को सारी प्रवृत्तियों का मूल मानता है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगल का मूल प्रवृत्तियों सम्बन्धी विभाग, दस संज्ञाओं के साथ तुलनात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उसने मूल प्रवृत्ति चौदह मानी हैं। इनके उद्दीपन में सहायक सामग्री एवं संवेग हेतुभूत हैं।

मानसिक परिवर्तन केवल उद्दीपन और परिवेश के आधार पर ही नहीं, उसमें नाडी संस्थान, जैविक विद्युत्, जैविक रसायन, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्रावों का भी योग रहता है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म जगत् भी हेतुभूत है।

भारतीय दर्शनों में व्यक्ति के आचरण, व्यवहार आदि का मुख्य घटक कर्म है। परिवर्तन की प्रक्रिया में कर्म के स्पंदन, मानसिक चंचलता, शरीर का संस्थान ये सभी सहभागी बनते हैं। कर्मशास्त्र के अनुसार मोहकर्म के विपाक से व्यक्ति का चरित्र और व्यवहार बदलता है। मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियों एवं उनके विपाकों के साथ मूल प्रवृत्तियों और मूल संवेगों की तुलना की जा सकती है।

कर्म शास्त्र की भाषा में आवेगों का मूल स्रोत है— मोहनीय कर्म। मोह का मूल है—राग-द्वेष। राग-द्वेष का एक चक्र घूम रहा है। वह चक्र है— आवेग और उपआवेग।

तालिका के द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—

मूल प्रकृति	संवेग	मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियां
पलायन (Escape)	भय (Fear)	अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ
संघर्षवृत्ति (Combat)	क्रोध (Anger)	अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ
जिज्ञासा (Curiosity)	कुतूहल भाव (Wonder)	प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ
भोजनान्वेषण (Food-seeking)	भूख (Appetite)	संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ
पित्रीय वृत्ति (Parental)	वात्सल्य (Tender emotion)	हास्य
यूथवृत्ति (Social Instinct)	सामूहिकता (Loneliness)	रति
विकर्षण वृत्ति (Repulsion)	जुगुप्सा (Disgust)	अरति
कामवृत्ति (Sex, Mating)	कामुकता (Lust)	भय
स्वाग्रहवृत्ति (Self-assertion)	उत्कर्ष भावना (Positive Self Feelling)	शोक
आत्महीनता (Submission)	हीन भाव (Negative Self Feelling)	जुगुप्सा
उपार्जनवृत्ति (Acquisition)	स्वामित्व भाव (Feeling of Owenship)	स्त्रीवेद
रचनावृत्ति (Construction)	सृजन भाव (Feeling of Construction)	पुरुषवेद
याचनावृत्ति (Appeal)	दुःख भाव (Feeling of Appealing)	नपुंसकवेद
हास्यवृत्ति (Humour)	उल्लसित भाव (Laughting Feeling)	

अस्तित्व का सम्बन्ध मनोदशाओं से है। मानवीय व्यवहार की व्याख्या आवेगों के आधार पर की जाती है। आवेगात्मक तीव्रता-मन्दता मनोवृत्तियों को प्रशस्त-अप्रशस्त बनाती है। संवेगों की स्थिति में हाईपोथेमेल्स, स्वतः संचालित नाडी तंत्र और वृहद् मस्तिष्क विशेष प्रभावित होते हैं। अतः व्यक्तित्व के निर्माण में कर्म के अतिरिक्त और भी अनेकों निमित्त होते हैं।

क्लोनिंग की घटना आनुवंशिक क्षेत्र में अपूर्व घटना है। कर्मवाद की गहराई देखने पर क्लोन प्रक्रिया में संदेह नहीं रह जाता। कर्म के साथ बाह्य परिवेश भी काम करता है।

कर्म सिद्धांत और क्वान्टम् यांत्रिकी

क्वान्टम् यांत्रिकी में कार्य-कारण सिद्धांत को नये ढंग से व्याख्यायित किया है। उसके अनुसार सभी अपेक्षित कारणों के उपलब्ध होने पर भी अभीष्ट कार्य होने की शत-प्रतिशत निश्चितता नहीं है और समान कार्यों की विद्यमानता में भी कार्य (फल) असमान हो सकते हैं। यह अनिश्चितता का सिद्धांत 'क्वान्टम् यांत्रिकी' ने सम्मान के साथ स्वीकार किया है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी सूक्ष्म कण की स्थिति एवं गति का मापन सही रूप से एक साथ न समझा जा सकता है, न बताया जा सकता है।

जैन दर्शन में भी कार्य-कारण की व्यवस्था नियति का समर्थन नहीं करती। क्योंकि एक कारण से अनेक कार्य भी होते देखे गये हैं। आइंस्टीन जैसे विख्यात वैज्ञानिक भी क्वान्टम् यांत्रिकी से इतने चौंक उठे कि वे अंतिम सांस तक इसके प्रशंसक रहे और साथ में शंका भी चलती रही। उन्होंने कहा— इसमें कहीं-न-कहीं चूक है इसलिये कार्य-कारण सिद्धांत पूर्णतया लागू नहीं हो पा रहा है।

क्वान्टम् यांत्रिकी और नियत कार्य-कारण सिद्धांत की रक्षा के लिये यह खोजते रहे कि सूक्ष्म कणों के व्यवहार को समझने में कहां भूल है?

इस प्रश्न का उत्तर जैन कर्मवाद देने में समर्थ है। जैन दर्शन में कर्म को अत्यन्त सूक्ष्म पुद्गल माना है। प्रत्येक जीव के साथ अनादि काल से संपृक्त है। उनसे प्रभावित जीव नये कर्मों का उपार्जन करता रहता है। ग्रहण-विसर्जन की प्रक्रिया निरंतर चालू है। कर्म-रजों को उपकरण से पकड़ पायें या नहीं, किन्तु कर्मधूलि प्रयोक्ता की भावनानुसार उसे अवश्य प्रभावित करती है।

आजकल यह मान्य हो चुका है, प्रयोक्ता की भावना का प्रभाव यंत्रों पर भी पड़ता है। इसके आधार पर 'क्वान्टम् यांत्रिकी' एवं कार्य-कारण सिद्धांत

को समझने का प्रयास किया जा रहा है। कैसे विचारों का, किस प्रकार फल मिलता है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में इसका विस्तार से विश्लेषण किया है। इन तथ्यों की पुष्टि वैज्ञानिक प्रयोगों से हो रही है।

जैन कर्म सिद्धांत की ६ अवधारणाएं

१. कर्म आत्मिक नहीं, पौद्गलिक है।
२. कर्म परमाणु सूक्ष्म और चतुःस्पर्शी है।
३. कर्म प्रायोग्य पुद्गल ही कर्म रूप में परिणत होते हैं।
४. कर्म के लिये सभी प्रकार के पुद्गल काम नहीं आते, उनकी वर्गणाएं पृथक् हैं।
५. कर्म आत्मा का आवरण, परतन्त्रता और दुःख का कारण है।
६. कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कंध हैं।

विज्ञान प्रत्येक परमाणु में एक नाभिक मानता है। भारी और अस्थिर परमाणु के नाभिक में न्यूट्रॉन तथा प्रोटॉन के अतिरिक्त अन्य कई छोटे कण और होते हैं। इन कणों की स्वयं अपनी ऊर्जा है। वे स्वयं नाभिक से बाहर निकलना चाहते हैं। लेकिन यदि नाभिक का Potential Barrier कण की ऊर्जा से अधिक है तो वह उससे बाहर नहीं निकल सकता। यदि नाभिकीय बाधा को पार करने जितनी अतिरिक्त ऊर्जा उसे प्राप्त हो जाती है तो वह बाहर निकल जाता है। यही स्थिति भाग्य-पुरुषार्थ की है।

कर्मों की बाधा नाभिकीय बाधा से कुछ भिन्न है। कर्मों की स्थिति-शक्ति सदा एक-सी नहीं रहती है, वह समय के साथ-साथ बदलती रहती है। नाभिकीय बाधा का सम्बन्ध मात्र जड़ पुद्गल से है जबकि कर्मों का सम्बन्ध जड़ तथा चेतन दोनों से है।

यदि पुरुषार्थ प्रबल है तो प्रतिकूल कर्मों की शक्ति कम है, कार्य की सिद्धि होगी। पुरुषार्थ कमजोर है और प्रतिकूल कर्मों की शक्ति अधिक है तो कार्य की सफलता संभव नहीं है। पुरुषार्थ का शस्त्र तीखा किया जाये। संभव है पुरुषार्थ स्वयं प्रतिकूल कर्मों के लिये चुनौती खड़ी कर देगा। जिससे कर्म अपना प्रभाव दिखाये बिना ही निष्प्रभ हो जायेंगे।

आत्मा किसी रहस्यमय शक्तिशाली व्यक्ति के अधीन नहीं है। न किसी दरवाजे पर दस्तक देने की अपेक्षा है। कर्मवाद के अनुसार आत्मा सर्वोच्च

सीमा को प्राप्त कर आत्मा-परमात्मा बन जाती है। कर्मों का ग्रहण, भोग और मुक्ति तीनों आत्मा के अधीन हैं।

संदर्भ सूची

१. लोक प्रकाश ४२४।
२. तत्त्वार्थ वार्तिक अ. १।४।१०, पृ. २६ अध्यते अनेन बन्धन मात्रंवा बंधः।
३. द्रव्य संग्रह २।३२।
४. तत्त्वार्थ सूत्र अ. ८ सूत्र २।
५. आचारांग, अ.२ उ.६ सू. १५०
६. आचारांग अ.१ उ.१ सू. ६
७. वही, अ.१ उ.२ सू. २२-२३
८. वही, अ.५ उ.१ सू. ६ (अज्ञान), अ.२ उ.६ सू. १५२ (प्रमाद)
९. वही, अ.३ उ.२ सू. ३६
१०. वही, अ.५ उ.१ सू. ७
११. वही, अ.२ उ.५ सू. १३५
१२. वही, अ.२ उ.४ सू. ९९
१३. अभिधान चिंतामणि, काण्ड ६ श्लो. १३३।
१४. ठाणांग २।४, ९६ जोगा पयडि पदेसं, ठिति अणुभागं कसायओ कुणइ।
१५. सूत्रकृतांग १।८।३। पमाय कम्म माहंसु।
१६. भगवती १।३।१४०-१४१
१७. स्थानांग ४-९२।
१८. समवायांग, समवाय २
१९. भगवती ३।३।१४२।
२०. गोम्मटसार (कर्म काण्ड) अ.६ गा. ७८६।
२१. संयुक्त निकाय ३।३३।
२२. समवायांग समवाय ४
२३. उत्तराध्ययन ३३।२३।
२४. पंचम कर्म ग्रन्थ गा. १९।२१।
२५. तत्त्वार्थ सूत्र ६।६।
तीब्र-मंद ज्ञातऽज्ञात भावाधिकरण वीर्य विशेषेभ्यस्त-द्विशेषैः।

२६. पंचास्तिकाय सार ३८।
२७. पन्नवणा पद २३।१।२।३।
२८. पंच संग्रह (प्राकृत) ३।३।
२९. कर्म ग्रन्थ प्रथम भाग पृ. ५८।
३०. गोम्मट सार (कर्म काण्ड) गा. ४३८।
३१. वही, गा ४४०।
३२. बौद्ध धर्म दर्शन पृ. २७५
३३. सर्वार्थ सिद्धि ८।२१ पृ. ३९८ विशिष्टपाको नानाविधो वा विपाकः।
३४. तत्त्वार्थ ८।२१ विपाकानुभव।
३५. सर्वार्थ सिद्धि, ८।२। पृ. ३७७।
३६. वही, ८।२१ पृ. ३९८।
३७. भगवती (वृत्ति) ६।३।३४।

वाधा-कर्मण उदयः, न वाधा अवाधा कर्मणो बन्धस्योदयस्यचान्तरम्।

३८. भगवती ७।१०।२२६
३९. दशाश्रुस्कंध ६
४०. सूत्रकृतांग ९।४।
४१. उत्तराध्ययन, १३।२२, ४।३, ४।४।
४२. संयुक्त निकाय १।११।१०। यादिसं वपते वीजं, तादिसं हरते फलं।
४३. मज्झिम निकाय, चूल कम्म विभंगसुत्तन्त।
४४. महाभारत शांति पर्व, १८१, १६।
४५. श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।७।
४६. भगवती आराधना गा. ११७० पृ. ११५९।
४७. ज्ञानार्णव ३५।२६-७
४८. तत्त्वार्थ सूत्र ८।२३।
४९. समाज और संस्कृति पृ. १६८।
५०. जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण पृ. ४५२।
५१. कर्म विपाक गा. १।
५२. निरुक्त कोश पृ. ७३
५३. आवश्यक निर्युक्ति, गा. ९२८
५४. ऋग्वेद २२।१९।

५५. क्लेश मूल : कर्माशयो दृष्टा दृष्ट जन्म वेदनीयः यो. सू. २।१२।
५६. यो. सू. २।१३। सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।
५७. Humen Anatomy and Physiology. P. ३२६ Mir Moscow
५८. भगवती, श. १२। उ. ६ सू. १२०
५९. तर्क भाषा. पृ. २८।
६०. तर्क संग्रह पृ. ९८।
६१. आत्म-मीमांसा पृ. ८०। पं. दलसुख भाई मालवणिया।
६२. आयारो १।३।१।१९। कम्मुणा उवठि जायइ।
६३. ऋग्वेद म. १ सू. १९ मं. ३।
६४. तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१।
६५. न्याय दर्शन सूत्र ४।१। ईश्वरः कारणं पुरुष कर्म फलस्य दर्शनात्।
६६. महाभारत वन पर्व ३०।३१।
६७. गीता ७।२२।
६८. इसिभासियाइं, पृ. २।१। जीवा कम्माणुगामिणो।
६९. वही, २।४-५।
७०. वही, पृ. १४२।
७१. उत्तराध्ययन ३३।१-१६, समवायांग ९।५८, १६।१११, ४२।२४१, ५२।२८६, ५८।३०४, पन्नवणा २३।२।१०। तत्त्वार्थ सूत्र ८।५-१४।
७२. From cell to cloning by P.C. JOSHI, Science Reporter February 1998
७३. जैन धर्म और दर्शन, लेखक-मुनि प्रमाण सागर।
७४. कर्मवाद, लेखक-आचार्यश्री महाप्रज्ञ।
७५. क्या अकाल मृत्यु संभव है ?
लेखक-डॉ. अनिलकुमार जैन, तीर्थंकर इंदोर जुलाई १९९४

पंचम अध्याय

**पुनर्जन्म : अवधारणा
और आधार**

- कर्म-पुनर्जन्म
- भारतीय दर्शनों में पुनर्जन्म
- पुनर्जन्म का कारण
- पुनर्जन्म : अस्तित्व के आधार बिन्दु
- पुनर्जन्म : परकाय प्रवेश
- परकाय प्रवेश की विधि
- कर्म सिद्धान्त और शारीरिक चिह्न
- मृत्यु : एक मीमांसा
- आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में
- पाश्चात्य विद्वान और मृत्यु
- लेश्या और पुनर्जन्म
- लेश्या और आभामण्डल

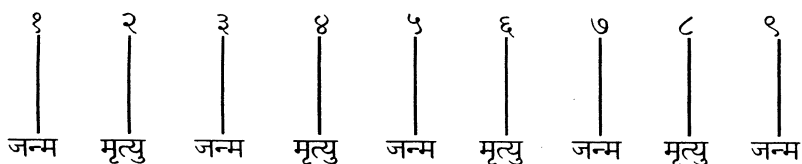
पुनर्जन्म : अवधारणा और आधार

मृत्यु के बाद आत्मा की क्या स्थिति होगी ? उसका अस्तित्व बना रहेगा या मिट जायेगा ? यह जिज्ञासा पुनर्जन्म की अवधारणा के अभिमुख करती है। यह अध्यात्मवादी दर्शन का मौलिक सिद्धांत है।

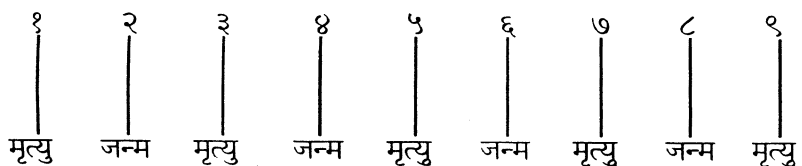
आत्मा की शाश्वतता सिद्ध करने के लिये पुनर्जन्म के सिद्धांत की स्थापना की और उसे कर्म-सिद्धांत के आधार पर व्याख्यायित किया। कर्म एवं पुनर्जन्म दोनों परस्पराश्रित हैं।

जीवन अनंत अवसानों का अवशेष है। जन्म-मृत्यु, मृत्यु-जन्म के अनेक आवर्तों का ठहराव जीवन है। जीवन का प्रस्थान मरण है। जन्म-मरण का चक्र है—

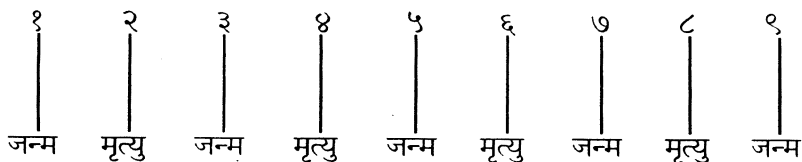
नव घाटी



नव घाटी



नव घाटी



नव घाटी

इस चक्र को ही पुनर्जन्म कहते हैं। धार्मिक आस्था से लेकर परामनोविज्ञान तक सबके समक्ष प्रश्न है, मृत्यु के बाद भी कोई जीवन है? क्या वर्तमान जीवन को किसी परम्परा की कड़ी के रूप में जी रहे हैं? क्या अतीत के गर्भ में कोई अस्तित्व था? और अनागत में रहेगा? इन प्रश्नों का समाधान जैन दर्शन के अनुसार करना ही उचित रहेगा।

जन्म-मृत्यु का कारक है—आयुष्य कर्म। आयुष्य कर्म का स्वभाव कारागृह की तरह है। अपराधी व्यक्ति को दण्ड स्वरूप एक निश्चित अवधि के लिये कारागृह में डाला जाता है। अवधि समाप्त हुए बिना वह वहां से मुक्त नहीं हो सकता। वैसे ही जीव को निर्धारित अवधि तक देह के कारागृह में रहना पड़ता है। अवधि पूर्ण होने पर मृत्यु हो जाती है। मरण ही उसे देह-पर्याय से मुक्ति देता है।

कर्म-पुनर्जन्म (Reincarnation)

चेतन का अस्तित्व और प्राणी का व्यक्तित्व दोनों की सम्यक् व्याख्या के लिये जैन आगमों में कर्मवाद की अवधारणा है। अतीत के धरातल पर जन्मों की जो यात्रा की, वर्तमान जीवन के उत्थान-पतन, आरोह-अवरोह, संस्कारों का उत्सर्पण-अवसर्पण की प्रक्रिया को कर्मवाद एक निश्चित आकार देता है। जन्म के प्रथम उच्छ्वास से लेकर अंतिम सांस तक घटित घटनाओं, दुर्घटनाओं, परिस्थितियों के उपादान कारण के रूप में कर्म की व्याख्या है। पलने से अरथी तक की यात्रा कर्म महापथ से होकर गुजरती है।

प्राणी^१ जो कुछ भी करता है। सारी प्रवृत्तियों का मूलाधार पूर्वकृत कर्म हैं। पूर्वकृत कर्म इस जन्म के, सैकड़ों-हजारों जन्मों के पूर्ववर्ती संस्कारों की एक अविच्छिन्न परम्परा के रूप में चल रहे हैं। जैन मान्यता में पूर्व जन्म की प्रस्तुति कर्मवाद की आधारशिला पर टिकी है। कर्म अतीत और अनागत का सेतुबंध है।

मौलिक प्रश्न है, क्या हमें पूर्वजन्म का बोध होता है? क्या जन्म-जन्मान्तर की यात्रा में उन पड़ावों-ठहरावों के बारे में जान सकते हैं, जहां आत्मा ने कुछ समय के लिये विश्राम लिया था? इस संदर्भ में आचारांग सूत्र^२ का जम्बू-सुधर्मा संवाद द्रष्टव्य है।

जंबू के प्रश्न आर्य सुधर्मा समाहित करते हुए कहते हैं—मैंने महावीर से सुना—संसार में प्राणियों को यह ज्ञात नहीं होता कि मैं पूर्व दिशा से आया था या

पश्चिम दिशा से, उत्तर से आया या दक्षिण से? पूर्वजन्म में मैं कौन था? आगे क्या बनूंगा? इससे स्पष्ट है कि आगमों में पुनर्जन्म के सिद्धांत की प्रतिष्ठा ही नहीं हुई बल्कि दूसरों को अनुभव कराया जा सके ऐसे प्रयोग भी हुए हैं।

भारतीय साहित्य में पूर्वजन्म, पुनर्जन्म की हजारों कथाएं हैं। तीर्थकर^२ चरित्र में तीर्थकरों के भवान्तरों का संक्षिप्त वर्णन है। भ. पार्श्वनाथ के दस भवों का विवेचन कल्पसूत्र टीका, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि शास्त्रों-ग्रन्थों में मिलता है। भ. पार्श्वनाथ के साथ कमठ असुर की कई जन्मों तक वैर-परम्परा बनी रही है। भ. महावीर के पूर्व भवों का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति, आवश्यक मलयगिरि वृत्ति आदि में मिलता है। कल्पसूत्र की टीकाओं में भी २७ भवों (जन्मों) का विवेचन है। ये घटनाएं पूर्वजन्म की साक्ष्य हैं। तीर्थकरों का विकास एक जन्म की कहानी नहीं, जन्म जन्मान्तर के संस्कारों का संस्करण है।

पंचास्तिकाय में निरूपित-पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की यात्रा में शरीर बदलता है, आत्मा नहीं। आत्मा पूर्व पर्याय में थी वही उत्तर पर्याय में है। आत्मा का रूपान्तरण नहीं, पर्याय का रूपान्तरण होता है। पर्याय परिवर्तन का अनुभव अधिकांश जीवों को नहीं होता।

तीर्थकर महावीर ने श्रेणिक पुत्र मेघकुमार जो श्रमण दीक्षा की प्रथम रात्रि में ही कुछ कारणों से अस्थिर चित्त बन गया था, महावीर ने उसे पूर्वजन्म की स्मृति कराकर साधना में पुनः स्थिर किया।

इस प्रकार शास्त्रसम्मत अनेक घटनाएं हैं जो इस तथ्य को उजागर करती हैं कि शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा का अस्तित्व है। कर्म और पुनर्जन्म दोनों सापेक्ष हैं। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व नहीं टिकता।

भारतीय दर्शनों में पुनर्जन्म (Reincarnation)

भारतीय चिन्तकों ने अनेक युक्तियों से पुनर्जन्म के सिद्धांत को सिद्ध किया है। यह उनका विवेच्य विषय रहा है। जैनागम, पुराण, महाकाव्य, नाटक, स्तोत्र, वेद, उपनिषद् आदि में पुनर्जन्म सम्बन्धी विवेचन तथा अनेक घटनाओं का उल्लेख है।

मनुस्मृति^४ में कहा है— प्राणी के कार्य में जिस गुण की प्रधानता होती है, उसी के अनुरूप वह देह धारण करता है और उसका उपभोग करता है। कोई भी कर्म अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहता।

उपनिषदों^५ में, आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व एवं पुनर्जन्म के विषय में सूक्ष्म चिंतन मिलता है। जो प्रभावोत्पादक है।

वेदांत^६ में— देह एवं आत्मा में 'व्यतिरेक' है, क्योंकि देह एवं आत्मा में तद्भाव 'मैं वही हूँ' इस प्रतीति का अभाव है। जो सत् है उसका अभाव नहीं होता, रूपान्तरण होता है। आत्मा का पर्याय परिवर्तन ही पुनर्जन्म है।

श्वेताश्वतर उपनिषद^७ में—आत्मा न स्त्री है न पुरुष और न नपुंसक। जिस शरीर से युक्त होता है उसे उसी अभिधा से अभिहित करते हैं।

योग दर्शन^८ में कर्माशय और वासना का भेद व्यक्त करते हुए लिखा है— एक जन्म में संचित कर्म को कर्माशय कहते हैं और अनेक जन्मों के कर्म संस्कार की परम्परा को वासना। कर्माशय का विपाक दो प्रकार से होता है। जिसका विपाक दूसरे जन्म में हो वह अदृष्ट जन्म वेदनीय तथा इस जन्म में विपाक हो उसे दृष्ट जन्म वेदनीय कहा जाता है। वासना की परम्परा अनादि है।

महाभारत^९— मरने पर जीव तत्काल अन्य लोक में चला जाता है। एक क्षण के लिये भी वह असंसारी नहीं रहता।

रघुवंश^{१०}—संतान प्राप्ति के बाद सूर्य की ओर देखती हुई मैं वेसा तप करूंगी जिससे जन्मान्तर में भी आप मेरे पति ही हों, मेरा आप से वियोग न हो।

बौद्ध दर्शन में पूर्वजन्म की घटनाओं का महत्त्वपूर्ण वर्णन है। उनके अनुसार कुशल कर्म सुगति और अकुशल कर्म दुर्गति का कारण है। प्रतीत्य समुत्पाद पुनर्जन्म की संपूर्ण व्याख्या करता है। उसमें पुनर्जन्म का कारण अविद्या और संस्कार को माना है।

बुद्ध ने कहा—हे भिक्षुओ ! चार आर्य सत्य के प्रतिवेद्य न होने से दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा आवागमन—संसरण हो रहा है।^{११} जब तक कर्म समाप्त नहीं होते, तब तक एक जीवन से दूसरे जीवन में उनका परिणाम मिलता है।

भारतीय चिन्तकों ने जन्म-मरण का हेतु सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) माना है। जैन दर्शन में उसे कर्मण शरीर कहा है। अन्य चार शरीरों की अपेक्षा यह सूक्ष्मतर है। विभिन्न योनियों में परिभ्रमण का निमित्त यही शरीर है।^{१२}

सांख्य कारिका के भाष्य में वाचस्पति मिश्र ने कहा— लिंग शरीर बार-बार स्थूल शरीर को ग्रहण करता है। पूर्व शरीर का त्याग करता है। इसी का

नाम संस्मरण है। मृत्यु होने पर लिंग शरीर का नाश नहीं होता। पूर्व जन्म के अनुभव तथा कर्म के संस्कार लिंग शरीर में विद्यमान रहते हैं।^{१३}

न्याय-वैशेषिक^{१४} के अनुसार— आत्मा व्यापक है। धर्म-अधर्म रूप प्रवृत्तिजन्य संस्कार मन में निहित रहते हैं। आत्मा और मन का जहां तक सम्बन्ध है, वहां तक पुनर्जन्म है। मीमांसा दर्शन में मन को पुनर्जन्म का कारण मान कर उसकी व्याख्या की है।

महर्षि अरविन्द^{१५} के अभिमत से—पुनर्जन्म हमारे अनेक शरीरों में होने वाले आंतरिक अस्तित्व की याद दिलाता है। पुनर्जन्म का सारा धारावाहिक क्रम इच्छा, कर्म एवं परिणाम पर आधारित है।

इस्लाम एवं ईसाइयों ने पुनर्जन्म की स्पष्ट घोषणा नहीं की किन्तु पूर्ण निषेध भी नहीं मिलता है।

दार्शनिक कवि जलालुद्दीन^{१६} रूमी ने पुनर्देहागमन के विषय में लिखा—मैंने सात सौ बार जन्म धारण किया है। मैं खनिज पदार्थ के रूप में मरा और वनस्पति के राज्य में प्रविष्ट हुआ। पौधे के रूप में जन्मा तो कभी पशु योनि में। वहां से मृत्यु पाकर इन्सान बना। अब मैं मृत्यु से क्यों डरूं? मृत्यु के द्वारा खो जाने का क्या डर है? मैं फिर इन्सान बनकर मरूंगा। फिर देवदूत से ऊपर उठकर कल्पनातीत स्थिति को प्राप्त करूंगा।

इस प्रकार हम देखते हैं चार्वाक के अतिरिक्त कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत पर प्रायः सभी दार्शनिक एकमत हैं।

पुनर्जन्म का कारण

जैन दर्शन में पुनर्जन्म का कारण कर्म विपाक है। चैतन्य पर कर्मों का सघन आवरण रहेगा तब तक प्राणी को नाना अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है कर्मावरण क्षीण होने पर मुक्ति है।

उत्तराध्ययन सूत्र में इक्षुकार, मृगापुत्र की घटनाएं, ज्ञातासूत्र में तेतली पुत्र^{१७}, सुमेरुप्रभ हाथी^{१८}, राजा प्रतिबुद्धि^{१९}, नंद मणियार^{२०}, तीर्थंकर मल्ली^{२१} आदि का वर्णन पुनर्जन्म और शुभाशुभ कर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्पष्ट करता है।

आत्मा के विविध रूपों एवं अवस्थाओं का प्रतिपादन है। इसी प्रकार नागश्री^{२२} सुकुमालिका, और द्रौपदी कर्म परम्परा से जुड़ी एक ही आत्मा की विविध अवस्थाएं हैं।

सूक्ष्म शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है। सूक्ष्म शरीर के कारण ही स्थूल शरीर का परावर्तन होता रहता है। जन्म-मरण की परम्परा का यह संवाहक है।

जैनागमों के आधार पर मनुष्य तो क्या वृक्षों का भी पुनर्जन्म होता है। वृक्ष मर कर मनुष्य बन सकता है। इस संदर्भ में रोचक संवाद उपलब्ध है।^{२३}

गौतम ने महावीर से पूछा— भंते! सूर्य की सख्त गरमी से पीड़ित, प्यास से व्याकुल दावानल की ज्वाला में झुलसा हुआ शालवृक्ष सूखने के बाद कहां पैदा होगा ?

महावीर ने उत्तर दिया— गौतम ! यह राजगृही में पुनः शालवृक्ष के रूप में उत्पन्न होगा। वहां अर्चित , वंदित, पूजित, सत्कृत, सम्मानित होगा। वहां से मरकर महाविदेह में मनुष्य का जन्म ग्रहण करेगा।

एक और विस्मयकारी तथ्य उद्घाटित होता है कि मां के गर्भ में गर्भकाल के अन्तर्गत यदि कोई भ्रूणगत जीव मर जाता है तो मृत कलेवर में उसी भ्रूण का जीव पुनः जन्म ले लेता है। इस प्रक्रिया को जैन चिंतन में 'काय भवस्थ पुनर्जन्म'^{२४} कहा है।

पुनर्जन्म : अस्तित्व के आधार बिन्दु

विराट विश्व के रंगमंच का खिलाड़ी जीव अनादिकाल से अपना अभिनय प्रदर्शित कर रहा है। एक परमाणु जितना स्थान भी अछूता नहीं, जहां जन्म-मृत्यु की क्रिया नहीं हुई हो। एक-एक जन्म के पीछे अनंत-अनंत कर्म हैं। उनका फल भुगतान पुनर्जन्म के बिना संभव नहीं है। यह सर्वमान्य सच्चाई है।

माता-पिता के भिन्न स्वभाव वाली संतानों की उत्पत्ति पुनर्जन्म का प्रमाण है। पिछले जन्म में किये कर्म के फल रूप पुनर्जन्म का होना अनुमान प्रमाण है बीज-फल न्याय की तरह। वृहदारण्यक में लिखा है—मृत्यु के पश्चात तुरंत जीव दूसरे शरीर में वैसे ही जन्म लेता है जैसे तृणों पर रहने वाला कीड़ा एक तृण को छोड़ दूसरे पर जाता है।

जातक ग्रन्थ में उल्लेख है कि मृत्यु की घड़ी में ही अगले जन्म की कुंडली तैयार हो जाती है। वेद^{२५}, उपनिषद^{२६}, स्मृति^{२७}, गीता^{२८} और जैन-बौद्ध साहित्य में पुनर्जन्म के संवादी तथ्य^{२९} उपलब्ध हैं। जैसे—

१. जीवन स्तर से पुनर्जन्म की सिद्धि—

वर्तमान जीवनशैली पुनर्जन्म की प्रतीक है क्योंकि विभिन्न जीवों का न तो शरीर, रूप, आयु समान है न भोगादि सुख-साधन भी एक जैसे। प्राणी-प्राणी में व्याप्त वैषम्य किसी अदृश्य शक्ति की ओर संकेत है।^{३०} वह शक्ति पूर्व कृत कर्म ही है।

२. जन्मजात विलक्षण प्रतिभा—

व्यवहार में एक व्यक्ति असाधारण प्रतिभा संपन्न है, दूसरा अबोध। एक मां की संतानों में भी यह अंतर पाया जाता है जो पूर्वजन्म के अभ्यास का परिणाम है।

प्लेटो ने सुकरात से पूछा— आप समान रूप से अध्यापन करवाते हैं किन्तु विद्यार्थियों में अंतर क्यों? एक की स्मृति तेज है, एक की मंद। सुकरात ने उत्तर दिया— जिन लोगों के पूर्वजन्म का अभ्यास है वे शीघ्र याद कर लेते हैं। जिन्हें अभ्यास नहीं उन्हें देर लगती है। यह संवाद पुनर्जन्म का प्रमाण है।

३. आत्मा का नित्यत्व—

मृत्यु के बाद शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु आत्मा का अस्तित्व विद्यमान रहता है।^{३१} “आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभाव सिद्धिः।^{३२} आचार्य वात्स्यायन ने इस सूत्र की व्याख्या की— नित्योऽयमात्मा प्रेति पूर्व शरीरं जहाति। प्रियते इति प्रेत्य च पूर्व शरीरं हित्वा भवति जायते शरीरान्तरनुपादत्त इति तच्चैतदुभयं जन्म-मरण प्रेत्यभावो वेदितव्यः।” यह कथन पुनर्जन्म की सिद्धि सूचक है।

४. प्रत्यभिज्ञान—

प्रत्यक्ष और स्मृति का जोड़ रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है।^{३३} स्मृति सबकी समान नहीं होती।

५. ज्ञान दृष्टि से—

ज्ञान के विकास में भी न्यूनाधिक देखा जाता है। ज्ञान शक्ति सबमें निहित है किन्तु विकास का अंतर है।

६. वीर्य शक्ति से—

भीतर में आत्मवीर्य का खजाना सबको प्राप्त है। फिर भी कई जीवात्माएं उत्साह एवं क्रियात्मक शक्तिसंपन्न हैं। कइयों में मन्दता है।

७. अपौद्गलिकता की दृष्टि से—

व्यक्ति-व्यक्ति के व्यक्तित्व में भी साम्य नहीं है। किसी का आकर्षक होता है, किसी का नहीं। कई दीर्घजीवी हैं, कई अल्पजीवी। यश-अपयश आदि स्थितियां पौद्गलिक उपकरण हैं। आत्मा अपौद्गलिक है इसलिये समान है किन्तु पौद्गलिक विषमता पुनर्जन्म की द्योतक है। कार्य-कारण, जन्य-जनक भाव भी प्रत्यक्ष प्रमाण है। अच्छे-बुरे कर्मों का फलोपभोग न हो तो कर्म की व्यर्थता सिद्ध होगी और कृत प्रणाश दोष भी आयेगा।

कोई भी बच्चा जन्म के साथ कर्म नहीं करता किन्तु सुख-दुःख का उपभोग करता है। जन्म से अस्वस्थ, अपंग हो जाता है। ऐसा क्यों ? सहज प्रश्न है। यदि बिना किये कर्मफल मिलता है तो अकृतागम दोष आता है।

स्तन्यपान की क्रिया, रोना-हंसना, चलना आदि स्वतः ही करने लग जाता है। पशु-पक्षियों में संतानोत्पत्ति, पालन-पोषण, रहन-सहन की व्यवस्था करने का अनुभव होता है। कहीं प्रशिक्षण नहीं दिया जाता। जन्मजात संस्कार है।

भ्रमर, मधुमक्खी, बया आदि की विशेषताएं स्पष्ट सूचित करती हैं—पुनर्जन्म को। बिल बनाना, मधु तैयार करना, नीड़ की संरचना आदि क्रियाएं उनके पूर्व कर्मजन्य संस्कारों की अभिव्यक्ति है। कर्म से पुनर्जन्म होता है। पुनर्जन्म के बारे में उद्भूत शंका का यह निरसन है।

पुनर्जन्म : परकाय प्रवेश

भगवती सूत्र में 'पोट्ट परिहार'^{३४} का उल्लेख है। गौशालक और तिल-पुष्प के संदर्भ का संवाद है। महावीर ने कहा—गौशालक ! यह तिल का पौधा फलित होगा। ये सात तिल-पुष्प जीव मरकर इसी पौधे की तिलफली में सात तिल होंगे। वही हुआ। वनस्पतिकाय के जीव भी 'पोट्ट परिहार' का उपभोग करते हैं। गौशालक ने इसी आधार पर सभी जीवों में 'पोट्ट परिहार' का सिद्धांत स्थापित किया। 'पोट्ट परिहार का' अर्थ है—मृत शरीर का अधिग्रहण। वनस्पति के 'पोट्ट परिहार' की संभाव्यता को महावीर ने स्वीकार किया था, अन्य जीवों में भी संभव हो सकता है इसका खण्डन कहीं नहीं मिलता। इस तथ्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि वनस्पतिकाय की तरह अन्य जीव-योनियों में भी 'पोट्ट परिहार' संभव है। इस बात की पुष्टि भगवती के ही अगले प्रकरण से होती है।

भगवती^{३५} के आधार पर ही प्राणी का गर्भकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट बारह वर्ष का माना है। काय भवस्थ का कालमान ज. अन्तर्मुहूर्त उ. चौबीस वर्ष है। वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया—एक जीव गर्भ में बारह वर्ष रह सकता है। बारह वर्ष की अवधि पूरी होते ही गर्भ में मृत्यु को प्राप्त हो गया। पुनः उसी शरीर में उत्पन्न हो और बारह वर्ष रह सकता है। इस प्रकार चौबीस वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति है।

तिर्यञ्च शरीर में भी 'पोट्ट परिहार' स्वीकार किया है। तिर्यञ्चनी^{३६} की गर्भस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट आठ वर्ष की है।

निशीथ चूर्णि, भाष्य आदि में आश्चर्यकारी विवेचन है कि श्रमण के अवसान होने पर उस देह का अंगुष्ठ आदि का छेदन कर देते हैं, ताकि कोई अन्य व्यंतर देव प्रभृति उस शरीर पर आधिपत्य न कर ले। मृत शरीर का अधिग्रहण कर पूर्व जन्म की स्मृति बनाये रखना, पूर्व जन्म सम्बन्धी विलक्षण घटना है।

परकाय प्रवेश की विधि

परकाय प्रवेश एक विशिष्ट यौगिक क्रिया है। जब कोई योगी अनुभव करता है कि यह मेरा शरीर साधना की कठिनता सहने में सक्षम नहीं है और वह उच्च साधना करने का कामी है। वह किसी सक्षम, बलिष्ठ, पराक्रमी और सुन्दर मृत शरीर की प्रतीक्षा-रत रहता है। योग मिलने पर अपने प्राणों को मस्तिष्क (सहस्रार चक्र) में चढ़ा देता है। फिर अपने समस्त संस्कार, स्वभाव और गुणों के साथ दूसरे शरीर में चला जाता है। उद्देश्य की पूर्ति होने पर पुनः अपने पूर्व शरीर में लौट आता है। जब तक नहीं लौटता पूर्व शरीर को कहीं सुरक्षित करवा देता है।

आद्य शंकराचार्य के सम्बन्ध में प्रसिद्ध घटना है। जब वे पं. मण्डनमिश्र की पत्नी भारती से परास्त हो गये तब वे अवकाश मांग कर तत्काल मृत राजा अमरूक के शरीर में सूक्ष्म शरीर सहित प्रविष्ट हुए। अभ्यास कर पुनः सुरक्षित पूर्व शरीर को प्राप्त किया। (स्वामी अपूर्वानन्द ने 'आचार्य शंकर' नामक पुस्तक के ११५ पृष्ठ पर उल्लेख किया है।)

परकाय प्रवेश स्वतः एक विज्ञान है। इसका प्रयोग वे ही कर सकते हैं जो अपने सूक्ष्म शरीर को इच्छानुसार किसी दूसरे शरीर में प्रवेश दे सकते हैं।

योग वाशिष्ठ के अनुसार रेचक प्राणायाम का अभ्यास पुष्ट कर मुख द्वारा ऊपर बारह-बारह अंगुल तक के प्रदेश में शरीर के भीतर प्राण को स्थिर रखने की शक्ति जिसे प्राप्त हो, वही योगी अन्य शरीर पर अधिकार कर सकता है।

शौनक ऋषि के अभिमत से परकाय प्रवेश के लिये इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की साधना जरूरी है। 'ब्रजोली मुद्रा' से भी परकाय प्रवेश संभव है।

पातंजल योगशास्त्र में आकाश मार्ग से गमन, एक ही समय में अनेक शरीर धारण, परशरीर में प्रवेश आदि योग विभूतियों का उल्लेख है।

अन्नमय कोष से प्राणमय कोष के उद्गमन (Projection) की क्रिया द्वारा ही परकाय प्रवेश की सिद्धि होती है। चित्तवृत्तियों के निरोध बिना उद्गमन संभव नहीं है। परकाय प्रवेश का सिद्धांत भी पुनर्जन्म की सिद्धि का पुष्ट प्रमाण है।

यह आस्तिकों के मस्तिष्क का आश्चर्यजनक आविष्कार है। पुनर्जन्म माने बिना विश्व-वैचित्र्य का समाधान संभव नहीं है। दार्शनिकों ने कर्म-सिद्धांत के अनुसंधान से जीवन में उनके संभावनाओं का उद्घाटन किया है। हाईरोक्लीज ने कहा—

“पुनर्जन्म का सिद्धांत स्वीकार किये बिना ईश्वर के विधान को न्यायोचित कहना उचित नहीं है। हमारे भाग्य के निर्माण में हमारा कोई हाथ नहीं है। सब-कुछ नियति के हाथ में है तो भलाई-बुराई की सभी संहिताएं निरर्थक हैं।” कर्मवाद विषमताओं की न्याय पुरस्सर व्याख्या ही नहीं करता बल्कि हमारे विकास का रास्ता भी खुला करता है।

पुनर्जन्म आस्तिक दर्शन का आधार है। इसका सम्बन्ध आत्मा की सत्ता और कर्म-विपाक से है। यह सिद्धांत जैन दर्शन की काया में प्राणवत् व्याप्त है।

प्रत्येक कर्म के लिये कर्ता, साधन और विषय की अपेक्षा रहती है। साधन हो कर्ता न हो तो कर्म की सिद्धि नहीं होती। मनुष्य यंत्र नहीं। उसमें हेयोपादेय का विवेक है। यह कार्य करना चाहिये या नहीं, यह विवेक देने वाला कौन? मन को प्रेरित कौन करता है? सुख-दुःख की अनुभूति कौन करता है? अनात्मवादियों के पास इनका कोई उत्तर नहीं। यह सब कर्म का वैचित्र्य है।

मनुष्य जब शरीर त्याग करता है तब उसके कर्मों के अनुसार ही नया जन्म मिलता है। आत्मा वर्तमान में है। इससे स्पष्ट है कि अतीत में था, भविष्य में रहेगा। आचारांग में कहा है—“जस्स नत्थि पुरा-पच्छा मज्झे तत्थ कओ सिआ।”

जिसका पूर्व और पश्चात् नहीं उसका मध्य कहां से होगा? आत्मा की त्रैकालिक सत्ता पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म की अभिव्यक्ति है।

आचारांग के आधार पर आत्मा की नित्यता सिद्ध है। द्रव्य रूप से आत्मा नित्य है। पर्याय रूप में शैशव, तरुण और वृद्ध पर्यायें बदलती हैं। एक शरीर से दूसरे शरीर में संक्रमण करती हैं।

आत्मा की नित्यता से पुनर्जन्म, पुनर्जन्म से आत्मा की नित्यता का प्रश्न जुड़ा है। पुनर्जन्म का मूल यही है, जो जैसा कर्म करता है तदनु रूप योनि में जन्म प्राप्त करता है।

न केवल भारतीय विचारक अपितु पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो भी कहता है—The soul alwage weaves her garment a new. The soul has a natural strength which will hold out and be born many times. अर्थात् आत्मा सदा अपने लिये नये-नये वस्त्र बुनती है तथा आत्मा में एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है जो ध्रुव रहेगी और अनेक बार जन्म लेगी।^{३७}

आधुनिक युग के दार्शनिक स्पिनोजा आदि दार्शनिकों का आत्मा की शाश्वतता में विश्वास था। काण्ट का अभिप्राय था—प्रत्येक आत्मा मूलतः शाश्वत है।

ग्रीक दार्शनिक पाइथेगोरस के विचारों में मृत्यु के बाद आत्मा के अस्तित्व एवं अमरत्व की कल्पना स्पष्ट झलकती है।

एम्पिडॉक्स^{३८} का अभिमत था, यदि पूर्वजन्म है तो पुनर्जन्म भी है। दोनों साथ-साथ चलते हैं।

शेलिंग का पुनर्जन्म में विश्वास था। लाइबनीतज ने प्रत्येक जीवित वस्तु को अविनाशी माना है। हेगल के अनुसार सभी आत्माएं पूर्णता की ओर बढ़ रही हैं। इसी तरह अरस्तु, सुकरात, जेम्ससेथ मार्टिन्यु आदि ने आत्मा और मरणोत्तर जीवन को अपने-अपने तरीके से स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

ड्राइवन ने लिखा है— Death has no power the immortal soul to slay, that when its present body turns to slay, seeks a fresh home,

and with unlesened might, inspires another frame with life and light. अर्थात् इस अमर आत्मा का वध करने का सामर्थ्य मृत्यु में नहीं है। जब मृत्यु आत्मा के वर्तमान शरीर का वध करने चलती है तो आत्मा अपनी अक्षुण्ण शक्ति से नया आवास खोज निकालती है और दूसरे शरीर को जीवन तथा प्रकाश से भर देती है।

विचारकों-कवियों की नजर में—

वाल्ट विटमेन ने अपनी कृति 'सोंग ऑफ माइसेल्फ' में लिखा है—As to you life ? I reckon you are, the leavings of many death, no doubt I had died myself ten thousand times before, अर्थात् ओ जीवन ! तुम मेरे अनेक अवसानों के अवशेष हो। इसमें कोई संदेह नहीं कि मैं इसके पूर्व दस हजार बार मर चुका हूँ।

अगणित जन्म और मृत्यु के बाद यह वर्तमान, जो भूतकाल की उपज है, प्राप्त हुआ है।

पाश्चात्य काव्य साहित्य में पुनर्जन्म सिद्धांत के परिपोषक कुछ संकेत मिलते हैं। मैथ्यु, वर्ड्सवर्थ, आर्नोल्ड, ब्राउनिंग आदि का अभिमत था कि अमर आत्मा का विनाश करने की शक्ति मृत्यु में नहीं है।

ऑर्थर शोपनहर ने अपनी पुस्तक 'Parerga and Perlipomega' परेरगा और पार्लीपोमेगा में इसकी पुष्टि की है।

चेतना की त्रैकालिकता और कर्म पुद्गलों का अनादि संयोग पुनर्जन्म की प्रतीति देता है। मुख्यतः तीन स्रोतों से आस्था परिपक्व बनती है। तीन स्रोत हैं—१. प्रत्यक्षज्ञानी या दार्शनिक, २. तार्किक, ३. वैज्ञानिक।

प्रत्यक्षज्ञानियों ने अनुभूत सत्य के रूप में निरूपित किया। जन्म के पहले भी जीवन होता है, और मृत्यु के बाद भी जीवन की धारा अविच्छिन्न है। वर्तमान मध्यवर्ती विराम है। जिसका मध्य है उसका पूर्वापर भाव भी निश्चित है। वर्तमान जीवन जन्म परम्परा की मध्यवर्ती कड़ी यही पुनर्जन्म है।

तर्क के स्तर पर प्रारंभ से आज तक पुनर्जन्मवाद की मान्यता यहां पनपी, फली-फूली, वैसे ही इसकी समरेखा में एक धारा और प्रवाहित है जो पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करती। उसे नास्तिक कहते हैं। ये धाराएं दार्शनिक क्षेत्र में अनवरत चलती रही हैं। जो आस्तिक-नास्तिक के नाम से अभिहित की जाती हैं।

तार्किकों की तरह वैज्ञानिकों ने भी जन्मान्तर को लम्बे समय तक मान्य नहीं किया। कारण विज्ञान की पहुंच भौतिक जगत् तक ही है। उनके प्रयोग और प्रशिक्षण का केन्द्रबिन्दु पदार्थ या पुद्गल ही रहा है। जब से विज्ञान ने सूक्ष्म जगत् के रहस्यों की खोज में चरण बढ़ाये, एक नई क्रांति घटित हुई।

आत्मा को भले स्वीकार किया या नहीं, पर भौतिक जगत् से परे कुछ अभौतिक तत्त्व भी है। यह विश्वास निश्चित रूप से वैज्ञानिक क्षेत्र में पनपा है। परामनोवैज्ञानिकों ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया है उससे धर्म का क्षेत्र उपकृत अवश्य हुआ है।

विज्ञान की एक शाखा के रूप में विकसित हो रहा है—परामनोविज्ञान। जो मानव मस्तिष्क की उलझी हुई गुत्थियों को विश्लेषित करने के लिये प्रयासरत है। परामानसिक शक्ति इन्द्रिय संवेदनों से अनन्त गुणाधिक सामर्थ्यशाली है। किन्तु मन को नियंत्रित करके ही इस शक्ति को हस्तगत किया जा सकता है।

भारतीय अध्यात्म जगत के मूर्धन्य पुरुष तथा योगियों ने अनेक सिद्धियां प्राप्त कीं जिनका वर्णन पुराणों-आगमों में पर्याप्त संख्या में उपलब्ध है।

रूसी वैज्ञानिक प्रोफेसर 'लियोनिद वासिलयेव' ने हिप्नोटिज्म तथा टेलीपैथी के संयुक्त उपयोग से यह सिद्ध किया कि हिप्नोटिज्म की अवस्था में अतीन्द्रिय शक्तियां अधिक स्पष्टता से उभरती हैं। उन्होंने अपने शोध निष्कर्षों में यह निरूपण किया है—

मनुष्य मस्तिष्क प्रसारण केन्द्र की तरह काम करते हैं। पुनर्जन्मवाद, प्रेतवाद, तंत्र विद्या, अतीन्द्रिय बोध, दूरप्रभावी गतिशीलता तथा और भी कई विषय आज परामनोविज्ञान के अभिन्न आयाम बन गये हैं।

परामनोविज्ञान के क्षेत्र में चेतना की विलक्षण क्षमताओं पर शोध कार्य के द्वारा आत्म-सत्ता के स्वतंत्र अस्तित्व का समर्थन हो रहा है। कहा भी है—'The soul that rises with us, our life's star, hath had elsewhere its setting and cones from after.' अर्थात् हमारे साथ हमारे जीवन के नक्षत्र के साथ उदीयमान आत्मा का उद्भव अन्यत्र है और वह सुदूर से आई है। परामनोविज्ञान के सामने ज्वलंत प्रश्न है कि यदि भूतकाल में जीवन का अस्तित्व था तो वर्तमान में उसकी स्मृति क्यों नहीं ?

इस संदर्भ में विचारणीय तथ्य है कि भूतकाल की घटनाओं के विस्मृत हो जाने से पुनर्जन्म का खण्डन नहीं कर सकते। स्मृति का विस्मृत हो जाना सहज है क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम सबका समान नहीं होता।

कुछ लोगों का तर्क है, बचपन की घटनाएं वृद्धावस्था में याद रहती हैं तो पूर्वजन्म की क्यों नहीं? इसका समाधान हीरेन्द्रनाथ दत्त ने किया है कि स्मरण शक्ति का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। पूर्वजन्मगत मस्तिष्क, मनुष्य की मृत्यु के साथ नष्ट हो जाता है। तब सबको एक-सी स्मृति कैसे रहेगी? लोक व्यवहार में देखते हैं—एक स्थान पर, एक ही दृश्य को बहुत दर्शक देखते हैं फिर भी सबकी स्मृति एक जैसी नहीं होती।

इस सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिकों का अभिमत है—आत्मगत जो पूर्व-संस्कार इस जन्म में जाग्रत होते हैं वे संस्कार ही स्मृति को जन्म देते हैं। जहां संस्कार हो वहां स्मृति की अनिवार्यता नहीं है। क्योंकि स्मृति से पूर्व संस्कारों का जागरण आवश्यक है।

पुनर्जन्म या देहान्तर प्राप्ति होने पर अनेक पूर्व संस्कार जाग्रत हो जाते हैं। अनेक विशिष्ट निमित्त भी उन संस्कारों को जाग्रत कर देते हैं। इनकी स्मृति होने से जाति स्मृति का ज्ञान हो जाता है। मैं कौन था? कहां और कैसा था?^{३९}

जैन दर्शनानुसार जीव का नये जन्म में प्रवेश और देहत्याग यातना रूप माना है। उस समय पूर्वजन्म की स्मृतियां प्रायः लुप्त हो जाती हैं। जैसे कोई भयंकर चोट, अतिभय, गहरा आघात, विशेष संकट, असह्य शारीरिक पीड़ा से बेहोश हो जाता है उस स्थिति में स्मृतियां विस्मृत हो जाती हैं। मनोवैज्ञानिक विस्मृति को अच्छा मानते हैं। क्योंकि ढेर सारी स्मृतियों का दबाव व्यक्ति को पागल बना सकता है। यदि उसके मस्तिष्क में पूर्वजन्म के घटना चित्र उभरते ही रहें तो वह उनमें तल्लीन हो जगत् के व्यवहारों से उदासीन हो जायेगा। तर्क उठता है, कुछ लोगों की मृत्यु आघात या दुर्घटना की स्थिति में होती है। फिर भी नये जीवन में उनकी स्मृति रहती है, यह क्यों? उत्तर में इसे आपवादिक स्थिति ही कहा जाता है। उस के आर्त-रौद्र ध्यानजन्य संस्कार इतने प्रगाढ़ होते हैं कि भयंकर कष्ट में भी स्मृति नष्ट नहीं होती। वह किसी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति का निमित्त पाकर उद्बुद्ध हो जाती है।

डॉ. इयान स्टीवेंसन एक विख्यात परामनोवैज्ञानिक हैं। उनका मत है कि जिसकी मृत्यु प्रचण्ड आवाज सुनकर, आग्नेयास्त्र देखकर, बिजली गिरने के

भय से, आशंका, अभिरुचि, बुद्धिमत्ता, उत्तेजनात्मक, आवेशग्रस्त मनःस्थिति में होती है उन्हें पिछले जन्म की स्मृति अधिक स्पष्ट होती है। किन्तु जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, भावुक संवेदनाएं समाप्त हो जाती हैं।

जैन आगमों में पुनर्जन्म की ज़रूरी के तीन हेतुओं का निर्देश है।^{४०} स्व-स्मृति, परव्याकरण, अन्य के पास श्रवण। अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने पुनर्जन्म की सिद्धि के लिये अनेक युक्तियां प्रस्तुत की हैं—मोहनीय कर्म का उपशम, अध्यवसान शुद्धि, ईहापोह, मार्गणा-गवेषणा आदि।

यहां एक ज्ञातव्य है कि जाति स्मरण में वे ही पूर्वजन्म देखे जाते हैं जो 'संज्ञी' के हों। यानी जिस जन्म में प्राणी मनयुक्त रहा हो। जैन अवधारणा में ऐसे संज्ञी के नौ पूर्ववर्ती जन्मों का स्मरण कर सकता है।

जाति-स्मृति के दो रूप हैं—एक स्वयं के सहज बोध द्वारा। दूसरा किसी विशिष्ट ज्ञान के अवधारक आप्त पुरुष द्वारा। जैसे उत्तराध्ययन में चित्त-संभूत का वर्णन है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इससे मिलता-जुलता उल्लेख है। परामनोवैज्ञानिकों ने भी एक साथ कई जन्मों की संभाव्यता को स्वीकार ही नहीं किया अपितु अपने अन्वेषणों से इसे सत्य साबित भी किया है। नौ जन्मों की स्मृति का आश्चर्यजनक वृत्तान्त उपलब्ध है।

दक्षिण अफ्रीका के जोहान्सबर्ग की घटना है। एडवर्ड वर्वे की पत्नी केरोलिन फ्रांसिस एलिजाबेथ की पुत्री जोय वर्वे थी। जोय बालिका परामनोवैज्ञानिकों के अध्ययन का आकर्षक केन्द्र बन गई। जोय ने अपने पिछले नौ जन्मों की स्मृति का प्रमाण दिया। जोय के अनुसार उसे पूर्व के प्रथम जन्म की बात स्मृति में थी कि डायनासोर (प्राचीन भीमकाय पशु) ने पाषाणकाल में एक बार उसका पीछा किया था।

दूसरे जन्म में जोय दासी थी। उसके स्वामी ने अप्रसन्न होकर उसका सिर छेदन कर दिया। तीसरे जन्म में वह दासी के रूप में नाचती रहती थी।

चौथे जन्म में रोम के एक स्थान पर रहती थी। रेशमी कम्बल व वस्त्र बुनाई का कार्य करती थी। पांचवें जन्म में वह धर्मान्ध महिला थी इसलिये एक धर्मोपदेशक को उसने पत्थर से मार दिया था। छठा जन्म इटली के नव जागरण काल में हुआ। उसके घर में दीवारों और छतों पर बड़े-बड़े चित्र अंकित थे। सातवां जन्म गुडहोप अन्तरीप में १७वीं शताब्दी में हुआ। वहां ठिगने तथा पीले रंग के लोगों में से थी। राज्याश्रय में चलने वाले व्यवसाय से उसका

आजीवन सम्बन्ध रहा। आठवें जन्म में वह विकासशील क्षेत्र में जन्मी। १९वीं शताब्दी थी। कला और कारीगरी में गहरी रुचि थी। नौवें जन्म में वह प्रीटोरिया नगर की एक छात्रा थी।

इस बालिका के नौ जन्मों के संस्मरणों से एक ही तथ्य परिलक्षित होता है। मनुष्य के विकास क्रम में सतत धारावाहिकता है। वह पिछले जन्मों के संस्कारों के साथ नया जीवन प्रारंभ करता है। यह सब कर्मण शरीर से सम्बन्धित है।

कर्म सिद्धांत और शारीरिक चिह्न

पुनर्जन्म के अस्तित्व की खोज में अनुरक्त डॉ. स्टीवेन्सन ने उल्लेख किया—जीवन एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें मृत्यु के बाद नई देह धारण करता है। मृत्यु के समय के संस्कार एवं स्मृतियां जीवात्मा के साथ स्थानान्तरित होते हैं। वे नये जीवन में कभी-कभी साकार होते हैं। इतना ही नहीं शरीर पर जो भौतिक चिह्न होते हैं। वे भी नये शरीर में संक्रमित हो जाते हैं।

डॉ. स्टीवेन्सन ने अनुसंधान के संदर्भ में देखा है कि जिन लोगों की मृत्यु गोली लगने से हुई, छुरी के प्रहार से या अन्य किसी कारण से, उस समय शरीर पर जो चिह्न बनते हैं वे अगले शरीर में यथावत पाये जाते हैं। शरीर के चिह्नों का स्थानान्तरण भी पुनर्जन्म की सच्चाई प्रकट करता है। एक अद्भुत रहस्य का उद्घाटन होता है।

स्वामी अभेदानंद ने पुनर्जन्म के पक्ष में अपना अभिमत अभिव्यक्त करते हुए कहा—मृत्यु के समय अपनी सारी शक्तियों को समेट कर चला जाता है। उसमें सारी अनुभूतियों का अंकन होता है तथा सूक्ष्म शरीर के माध्यम से नये शरीर में संक्रमित हो जाते हैं।

सूक्ष्म शरीर की गतिविधियों का अध्ययन परामनोवैज्ञानिकों के लिये महत्वपूर्ण विषय है। सूक्ष्म शरीर की अवधारणा से ही पुनर्जन्म में विश्वास की नई कड़ी जुड़ती है।

सूक्ष्म शरीर क्या है ? मृत्यु के साथ उसका अविनाभावी सम्बन्ध कैसे होगा ? जैन-परम्परा के पास इन प्रश्नों का उत्तर है।

परामनोवैज्ञानिकों ने अतीन्द्रिय घटनाओं के माध्यम से मृत्यु के बाद भी जीवन का अस्तित्व है, इसका समर्थन किया है। विशिष्ट योग साधकों में

अतीन्द्रिय ज्ञान की क्षमता होती है। अतीन्द्रिय ज्ञान में अवधि, मनःपर्यव, जाति-स्मृति आदि हैं। जिसका चित्त इस संदर्भ में केन्द्रित होता है, उसका सारा जीवन खुल जाता है। साधारण मनुष्यों को भी कभी-कभी इस प्रातिभ ज्ञान की स्फुरणा होती है। आधुनिक परामनोवैज्ञानिकों ने इस ज्ञान को “ई. एस. पी.” (Extra Sensory Perception) नाम दिया है।

आज ‘द एज रिग्रेसन’ नामक पद्धति का आविष्कार हुआ है। इस पद्धति से रोगी या किसी व्यक्ति को सम्मोहित कर भूतकाल की स्मृतियाँ दिलाई जाती हैं। अन्तराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त डॉ. अलेक्जेंडर केनन^{४१} ने इस पर काफी प्रयोग किये हैं। उस रिपोर्ट में इस पृथ्वी के अतिरिक्त भी जीव-सृष्टि होने का उल्लेख है।

केनन का मानना है कि पृथ्वी पर केवल स्थूल देहधारियों का ही अस्तित्व नहीं, सूक्ष्म देहधारी जीवों का निवास भी है। जैन दर्शन में व्यंतर निकाय देवों के अस्तित्व को केनन की धारणा से पुष्टि मिली है।

राल्फ सल्ले ने अपनी पुस्तक “पुनर्जन्म की समस्या” में पुनर्जन्म के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। डॉ. आगेम ने ‘मनोविज्ञान : एक परिचय’ में ऐसी घटनाओं का जिक्र किया है जो पुनर्जन्म की गवाही हैं।

जन्म के समय बच्चे अपने मुख के आकृति भाव से सुख-दुःख, विषाद आदि को प्रकट करते हैं। यह पूर्वजन्म की स्मृति के फलस्वरूप होते हैं। क्योंकि सद्यजात शिशु में इस जन्म की संवेदनाओं की अनुभूति होने का प्रश्न नहीं उठता।

भारतीय चिंतन के अनुसार कर्म पुनर्जन्म का मूल है। अनियंत्रित कषाय ही पुनर्जन्म के मूल को अभिसिंचन देती है— “सिंचति मूलाई पुणब्भवस्स” यह उत्तराध्ययन का घोष है। आचारांग का सूक्त है— ‘माई पमाई पुणरेइ गब्भं’— माया और प्रमाद पुनर्जन्म का हेतु है। आचारांग भाष्य में पूर्वजन्म की स्मृति के कुछ कारणों का निर्देश है— अध्यवसानशुद्धि, ईहापोह मार्गणा।

बुद्ध ने कहा— भिक्षुओ! इस जन्म के एकानवे जन्म पूर्व मेरी शक्ति से एक पुरुष की हत्या हुई थी उसी कर्म के कारण मेरा पैर कांटे से विंध गया।^{४२}

सुश्रुत संहिता में कहा है—पूर्वजन्म में शास्त्राभ्यास के द्वारा भावित अन्तःकरण वाले मनुष्य को पूर्वजन्म की स्मृति हो जाती है—

भावितः पूर्व देहेषु सततं शास्त्र बुद्ध्यः।

भवन्ति सत्त्व भूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः॥

गर्भोपनिषद् में इस प्रकार का उल्लेख है— गर्भ में प्राणी को जब पूर्वजन्म की स्मृति होती है, तब वह कहता है—

‘पूर्व योनि सहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया।

आहारा विविधा भुक्ता, पीता नाना विधास्तनाः।

जातश्चैव-मृतश्चैव जन्म चैव पुनः।

यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभं।

एकाकी तेन दह्येहं गतास्ते फल भोगिनः।’

अर्थात् सहस्र योनियों को देखा, विविध प्रकार का आहार किया, विविध स्तनों से दूध पिया। जन्मा-मरा, परिवार के लिये शुभाशुभ कर्म किये। वे मेरे साथ नहीं हैं। साथ हैं मेरे कर्म, उनका फल मैं अकेला भोग रहा हूँ।

पुनर्जन्म का सिद्धांत दार्शनिक जगत् में सहज प्रतिष्ठा पा रहा है। परामनोविज्ञान के विश्लेषण और नये-नये तथ्यों के अनुसंधान ने सटीक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने परामनोविज्ञान की ४ मान्यताओं का उल्लेख किया है—१. विचारों का सम्प्रेषण, २. प्रत्यक्ष ज्ञान, ३. पूर्वाभास, ४ अतीत का ज्ञान।

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक संसार के अनेक देशों तथा विभिन्न जातियों में पुनर्जन्म का व्यापक विश्वास जमा हुआ है। बर्मा, चीन, जापान, तिब्बत, पूर्वी द्वीपसमूह, लंका, भारत आदि देशों में पूर्वजन्म की मान्यता धर्म का आधार है।

हिन्दू धर्म में सर्वप्रथम हम ऋग्वेद में संकेत पाते हैं, इसके बाद उत्तरवर्ती साहित्य में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। जैन दर्शन की तरह बौद्ध दर्शन में भी योनियां मानी गई हैं। जिन्हें बुद्ध ने भूमियां कहा है। भूमियां चार हैं— अपायभूमि (दुर्गति-नरक, तिर्यच, प्रेत, असुर आदि), काम सुगत भूमि (देव-मानव), रूपावचर भूमि (विशिष्ट देव जातियां), अरूपावचर भूमि।

भारत की तरह मिश्र और यूनान की प्राचीन परम्पराओं में भी आत्मा के आवागमन का सिद्धान्त मान्य रहा है। वर्तमान युग केवल मान्यता का या

दार्शनिक स्थापनाओं का युग नहीं है। यह वैज्ञानिक युग है। प्रयोग और परीक्षण का युग है। उसी सिद्धांत को युग की स्वीकृति प्राप्त होती है, जो प्रायोगिक हो।

हजारों शताब्दियों तक पुनर्जन्म और पूर्वजन्म का जो सिद्धांत मात्र मान्यता या दार्शनिक चर्चा का विषय रहा था, बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से वह भी प्रयोग और परीक्षण की अणु भट्टी में तपाया जा रहा है। व्यक्ति, चित्र, स्थान, वस्तु आदि के दर्शन या स्पर्शन भी पूर्वजन्म घटनाओं की स्मृति में निमित्त बनते हैं।

निष्कर्ष—परामनोविज्ञान मात्र मानवीय पुनर्जन्म के ही कुछ साक्ष्य उपलब्ध कर सका है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त की व्याख्या की है किन्तु प्रयोगशाला के स्तर पर अभी अवधारणा मात्र सिद्धांत के रूप में स्थापित नहीं हो पाई है। ऐन्द्रिय जगत की व्याख्या के लिये विज्ञान सर्वोपरि है, किन्तु अनुभूतियों की अतीन्द्रिय क्षमता के बोध में विज्ञान मानदण्ड नहीं हो सकता।

मृत्यु : एक मीमांसा

जीवन का प्रारंभ जन्म से होता है। अन्त मृत्यु है। कर्मावृत चेतना को संसार की नाना अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। जन्म और मृत्यु का चक्र मुक्तिपर्यन्त चलता है। जन्म के साथ मृत्यु की मीमांसा कर लेना भी आवश्यक है।

मृत्यु आखिर है क्या? मृत्यु क्यों होती है? उसके कारण क्या हैं? मृत्यु के बाद क्या घटित होता है? इनका समाधान भिन्न-भिन्न विचारधाराओं में मिलता है। सुकरात ने पुनर्जन्म और मृत्यु का विषय कारागार में अपने प्रिय मित्र “सिविस” को प्रमाणों से बताया था कि हमारी आत्मा मरने के बाद अवश्य दूसरे लोक में जाती है। मनुष्य ही नहीं, जितनी उत्पन्नधर्मा वस्तुएं हैं उनका विरोध पक्ष भी अवश्य है।

जो वस्तुएं बड़ी होती हैं पूर्वावस्था में वे छोटी अवश्य रही हैं। धूप है तो छाया भी है। इसी प्रकार आश्लेष-विश्लेष, गरमी-सर्दी, निद्रा-जागृति। विरोधी धर्म के अस्वीकार से पक्ष सिद्धि संभव नहीं है। उसी प्रकार मृत्यु का जन्म विपक्षी है। जन्म का विपक्ष मृत्यु।

महर्षि रमण ने गृह त्याग के पहले मृत्यु के स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव किया। एक दिन वे चाचा के घर की छत पर थे। उन्हें लगा, मृत्यु आ रही है पर

मृत्यु शरीर की होती है या इसमें रहने वाले चेतन 'अहं' की? वे छत पर उत्तान लेट गये। पूर्ण शिथिलीकरण कर दिया। द्रष्टा बन कर देखते रहे कि मृत्यु शरीर को मार सकती है। आत्मा अविनश्वर है। इसे जलाया नहीं जा सकता। आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है।

उत्तर मीमांसा^{४३} में कहा है— “हम प्रत्यक्ष देखते हैं और शब्द प्रमाण से भी यही विदित होता है कि मृत्यु निकट आने पर, वाणी मन में स्थित हो जाती है। व्यक्ति में बोलने की शक्ति नहीं रहती परन्तु उसका मन काम करता है। इसके बाद मन प्राण में स्थित हो जाता है। उस समय मन काम नहीं करता किन्तु जीवन क्रिया चालू रहती है। प्राणी सांस लेता है। उसका हृदय तथा अन्य अंग काम करते हैं। फिर प्राण भी स्थिर हो जाता है। जीवन-क्रिया भी अन्ततः समाप्त हो जाती है।”

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में

वैज्ञानिकों की धरणा में हृदय की धड़कन बंद हो जाना, सांसों का रुक जाना, शारीरिक उष्णता का समाप्त होना ही मृत्यु है। कोशिकाओं की टूट-फूट होना भी मृत्यु का एक कारण है। किन्तु वर्तमान जीवन-विज्ञान इससे सहमत नहीं। मृत्यु का अर्थ मस्तकीय विद्युत्तरंगों का स्थगित होना कहा है।

हृदय में खून का दौरा बंद हुआ कि मस्तिष्क को रक्त मिलना बंद हो जाता है। परिणामस्वरूप मस्तिष्क की शक्ति नष्ट हो जाती है। मृत्यु हो जाती है। यह 'क्लीनिकल डेथ' कहलाती हैं।

मृत्यु जीवन का अटूट सत्य है। जीवन की अनिवार्यता है। मृत्यु को समझे बिना जीवन की परिभाषा नहीं समझी जाती। नदी के प्रवाह की तरह जीवन का प्रवाह है। उसके दो तट हैं— एक जन्म, दूसरा मृत्यु। दो जन्मों के बीच मृत्यु अवश्यंभावी है। भागवत में मृत्यु को पूर्ण विस्मृति— 'मृत्युरत्यन्त विस्मृतिः' (११, २२, ३८) के रूप में परिभाषित किया है।

जैन दर्शन में मृत्यु का व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध विवरण है। भगवती^{४४} में मृत्यु के दो प्रकार हैं— बाल मरण, पंडित मरण। बाल मरण के बारह प्रकार हैं— वलय, वशार्त, अन्तःशल्य, तद्भव, गिरिपतन, तरुपतन, जलप्रवेश, अग्निप्रवेश, विषभक्षण, शास्त्रावपाटन, वैहायस, गृहपृष्ठ।

समवायांग में मरण के १७ प्रकारों का उल्लेख है—अविचिमरण, अविधिमरण, आत्यन्तिकमरण, वलयमरण, वशार्तमरण, अंतःशल्यमरण,

तद्भवमरण, गृह्णपृष्ठमरण, भक्त-प्रत्याख्यानमरण, बालमरण, बाल पंडितमरण, पंडितमरण, छद्मस्थमरण, केवलीमरण, वैहायसमरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण। मूलाराधना में भी कुछ नामान्तर से मरण के १७ प्रकार बतलाये हैं, उनका विस्तार विजयोदया वृत्ति में मिलता है। ठाणं में १४ और निशीथ में २० प्रकार का नामोल्लेख है। संख्या और क्रम में भेद विवक्षा सापेक्ष है। मृत्यु के मूल दो प्रकार हैं—अवीचिमरण एवं प्रायोगिकमरण। शेष सब प्रायोगिकमरण के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं।

पंडितमरण^{४६} दो प्रकार का है—प्रायोपगमन, भक्त प्रत्याख्यान। प्रायोपगमन^{४७}— चार आहार के त्यागपूर्वक वृक्ष से कटी हुई डाली की तरह स्थिर अवस्था को कहते हैं।

भक्त प्रत्याख्यान^{४८}— त्रिविध या चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक मरण का नाम है। उत्तराध्ययन^{४९} में, अकाम-सकाममरण की भी चर्चा है। बालमरण या अकालमरण दोनों एकार्थक हैं। बाल यानी अज्ञानी। उसका मरण अकाममरण है।

सकाममरण, जिसे पंडितमरण भी कहा जाता है। पंडित का अर्थ है, ज्ञानी। पंडितमरण यानी ज्ञानियों की मृत्यु। ज्ञानी स्वेच्छापूर्वक मृत्यु का वरण करते हैं। उनका देहाध्यास नहीं रहता।

कुछ लोग ऐसी मिथ्या धारणा को पालते हैं कि समाधि मृत्यु और आत्म-हत्या दोनों एक ही हैं। कारण उन्होंने समाधि मृत्यु के रहस्य को समझा नहीं। समाधिमरण और आत्महत्या दोनों बाहर में समान प्रतीत होते हुए भी लक्ष्य, उद्देश्य, परिणाम और फल की दृष्टि से बहुत बड़ा अंतर है।

आत्महत्या में देह का विनाश होता है। संथारे में सम्बन्ध-विच्छेद होता है। आत्महत्या दण्डनीय अपराध है। संथारा देहातीत, इन्द्रियातीत अवस्था है।

आत्महत्या में आवेश, मोह, असफलता, भय, निराशा, कुण्ठा आदि कारण होते हैं। पंडितमरण की प्रक्रिया इससे भिन्न है। उसमें न आवेश है न मोह आदि। इसलिये दोनों के अंतर को स्पष्ट समझे बिना मिथ्या धारणा निर्मूल नहीं होती।

हिन्दू धर्म कोश में डॉ. राजबली पाण्डेय ने मृत्यु के १०१ प्रकारों का उल्लेख किया है। इनमें प्राकृतिक मृत्यु तो एक ही प्रकार की है, अन्य सौ प्रकार की कृत्रिम मृत्यु होती है। जब सप्त धातुओं से निर्मित शरीर में अवस्थित

जीवकोश का पूर्णक्षय हो जाता है, तब प्राणी की प्राकृतिक मृत्यु कहलाती है। कृत्रिम मृत्यु का अर्थ है—आत्महत्या, सर्पदंश, हत्या, दुर्घटना आदि बाह्य कारणों से होने वाली मृत्यु।

जैन दर्शन में मृत्यु का कारण ओज आहार की समाप्ति है। ओज का अर्थ है—जीवन धारण करने वाली पौद्गलिक शक्ति। प्राणी जब गर्भ में आता है, उससे पहले क्षण में वीर्य और शुक्र रूप जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह ओज आहार कहलाता है। ओज आहार ही समूचे जीवन का आधार है। शरीर, इन्द्रियों का निर्माण, भाषा का सामर्थ्य, मन की शक्ति का उदय—ये सब क्रमशः ओज आहार के बाद की निष्पत्तियां हैं।

जैन साहित्य में इन्हें पर्याप्तियां कहा जाता है। प्राणी के जीवन की संपूर्ण रचना और क्रियाएं इन्हीं पर निर्भर है। फिर भी इनमें संवेदन नहीं है। इनका संचालन करने वाला दूसरा तत्त्व है जिसे प्राण कहते हैं। प्राण एक जीवनी शक्ति है। प्राण संवेदनशील होता है। अपनी अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्तियों के सहयोग की अपेक्षा रखता है। पर्याप्ति और प्राण में कार्य-कारण सम्बन्ध है। पर्याप्ति कारण है। प्राण कार्य है। प्राण दश हैं।

ओज आहार और आयुष्य प्राण का समाप्त होना ही प्राणों की मृत्यु है। जब तक ये समाप्त नहीं होते वहां तक फेफड़े, हृदय या मस्तिष्क अपना काम बंद भी कर दे, फिर भी प्राणी जीवित रह सकता है। अड़तालीस घंटे तक श्वास और हृदय की गति बंद रहकर भी मानव जिंदा पाये गये हैं। केवल श्वासोच्छ्वास का रुकना नहीं, मृत्यु है ओज आहार की समाप्ति।

मृत्यु विश्वव्यापी रहस्य है। मृत्यु जीवन का अंत नहीं, एक पड़ाव है। पटाक्षेप है। आत्मा का रूपान्तरण है। मृत्यु का रहस्य मानव के लिये सबसे बड़ी चुनौती है। विज्ञान भी इस रहस्य को उद्घाटित नहीं कर सकता। यह चिरंतन सत्य है।

लिंग शरीर चैतन्य का अधिष्ठान है। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन, बुद्धि इन तत्त्वों से युक्त जीव पुनर्जन्म के लिये प्रस्थान करता है। शरीर का ग्रहण, जन्म और शरीर का विसर्जन मृत्यु है। प्राणों का संयोग जन्म, वियोग मृत्यु है।

प्रत्येक धर्म-दर्शन में मृत्यु सम्बन्धी अनेक कल्पनाएं हैं। मृत्यु के बाद भी जीवन समाप्त नहीं हो जाता। लाइफ आफ्टर लाइफ (Life after life)^{५०} में

रेमण्ड मुण्डी ने सिद्ध किया है कि मृत्यु के पश्चात् भी जीवन की अवस्थिति रहती है।

पाश्चात्य विद्वान और मृत्यु

यूरोपीय विद्वान सर वोल्टर स्काट ने अपनी डायरी में लिखा है—‘जब मैं भोजन कर रहा था तो मुझे विचार हुआ कि मैं संसार में पहले भी आ चुका हूँ।’ इतिहासवेत्ता हेरोटोदस कहता है— आत्मा अजन्मा है।

सन् १९८२ में इंग्लैंड में विद्वानों की एक समिति का गठन हुआ। जिसका नाम था ‘ब्रिटिश सोसाइटी फॉर साइकिकल रिसर्च।’ इसमें केवल ब्रिटेन ही नहीं, बल्कि यूरोप के भी प्रगतिशील देशों के विद्वानों और वैज्ञानिकों का सहयोग और संपर्क था। इस समिति ने काफी अनुसंधान के बाद दो विज्ञानों को जन्म दिया। साइकिकल रिसर्च (आध्यात्मिक अनुसंधान) और पेरासाइकोलॉजी (परामनोविज्ञान) दोनों विधाओं में मनुष्य का स्वरूप और उसकी अद्भुत शक्तियाँ, मृत्यु, मृत्यु के बाद जीवन, परलोक, पुनर्जन्म आदि विषयों पर गहरी अन्वेषणा की है।

आज इन विषयों पर इंग्लिश तथा अन्य पाश्चात्य भाषाओं में विशाल साहित्य प्रकाशित है। उन्होंने कहा—मनुष्य के पास अनेक मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं। जैसे—दिव्य दृष्टि, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (Extra-Sensory Perception) मनःप्रत्यय ज्ञान (Telepathy) दूरक्रिया (Telepinesis) प्रच्छन्न संवेदन (Cryptesthesia) पूर्वबोध (Premonition) आदि।

कुछ शंकाएं सामने आती हैं, मृत्यु के बाद क्या होगा? मृत्यु के परदे के उस पार न जाने क्या है? कैसा है? उस रहस्यमय अवगुण्ठन को किसने खोला है? अनिश्चितता के उस महासागर में डुबकी लगाने पर कहां ठिकाना लगेगा? कौन जानता है? मरणोपरांत जीव कहां जाता है? इन विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान—दोनों ही प्रमाणों से हर व्यक्ति के लिये संभव नहीं है।

किन्तु अनादिकाल से मनुष्य की जिज्ञासा सचेष्ट रही है। इस पर शोध और अनुसंधान चालू है। परामनोविज्ञान के क्षेत्र में चेतना की विलक्षण क्षमताओं पर शोध कार्य के द्वारा आत्मा के अस्तित्व का समर्थन हो रहा है।

जीवन की प्रक्रिया भीतर से बाहर की ओर है। वृक्ष के कई रूप हैं। एक वृक्ष बीज में निहित है, जो बाहर दिखाई दे रहा है। वह बीज की अदृश्य क्षमताओं का अभिव्यक्तिकरण है। टहनियां बनती हैं। फैलती हैं। पत्ते झड़ते हैं।

ऋतु परिवर्तन से फिर नये पल्लव प्रस्फुटित होते हैं। किन्तु बाह्य अवस्थाओं की संपूर्ण कालावधि में भी वृक्ष का आभ्यन्तर रूप सतत् वही रहता है। इस प्रकार आत्मा की विविध दशाओं में भी आत्मा का अस्तित्व यथार्थ है।

आत्मा अमर है। मृत्यु उसका वध नहीं कर सकती। मृत्यु जब आती है, वर्तमान शरीर पर अपना पंजा फैलाने लगती है। तब आत्मा अपनी अक्षुण्ण शक्ति से नया आवास खोज लेती है।

प्राचीन यूनानी विचारक पाइथोगोरस, सुकरात, प्लेटो, प्लूटार्क, प्लाटीनस आदि के विचारों में भी हमें पुनर्जन्म के सिद्धांत पर आस्था की स्पष्ट झलक मिलती है। अन्य दार्शनिकों, लेखकों, कवियों में स्पिनोजा, रूसो, शैनिंग, इमर्सन, ड्राइवन, वर्ड्सवर्थ, शैली और ब्राउनिंग आदि के नाम उल्लेखनीय हैं जो पुनर्जन्म में विश्वास करते थे।

शरीर की नश्वरता एवं प्रोटोप्लाज्मा की अमरता को वैज्ञानिक जगत् में स्वीकृति मिल चुकी है। उनके अनुसार यह शरीर कोशिकाओं द्वारा निर्मित है। प्रत्येक कोशिका में प्रोटोप्लाज्म नामक तरल एवं चिकना पदार्थ होता है। प्रोटोप्लाज्मा द्वारा भीतर की दूषित हवा का निष्कासन और ताजी हवा का भीतर आगमन होता है। प्रोटोप्लाज्म कणों में न्यूक्लीयस नामक अन्य पदार्थ है जो मानव शरीर को जीवन शक्ति प्रदान करता है। न्यूक्लीयस क्षीण होता है तो प्रोटोप्लाज्म के कण भी क्षीण होने लग जाते हैं। मृत्यु के बाद प्रोटोप्लाज्मा शरीर से अलग हो वायुमंडल में प्रविष्ट हो जाता है। वहां से वनस्पति में पहुंचता है। फल-फूल, अनाज आदि के द्वारा भोजन से संयुक्त होकर मनुष्य के शरीर में चला जाता है। फिर जीन में परिवर्तित हो नए शिशु के साथ पुनः जन्म लेता है।

जैन दर्शन के अनुसार इसे सूक्ष्म शरीर की संज्ञा दी जा सकती है। सूक्ष्म शरीरयुक्त आत्मा का ही पुनर्जन्म है। विज्ञान ने अनेक प्रयोगों के पश्चात् यह निर्णय किया है कि मृत्यु होने पर भी कोई ऐसा सूक्ष्म तत्त्व रह जाता है जो इच्छानुसार पुनः किसी शरीर में प्रवेश कर एक नये शरीर का निर्माण करता है।

प्रोटोप्लाज्मा की अवधारणा से आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म दोनों तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। प्रोटोप्लाज्मा का कण स्मृति पटल पर जाग्रत हो जाता है। तब बच्चे को अपने पूर्वजन्म की घटनाएं याद आने लगती हैं। जैन दर्शन भी कहता है पूर्वजन्म की स्मृति सूक्ष्म शरीर में संचित रहती है, निमित्त पाकर जाग्रत हो जाती है।

लन्दन के प्रसिद्ध डॉ. डब्ल्यू जे. किल्लर ने अपनी पुस्तक 'द ह्युमन एटमोस्फीयर' में अनेक प्रयोगों का वर्णन किया है। वे प्रयोग मरणान्त मरीजों की जांच के समय किये थे। उनका निष्कर्ष यह है—'मानव देह में एक प्रकाश पुञ्ज है। उसका अस्तित्व मृत्यु के बाद यथावत् रहता है।'

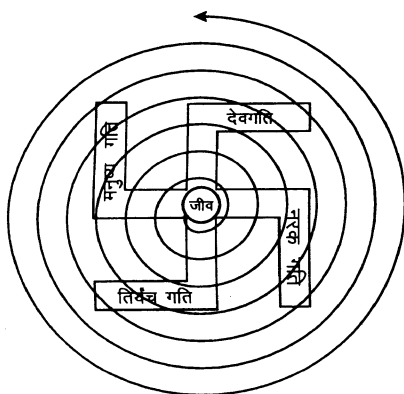
अब तक आत्मा के संदर्भ में विज्ञान द्वारा स्वीकृत महत्वपूर्ण तथ्य—

१. पूर्वजन्म है, पुनर्जन्म है।
२. प्रोटोप्लाज्मा ही आत्मा है वह नष्ट नहीं होता।
३. भौतिक शरीर के भीतर कोई अदृश्य शक्ति है।

सुकरात ने कहा— मृत्यु स्वप्नरहित निद्रा है और पुनर्जन्म जाग्रत लोक के दर्शन का द्वार है।

जैन परम्परा में जन्म-मृत्यु, कर्म-पुनर्जन्म सम्बन्धी अवधारणाएं शरीर, कषाय, योग एवं लेश्या से जुड़ी हुई हैं। जिनके कारण भवान्तर का क्रम निरंतर चालू है।

शरीर है तो पुनर्जन्म है। पुनर्जन्म का मूल कर्म है। शरीर से आत्मा की विभक्ति ही पुनर्जन्म की प्रक्रिया का निरोध है। जब तक स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का अस्तित्व है वहां तक चारों गतियों का अस्तित्व भी सुरक्षित है।



लेश्या और पुनर्जन्म

जीव मरकर नरक आदि गतियों में क्यों जाता है? कारण क्या है? कारण मीमांसा करें तो लेश्या भी उसमें एक घटक है। लेश्या-सिद्धांत जीव की उत्पत्ति से ही जुड़ा हुआ नहीं, मृत्यु के साथ भी उसका गहरा सम्बन्ध है।

जीव मृत्यु के समय जिस लेश्या के पुद्गलों को ग्रहण करता है, मृत्यु के बाद वैसी ही लेश्या में जाकर उत्पन्न होता है। या यों कहें कि जीव को जिस योनि में जाना है। मरण काल में वैसी ही लेश्या प्राप्त हो जाती है।

एक योनि से मरकर या उद्वर्तन कर जीव जब अन्य योनि में जाता है तब गन्तव्य स्थान तक पहुँचने में कम से कम एक समय, अधिक से अधिक चार समय का कालमान है। उतने समय भी सलेशी होता है।

अंतराल गति में द्रव्य लेश्या के नये पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता किन्तु मृत्यु या च्यवन के समय जो लेश्या होती है उसी के पुद्गल साथ रहते हैं। मरण काल में होने वाली लेश्या की विविध परिणति की अपेक्षा से बालमरण, पंडितमरण की विविक्षा है। लेश्या जन्मान्तर का कारण है। आत्मा और कर्म को जोड़ने में लेश्या सेतु के रूप में काम करती है।

पूज्यपाद^{५१} ने कषायों के उदय से अनुरंजित मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को लेश्या कहा है। जिसके द्वारा^{५२} जीव कर्मों से लिप्त होता है उसका नाम लेश्या है। जीव और लेश्या का सनातन सम्बन्ध है। लेश्या का अभिवचन है—अध्यवसाय^{५३}, अन्तःकरण वृत्ति, प्रकाश^{५४}, सुख^{५५}, उजियाला, वर्ण आदि। ये अर्थ सूचक पर्याय हैं।

लेश्या के दो प्रकार हैं—द्रव्य-भाव। शरीर का वर्ण और आणविक आभा को द्रव्य लेश्या कहा जाता है। यह पौद्गलिक पर्यावरण है। विचार भाव लेश्या है। कषाय^{५६} से युक्त योग की प्रवृत्ति भाव लेश्या है। गोम्पटसार^{५७} में मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम क्षय से उत्पन्न जीव स्पंदन (अध्यवसाय) को भाव लेश्या माना है।

द्रव्य लेश्या^{५८} के ६ विभाग हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म, शुक्ल। छह लेश्याओं में प्रथम तीन गंध की अपेक्षा दुर्गंधयुक्त, रस में अमनोज्ञ, स्पर्श से शीत-रुक्ष, वर्ण से अविशुद्ध है। शेष तीन सुगंध, मनोज्ञ उष्ण-स्निग्ध, विशुद्ध हैं। प्रथम त्रिक को अप्रशस्त और शेष त्रिक को प्रशस्त कहा जाता है।

प्रशस्त-अप्रशस्त लेश्याओं से जीव की मानसिक स्थिति तथा आचरण कैसा होता है इसका सुव्यवस्थित चित्रण उत्तराध्ययन के चौतीसवें अध्याय से स्पष्ट हो जाता है। कृष्ण आदि लेश्याओं के जैसे पुद्गल होते हैं तदनुरूप मानसिक स्थिति निर्मित हो जाती है। मानसिक स्थिति का पौद्गलिक लेश्याओं पर प्रभाव पड़ता है। और वे लेश्याएं मानसिक अवस्था को प्रभावित करती हैं। कषाय की मंदता से अध्यवसाय की शुद्धि और अध्यवसाय शुद्धि लेश्या शुद्धि का कारण है।

लेश्याओं के नामकरण का आधार वर्ण (Colour) है। हिंसा करने वाले कृष्णवर्णी परमाणुओं को आकृष्ट करते हैं क्रोधी व्यक्ति लाल रंग के परमाणुओं को। रस, गंध, स्पर्श का भी प्रभाव होता है। किन्तु वर्ण का प्रभाव विशेष है।

उत्तराध्ययन में लेश्या के सम्बन्ध में ११ प्रकार से चिन्तन किया गया है—नाम, वर्ण गंध, रस, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति एवं आयु आदि। लेश्या की शुद्धि होने पर जाति-स्मृति ज्ञान की उपलब्धि होती है। जिस लेश्या में मृत्यु होती है उसी में जन्म। जन्म-पुनर्जन्म का सम्बन्ध वर्ण के साथ है।

जैन दर्शन की तरह जैनेतर दर्शन में भी लेश्या के तुल्य वर्णन देखने को मिलता है। दीघनिकाय में छह अभिजातियों का उल्लेख है—

१. कृष्णाभिजाति—कूरकर्म जीवों का समूह।
२. नीलाभिजाति—बौद्ध श्रमण तथा क्रियावादी-कर्मवादी भिक्षुओं का समूह।
३. लोहिताभिजाति—एक शाटक निर्ग्रन्थों का समूह।
४. हरिद्राभिजाति—श्वेतवस्त्रधारी या निर्वस्त्र लोगों का वर्ग।
५. शुक्लाभिजाति—आजीवक श्रमण-श्रमणी वर्ग।
६. परम शुक्लाभिजाति—आजीवक आचार्य, सांस्कृत्य मस्करी, गोशालक प्रभृति का समूह।

तथागत बुद्ध^{५९} ने कर्म एवं जाति के आधार पर अभिजातियों का निरूपण किया है। पूरण काश्यप^{६०} ने अभिजातियों में रंगों को आधार बनाया है। प्रस्तुत वर्गीकरण में मानसिक, वाचिक एवं कायिक दुश्चरण को कृष्णकर्म एवं सुचरण को शुक्लकर्म कहा है। इस वर्गीकरण का सम्बन्ध समूह से है। जैन दर्शन की लेश्याओं का सम्बन्ध व्यक्ति से है।

महाभारत^{६१} में इस प्रकार प्राणियों के वर्ण छह प्रकार के माने हैं—

- | | |
|-----------|---------------------|
| १. कृष्ण | सबसे कम सुख |
| २. धूम्र | उनसे अधिक सुखी |
| ३. नील | मध्यम सुखी |
| ४. हरिद्र | सुखी |
| ५. रक्त | सुख-दुःख सहने योग्य |
| ६. शुक्ल | परम सुखी |

पातंजल योग दर्शन^{६२} में कर्म की चार जातियां बतलाई हैं—१. कृष्ण २. शुक्ल-कृष्ण, ३. शुक्ल, ४. अशुक्ल-अकृष्ण। ये क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध, शुद्धतर हैं। भावों के आधार पर गति का निर्माण होता है।

जैन दर्शन में वर्णित लेश्या, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, जन्मान्तर आदि से सम्बन्धित है। लेश्या स्थूल-सूक्ष्म शरीर का संपर्क सूत्र है।

लेश्या और आभामंडल

हृदय की धड़कन, नाड़ी का स्पंदन रुक जाने से और मस्तिष्क की कोशिकाएं निष्क्रिय हो जाने से प्राणी की मृत्यु हो जाती है। यह वैज्ञानिक धारणा है।

आधुनिक विचारधारा में आभामंडल क्षीण हुए बिना मृत्यु नहीं होती। जैन दर्शन के अनुसार आभामंडल का नियामक तत्त्व लेश्या है। सूक्ष्म शरीर से निकलने वाली विकिरणें रंगीन होती हैं। रंगों के आधार पर आभामंडल की गुणात्मकता एवं प्रभावकता जानी जाती है।

जगत् के सभी जीवों के पीछे विद्युत् परमाणुओं का बुनियादी प्रवाह है, किन्तु आभामंडल सबका एक समान नहीं होता। इसका कारण चिन्तन एवं स्वभाव की भिन्नता है। भाव लेश्या प्रतिक्षण बदलती रहती है वैसे ही आभामंडल रूपान्तरित हो जाता है। व्यक्ति की भावधारा के अनुरूप आभामंडल में वर्ण का स्थानान्तरण हो जाता है।

जब पौधों की मृत्यु होती है तब उनसे विद्युत् शक्ति का तेजी से प्रक्षेपण होता है। विज्ञान ने सिद्ध किया, पौधों में भी सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और तेजोमंडल रहता है। द्रव्य लेश्या के आधार पर बाहरी व्यक्तित्व एवं भाव लेश्या से आंतरिक व्यक्तित्व बनता है। गति निर्धारण का मुख्य घटक भी लेश्या है।

अध्यवसायों की प्रशस्तता एवं अप्रशस्तता से लेश्या को गति-नियामक मानने के लिये पर्याप्त प्रमाण हैं। चारों गतियों में प्रत्येक जीव सलेशी है।

गीता^{६३} में कहा—अच्छे कर्म करने वालों की इस लोक-परलोक में दुर्गति नहीं होती है। पुण्य^{६४} क्षीण होने पर स्वर्गलोक से पुनः मर्त्यलोक में आ जाते हैं। सकाम कर्म करने वालों का आवागमन बंद नहीं होता।

शुभ-अशुभ कर्म के साथ लेश्या का गहरा अनुबंध है। लेश्या संप्रत्यय अन्तःकरण की सही सूचना का मानक है। अशुभ से शुभ लेश्या की ओर

प्रस्थान आत्म-विकास का परिचायक है। लेश्या ज्यों-ज्यों शुद्ध बनती है, शुभ योगों में परिणत होती है। कषाय की मंदता होने पर कर्मगम का द्वार बंद हो जाता है। पुराने कर्मों का निर्जरण होता है। लेश्या की अशुद्धता जन्म-मरण की हेतु है। इससे पुनर्जन्म का चक्र रुकता नहीं।

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा सदा अविकारी है, उसमें विकास की कोई प्रक्रिया नहीं। वह बन्धन-मुक्ति, विकास और पतन से निरपेक्ष है। किन्तु जैन चिन्तन में व्यवहार का भी उतना ही महत्त्व है जितना परमार्थ का। समस्त आचार दर्शन ही व्यवहार नय का विषय है। आत्मा के विकास की प्रक्रियाएं भी व्यवहार नय की पटरी पर चलती हैं।

निश्चय नय से आत्मा अमर है। अविनाशी है। व्यवहार नय से कर्मयुक्त आत्मा जन्म-पुनर्जन्म करती है।

संदर्भ सूची

१. सूत्र कृतांग, १।२।६।
२. आचारांग, सू. २ पृ. १।
३. तीर्थंकर चरित्र, लेखक मुनि सुमेरमलजी (लाडनू)
४. प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन पृ. ५६।५७।
५. वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, पृ. ३३५।
६. प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन पृ. ५४।
७. श्वेताश्वतर उ. ५।१०।
८. योग भाष्य, २, १३।
९. वनपर्व १८३।७७। आयुषान्ते प्रहायेदं, क्षीण प्रायं कलेवरम्। संभवत्येव युगपद्योनौ नास्त्यन्तरा भवः।
१०. रघुवंश १४।१५।
११. दीघनिकाय २।३।
१२. सर्वार्थसिद्धि २।२५ पृ. १८३।
१३. भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ. २९१।
१४. भारतीय दर्शन (डॉ. देवराज) पृ. ४१२।
१५. पुनर्जन्म एवं क्रम विकास, पृ. ३७।
१६. विश्व धर्म दर्शन पृ. २७५। The Key of Knowledge पृ. ७१४।

१७. ज्ञाता, १।१४।७२।
१८. ज्ञाता, १।१।१५६। १६३।१९०।
१९. वही, १।१।१८६।
२०. वही, १।१३।३२।४३।
२१. वही, १।८।१०।
२२. वही, १।१६।३१।३२।१२३।
२३. ज्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र २१।२४ उ. ८ सू. १८।
२४. वही, सू. १९।२०।२१।
२५. (क) ऋग्वेद १०।५७।५।, १।१६४।, ३०।३१।३२।३७।
(ख) यजुर्वेद ३६।३९।
२६. (क) कठोपनिषद् १।२।६।,
(ख) मुण्डकोपनिषद् १।२।९-१०।
(ग) बृह. उ. ६।२।८।, ४।४।३-४।
२७. मनुस्मृति १२।४०।, १२।५४९।
२८. गीता, ८।१५-१६। ४।५।
२९. द्रव्य संग्रह टीका, गा. ४२।
३०. हीरेन्द्रनाथ दत्त, कर्मवाद और जन्मान्तर पृ. १९६।९९।
३१. परमात्म प्रकाश १।७१।
३२. न्याय दर्शन ४।१।१०।
३३. परीक्षामुख, ३।५।
३४. भगवती, श. १५ पृ. २३८८। २३९८
३५. Doctrine of the Jaines पृ. १४१।
३६. वही, पृ. १४१।
३७. वही, पृ. १४१।
३८. वही, पृ. १४१।
३९. न्याय दर्शन २।४।१।
४०. आचारांग अ. उ. सू. २।३।
४१. विज्ञान एवं अध्यात्म पृ. ३२।३३।
४२. षड्दर्शन समुच्चय टीका, इक शवनवती कल्पे शक्त्या मे पुरुषोत्तमः। तेन कर्म विपाकेन पादोविद्धोऽस्मि भिक्षवः।

४३. दर्शन संग्रह (उत्तर मीमांसा) पृ. २२९।
४४. भगवती २।१।९०।
४५. समवायाग, समवाय १७ सूत्र ९।
४६. भगवती, २।१।९०।
४७. समवायांग, समवाय, १७।
४८. भगवती २।१।९०।
४९. उत्तराध्ययन अ. ५-२ पृ. १९६।
५०. Life after life १०।११।
५१. सर्वार्थ सिद्धि २।६।
५२. लेश्याकोश पृ. २६।
५३. अभिधान राजेन्द्र खंड ६ पृ. ६७४।
५४. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ. ९६७
५५. भगवती श. १४।९।
५६. सर्वार्थ सिद्धि २।६।१५९।११।
५७. गोम्मट सार ५६०।९३१।
५८. उत्तराध्ययन अ. ३४।१-३।
५९. लेश्याकोश पृ. २५६।
६०. लेश्याकोश पृ. २५६।
६१. महाभारत (शांति पर्व) पृ. २८८।३३।
६२. योग दर्शन पाद सूत्र ७।
६३. गीता, ६।४०।
६४. गीता, ९।२१।

षष्ठम अध्याय

विकासवाद : एक आरोहण

- काल विभाग के परिप्रेक्ष्य में जैविक विकास
- जैन दर्शन में जीव की विकास यात्रा
- जैविक विकास
- भारतीय परम्परा में मन
- पाश्चात्य चिन्तन में मन की अवधारणा
- नैतिक विकास
- भारतीय दर्शन में नैतिक मान्यताएं
- आध्यात्मिक विकास क्रम
- चेतना के विकास की विभिन्न अवस्थाएं
- मोहनीय कर्म, उसका परिणाम
- अन्य परम्पराओं में आध्यात्मिक विकास

विकासवाद : एक आरोहण

विकासवाद एक दर्शन है। इसका पर्यायवाची शब्द है इवोल्युशन (Theory of Evolution)। विकास का युग है। सर्वत्र विकास की गूँज सुनाई दे रही है। समाज में, तकनीकी में, अनुसंधान के क्षेत्र में। रीति-रिवाजों में, पृथ्वी की सतह, सौरमंडल में। इस विकास या परिवर्तन के पीछे कौनसी शक्ति काम कर रही है? परिवर्तन कैसे होता है? इनके समाधान में गहरा चिंतन ही आधुनिक विकासवाद की आधारशिला है।

परिवर्तन मानव और प्रकृति की स्वाभाविक प्रक्रिया है। विचार, वस्तु और विधान कभी एक जैसे नहीं रहते। आरोहण-अवरोहण, उत्थान-पतन का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। परिवर्तन की गाड़ी उत्पाद और व्यय के पहियों पर गतिशील है। परमाणु में इलेक्ट्रॉन एवं प्रोटॉन अपनी धुरी पर निरंतर घूम रहे हैं।

पदार्थ मात्र परिवर्तनधर्मा है। ब्रह्माण्ड एक अनवरत प्रवाह है। जिसमें घटनाओं की अंतहीन शृंखला है। परिवर्तन विश्व-व्यवस्था का एक अंग है। सर्वत्र संक्रमण, परिवर्तन एवं विभेदीकरण ही दिखाई देता है। परिवर्तन विश्व-व्यवस्था का एक अंग है, अन्यथा व्यवस्था घटित नहीं हो सकती। समस्त परिवर्तनों, परिणमनों, क्रियाओं और घटनाओं का सहकारी कारण है—काल।

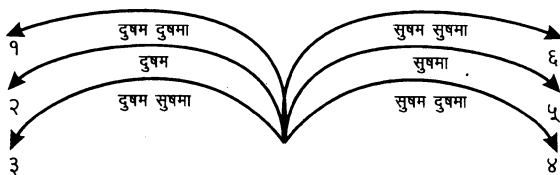
काल के निमित्त से पदार्थ में प्रतिक्षण नव-निर्माण एवं ध्वंस होता रहता है। आधुनिक विज्ञान भी काल के सम्बन्ध में इन तथ्यों से सहमत है।

काल विभाग परिप्रेक्ष्य में जैविक विकास

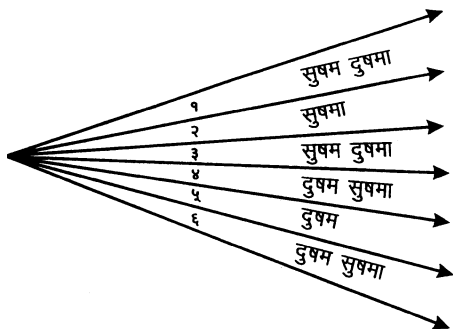
काल की अपेक्षा से जब वैश्विक पर्यावरण में सामूहिक परिवर्तन होता है तो इस कालगत परिवर्तन को जैन दर्शन में क्रम हासवाद या क्रम विकासवाद के नाम से पहचाना जाता है। प्राकृतिक सार्वभौम परिवर्तन जंबुद्वीप के अन्तर्गत भरत क्षेत्र एवं ऐरावत क्षेत्र में अनवरत गतिमान है। क्रमिक विकास को उत्सर्पण और हास को अवसर्पण कहते हैं।

उत्सर्पण और अवसर्पण दोनों का संयुक्त २० कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण वर्षों का एक कालचक्र होता है। इसके कुल १२ पर्व होते हैं। अवसर्पण के

६ और उत्सर्पण के ६ पर्व हैं। जैसे घड़ी होती है। उसके १२ अंक हैं। कांटा १ से ६ तक नीचे उतरता है। ६ से बारह तक वापस ऊपर जाता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी प्रकार उत्सर्पण के ६ पर्व क्रमशः—

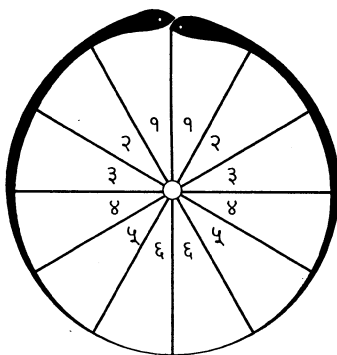


अवसर्पण के ६ पर्व क्रमशः—



उत्सर्पण अर्थात् सांप की पूंछ से मुंह की तरफ आगे बढ़ते हैं। अवसर्पण में मुंह से पूंछ की ओर उतरते हैं इसे Descending era कहते हैं।

काल चक्र



काल चक्र का कालमान :

उत्सर्पण	अवसर्पण
१. २१००० वर्ष	१. ४ कोड़ा-कोड़ी सागर
२. २१००० वर्ष	२. ३ कोड़ा-कोड़ी सागर
३. ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर	३. २ कोड़ा-कोड़ी सागर
४. दो कोड़ा-कोड़ी सागर	४. ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर
५. ३ कोड़ा-कोड़ी सागर	५. २१००० वर्ष
६. ४ कोड़ा-कोड़ी सागर	६. २१००० वर्ष

क्रोड को क्रोड से गुणाकार करने पर कोड़ा-कोड़ी कहा जाता है।

जैन आगमकारों ने द्रव्य की शक्ति, सृष्टि-परिवर्तन का क्रम और कालमान काल (Time) आकाश (Space) आदि के सम्बन्ध में अपने अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा निरपेक्ष सत्य (Obsolute Truth) प्रस्तुत किया।

विज्ञान की विभिन्न शाखाओं ने भी अनुसंधान के आधार पर भिन्न-भिन्न मन्तव्यों को अभिव्यक्ति दी। उनमें सर्वमान्य थ्योरी बिग बेन्ग (Big Bang Theory) है।

मि. कार्ल सेग द्वारा निर्मित 'कॉस्मिक कलेन्डर' जो ई. स. १९७९ में प्रकाशित हुआ। कार्ल सेग ने सबसे बड़े धड़ाके से प्रलय काल तक १२ मास अर्थात् ३६५ दिनों का विभाग किया है। उसका विवरण इस प्रकार है।

बड़ा विस्फोट	१ जनवरी
आकाश गंगा का उद्भव	१ मई
सूर्य का उद्भव	९ सितम्बर
पृथ्वी की उत्पत्ति	१४ सितम्बर
पृथ्वी पर जीवन की शुरुआत	२५ सितम्बर
सूक्ष्म जीवों के लिंग की शुरुआत	१ नवम्बर
जीव कोषोद्भव	१५ नवम्बर
पृथ्वी पर 'प्राणवायु' मय वातावरण	१ दिसम्बर

जंतुओं की उत्पत्ति	१६ दिसम्बर
मछलियों का जन्म	१९ दिसम्बर
पक्षियों का जन्म	२७ दिसम्बर
मनुष्य की उत्पत्ति	३१ दिसम्बर

चार्ल्स डार्विन द्वारा लिखित 'ओरिजिन ऑफ स्पेसीस' में दिये चार्ट के अनुसार कॉस्मोलोजिकल निम्न प्रकार है।

धरती में विस्फोट	करीब ५ अरब वर्ष पूर्व
जीवन की शुरुआत और बेक्टीरिया की उत्पत्ति	करीब ३.५ अरब वर्ष पूर्व
ऑक्सीजन का निर्माण	करीब १.७ अरब वर्ष पूर्व।
बहुकोशीय प्राणी आदि का सृजन	७० करोड़ वर्ष पूर्व
जंतुओं की उत्पत्ति	३८ करोड़ वर्ष पूर्व
सस्तन प्राणियों (Mammals) की उत्पत्ति	करीब २१ करोड़ वर्ष पूर्व।
डाइनोसोर का प्रभुत्व	करीब १३ करोड़ वर्ष पूर्व।
आदि मानव की उत्पत्ति	करीब १ करोड़ वर्ष पूर्व।

उपर जो कालमान का वर्णन है। जैनागम के अनुसार अवसर्पिणी काल जैसा ही है। प्रथम आरे का नाम सुषम-सुषमा और उसका कालमान चार कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण है। अर्थात् ४.०×१०^{१४} सागरोपम और एक सागरोपम अर्थात् दस कोड़ा-कोड़ी पल्योपम अथवा $१०^{१५}$ पल्योपम।

संक्षिप्त में प्रथम सुषम-सुषमा आरा का कालमान ४.०×१०^{२९} पल्योपम जितने वर्ष होते हैं। एक पल्योपम में जितने वर्ष होते हैं उन्हें आंकड़ों में व्याख्यायित करना असंभव है इसलिये शास्त्रकारों ने असंख्यात वर्ष कह कर समझाया है।

दूसरे आरे का नाम सुषम है उसके वर्षों की संख्या ३.०×१०^{२९} है। तीसरे का सुषम-दुषम है उसकी वर्ष संख्या २×१०^{२९} पल्योपम है।

चौथा दुषम-सुषमा का कालमान ४२ हजार वर्ष कम १×१०^{२९} पल्योपम वर्ष। दुषम नामक पांचवें आरे की स्थिति २१,००० वर्ष, छठे की भी २१,००० हजार वर्ष है।

इसके विपरीत उत्सर्पिणी का समय है। दोनों को मिलाकर २.०×१०^{३०} पल्योपम जितना काल आता है।

जैनेतर ग्रन्थ मनुस्मृति और उसके टीकाकारों ने जीवन काल को सतयुग त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग ऐसे चार भागों में विभक्त किया है तथा उनका कालमान भी निर्धारित है।

आधुनिक विज्ञान की उत्पत्ति, विकास और विनाश, पांचवें आरे की समाप्ति और छठे आरे की शुरुआत, वातावरण प्रदूषित, सूर्य से अल्ट्रावायोलेट किरणों का सीधा धरती पर आना, मनुष्य तथा प्राणियों का भूगर्भ में रहना, वनस्पति का नाश होना, जीवन की अत्यंत विकट परिस्थिति।

डार्विन के उत्क्रांतिकाल का आदि बिन्दु और जैन कालचक्र के अवसर्पिणी विभाग का आदि बिन्दु प्रथम आरा की शुरुआत। पृथ्वी का प्रथम आरा निर्माणकाल, दूसरा आरा जीवन की उत्पत्ति, तीसरा आरा वातावरण में ऑक्सीजन का निर्माण, चौथे आरे का उद्भव।

कॉस्मिक कलेन्डर में एक ही विभाग है। उसे उत्क्रांति काल कहा है। मानव समाज की बौद्धिक, भौतिक, वैज्ञानिक परिस्थिति के आधार पर उत्क्रांति काल नाम दिया है। जैन कालचक्र के दो विभाग हैं—उत्सर्पण-अवसर्पण। वर्तमान कालखंड अवसर्पण का एक भाग है। अवसर्पिणी (Hypo-Serpentine Ere) में जैविक परिवर्तन ही नहीं होता अपितु भौतिक पदार्थों में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संस्थान, सुख आदि का क्रमशः हास होता है।

महापुराण^१ में जब बाहुबल, वैभव, मनुष्य, शरीर, धर्मज्ञान, गांभीर्य, धैर्य बढ़ते हैं वह समय उत्सर्पण काल कहलाता है। काल परिवर्तन से विकास क्रम में भी कहां तक परिवर्तन एवं कितने स्तर तक होता है। आगम साहित्य, पुराण साहित्य, कुछ टीकाओं में भी उपलब्ध है।

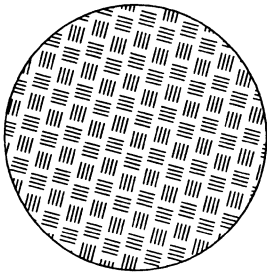
आइंस्टीन के चक्रीय विश्व सिद्धांत की चर्चा में विश्व को निर्माण और ध्वंस के अनन्त चक्रों में से गुजरना होता है। चक्रीय विश्व-सिद्धांत और उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के सिद्धांत में अधिकतम सामंजस्य रहता है।

जीवों का क्रमिक विकास—

जैन दर्शन में जीवों की प्राथमिक अवस्था 'अव्यवहार राशि' है। जिसे जीवों का अक्षय कोष कहा जाता है। वृहत्संग्रहणी में कहा है—

गोला य असंखिज्जा, अस्संख निगोअओ हवइ गोलो॥

एक्केकम्मि निगोए, अणंत जीवा मुणेयव्वा॥३०१॥



अर्थात् संपूर्ण लोक में असंख्य गोले हैं। असंख्य-असंख्य गोलों का एक समवाय निगोद कहलाता है। एक-एक गोले में अनन्त-अनन्त जीवों का अस्तित्व है। इसे अनादि निगोद भी कहते हैं।^२ इस राशि में कोई विभाग नहीं। छोटे-बड़े का व्यवहार नहीं इसलिये इसे अव्यवहार राशि कहा जाता है।

दिगम्बर परम्परा में नित्य निगोद शब्द का प्रयोग करते हैं। अव्यवहार राशि ऐसा महासागर है। जिसका कहीं छोर नजर नहीं आता। अव्यवहार राशि से निकला हुआ जीव विभाग के क्षेत्र में आ जाने से व्यवहार राशि जीव कहा जाता है।

अव्यवहार राशि जीवों में चेतना की एक किरण मात्र ही अनावृत होती है, उनके पास चिंतन, भाषा, कल्पना, स्मृति का कोई साधन नहीं। मात्र स्पर्श बोध अवश्य है। सहअस्तित्व का एक उदाहरण है। उन जीवों की श्वास-निःश्वास, जन्म-मरण आदि सभी क्रियाएं एक साथ और समान रूप से होती हैं।

एक जीव मरता है तो साथ रहने वाले अनन्त जीवों का भी मरण हो जाता है। उत्पत्ति भी साथ होती है। एक निगोद शरीर में अनन्त जीवों का परिणमन कैसे होता है ? यह प्रश्न सहज हो सकता है। इसका समाधान एक उदाहरण से दिया जा सकता है। जैसे-अग्नि में प्रतप्त लोहे का गोला सम्पूर्ण अग्निमय बन जाता है। वैसे ही एक शरीर में अनन्त जीवों का परिणमन संभव है। निगोद के जीव सूक्ष्म और बादर दो प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म संपूर्ण लोक में व्याप्त है। बादर निगोद के जीव भी इतने सूक्ष्म हैं कि चर्म चक्षुओं से देखे नहीं जाते। इन जीवों की अवगाहना धनांगुल के असंख्यातवें भाग या उससे भी सूक्ष्म होती है।^३

आवागमन का प्रवाह इनमें निरंतर चलता रहता है। एक मुहूर्त में ६५५३६ बार जन्म-मरण कर लेते हैं। यह पता लगाना कठिन है कि कब पुराने जीवों का च्यवन होता है और कब नये जीवों की उत्पत्ति। इनका आकार आयत, चतुस्र और गोल होता है।

आधुनिक विज्ञान ने भी सूक्ष्म जीवों को स्वीकृत किया है। उनके तीन प्रकार हैं—१. जीवाणु (Bacteria), २. विषाणु (Virus), ३. माइकोप्लाज्मा

(Mico Plasma)। जीवाणु एककोशीय सूक्ष्म जीव है। गोलाकार, दण्डाकार या स्पायरल ऐसे भिन्न-भिन्न आकार हैं। विषम और प्रतिकूल स्थितियों में भी ये जीवित रह सकते हैं।

सामान्यतः ये एक साथ और एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। जीवाणुओं का आकार ०,१ से ५ माइक्रोन तक होता है। एक माइक्रोन का माप एक मिलीमीटर के हजारवें हिस्से के बराबर है। गोलाकार जीवाणु का व्यास ०,१-५ माइक्रोन तथा दण्डाकार जीवाणु की लम्बाई ०,५-१० माइक्रोन तक हो सकती है।

ये जीवाणु अत्यन्त निम्नताप (१९० डिग्री सेल्सियम) उच्चताप (७८-८५° सेल्सियम) को भी सह लेते हैं। इनमें श्वसन क्रिया होती है। कार्बन-डाई-आक्साइड से जीवाणु अपना भोजन-जल स्वयं बना लेते हैं।

विषाणु—बैक्टीरिया से आकार में छोटे होते हैं। इनकी अपनी कोशिका नहीं होती इसलिये किसी अन्य कोशिका में प्रवेश कर प्रजनन करते हैं। स्वतंत्र रूप से ये विषाणु अक्रिय रहते हैं क्योंकि इनका अपना कोई चयापचय तंत्र भी नहीं है।

जब ये अपना न्युक्लिक अम्ल परिपोषी कोशिका में अन्तःक्षेपण करते हैं तो क्रियाशील होकर उस कोशिका की चयापचय क्रिया पर नियंत्रण कर लेते हैं। विषाणु सुई या डंडे के आकार के, आयताकार, गोलाकार, बहुभुजीय, चतुष्कोण के समान होते हैं। वायरस का आकार अंग्स्ट्राम (A^0) इकाई से मापा जाता है। एक अंग्स्ट्राम १।१००० माइक्रोन के बराबर होता है। किसी भी परिपोषी कोशिका में अप्रत्यक्ष रूप से विषाणु लम्बे समय तक रह सकते हैं।

माइकोप्लाज्मा—माइकोप्लाज्मा का शरीर अतिसूक्ष्म और इनकी कोशिका की लम्बाई जीवाणु कोशिका के दसवें भाग के बराबर तथा व्यास ०,५ माइक्रोन से भी कम है। आज तक की वैज्ञानिक खोज में ये सबसे छोटे आकार के, अति संरचना वाले हैं जो अनुकूल वातावरण में स्वतंत्र रूप से जीवित रह सकते हैं।

सूक्ष्म जीवों के बारे में उपरोक्त वैज्ञानिक अवधारणा को देखते हैं, तो निगोदीय जीवों के सम्बन्ध में होने वाली आशंकाएं निरस्त हो जाती हैं। लगता है, विज्ञान जैन सिद्धांतों के निकट पहुंच रहा है।

निगोद और वैज्ञानिक सूक्ष्म जीवों की तुलना करें तो काफी तथ्यों में समानताएं दिखाई दे रही हैं। जैसे—

१. निगोद के जीव एक श्वासोच्छ्वास में १७ बार जन्म-मरण करते हैं। यानी इतनी तीव्र गति से जन्म और वृद्धि होती है। नया-पुराना जीव कौनसा, पता ही नहीं चलता। आधुनिक बैक्टीरिया एवं वायरस भी ऐसे ही पैदा होते हैं।
२. निगोद के जीव समुच्छिन्न हैं। विज्ञान के अनुसार बैक्टीरिया आदि भी अलैंगिक प्रजनन करते हैं।
३. निगोद के जीव अनन्त हैं, आधुनिक सूक्ष्म जीव भी अनन्त हैं।
४. निगोद के जीवों की तरह सूक्ष्म जीवों का भी आकार है।
५. निगोद के जीव एकेन्द्रिय हैं, सूक्ष्म जीव भी एकेन्द्रिय होने का संकेत है।

निगोद के जीवों के जन्म-मरण का काल अत्यल्प है। वैसा सूक्ष्म जीवों के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता कि एक मुहूर्त में कितने जन्म-मरण करते हैं।

प्रश्न है, इन जीवों के विकास की प्रक्रिया क्या है? कैसे होता है? समाधान की भाषा में, अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में प्रवेश ही विकास का प्रथम चरण है। यह काललब्धि सापेक्ष है।

विकास की जितनी भी दिशाएं उद्घाटित होती हैं उनमें काल, नियति, स्वभाव, पुरुषार्थ एवं कर्म-पांचों का समन्वित अनुदान है। विकास में काललब्धि को प्रमुखता दें तो परिवर्तन में भी काल से नियंत्रित व्यवस्था है। पूरी सृष्टि इस वैश्विक नियम (Universal Law) से संचालित है।

जड़-चेतन की प्रत्येक अवस्था विकास है। खगोल, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, मानसशास्त्र, समाजशास्त्र, ब्रह्माण्डीय अनुसंधान आदि समस्त ज्ञान-विज्ञान की व्याख्या से विकासवाद का दायरा विस्तार पाता गया। आज विकासवाद की अवधारणा मुख्यतः लैमार्क, डार्विन, ऐरेस्मस, वफन के अध्ययन एवं अनुसंधान पर टिकी है।

चार्ल्स डार्विन ने जैविक विकास की स्थापना कर पाश्चात्य चिंतन के क्षेत्र में एक हलचल खड़ी कर दी। यह सिद्धांत लोकप्रिय बना, कारण नवीनता लिए हुआ था।

विकासवाद का उद्भव प्राचीन ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रेट्स, एरिस्टोटल आदि से माना जाता है। डेमोक्रेट्स के अभिमत से विश्व का विकास जड़ तत्त्व

यानी परमाणुओं से हुआ है। परमाणुओं का विभिन्न सांयोगिक सहयोग विकास का आधार है।

अरस्तु ने जीवों के इतिहास, जीवों के प्रजनन तथा वर्गीकरण और जीवन सारणी को अपनी लेखनी का विषय बनाया। उसने अपने साहित्य से सिद्ध किया कि विकास आकस्मिक या किसी देवता का वरदान नहीं, किन्तु परिवर्तन पदार्थ की आंतरिक तथा नैसर्गिक प्रक्रिया है।

जैन दर्शन में जीव की विकास यात्रा

जैन दर्शन परिणामी नित्यवादी है। पदार्थ में परिवर्तन अवश्यंभावी है उसमें उपादान और निमित्त दोनों योगभूत हैं। उपादान कारण स्वयं द्रव्य है। काल सहायक कारण है। पदार्थ को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य मानने से हास-विकास की संगति नहीं बैठती। परिणामी नित्यवाद में हास-विकास की प्रक्रिया का समीकरण है। जीव-विकास के चार स्तंभ हैं। चारों का समन्वित रूप ही संपूर्ण विकास की व्याख्या है—

- | | |
|----------------|---------------------|
| १. जैविक विकास | २. मानसिक विकास |
| ३. नैतिक विकास | ४. आध्यात्मिक विकास |

परिवर्तन और विकास सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। जैविक विकास का स्वरूप और उसके यथार्थ चिंतन में जैन दर्शन की वैज्ञानिक पद्धति है। परिवर्तनशीलता में कुछ पदार्थ प्रकृतिजन्य हैं जिनका परिवर्तन नहीं होता। वे शाश्वत रूप हैं। ठाणांग सूत्र में उनका नामनिर्देश है—

१. जीव का अजीव में, अजीव का जीव में रूपान्तरण नहीं होता।
२. परमाणु का विभाजन नहीं होता, वह अविभाज्य है।
३. लोकांत के आगे गमन नहीं होता।
४. सत् का सर्वथा विनाश और असत् का सर्वथा उत्पाद नहीं होता।
५. पदार्थ मात्र परिणमनशील है।

जैविक विकास

जैव विकास की अवधारणा जैन दर्शन में जातिमूलक न होकर व्यक्ति मूलक है। प्राणी मात्र अपनी आंतरिक योग्यता या निमित्तभूत सहायक साधनों के सहयोग से विकास या हास की ओर आगे बढ़ता है। क्रमिक विकासवाद जैन दर्शन को मान्य नहीं।

डारविन की विचारधारा इससे भिन्न है। उसने शारीरिक परिवर्तन के आधार पर क्रम विकासवाद को प्रतिष्ठित किया। शरीर परिवर्तन के साथ वर्ण, संहनन, संस्थान भेद तथा लम्बाई-चौड़ाई, सूक्ष्म-स्थूल आदि होते हैं। उनमें देश, काल एवं परिस्थिति भी निमित्तभूत है।

उत्पत्ति स्थान एवं कुल-कोटि की भिन्नता से जो विविधता है उसे विकासवादियों ने जाति की संज्ञा से अभिहित किया है।

जैन दर्शन की मान्यता है—जीव जिस जाति में जन्म लेता है उस जाति में प्राप्त गुणों का विकास कर सकता है। जाति के विभाजक नियमों का अतिक्रमण नहीं होता। जैसे एकेन्द्रिय में ४ पर्याप्ति और ४ प्राण होते हैं। तीन अज्ञान हैं।

दो इन्द्रिय वाले जीवों में पर्याप्ति ५, प्राण ६ और उपयोग ५ हो जाते हैं। इन्हें बदला नहीं जा सकता, एकेन्द्रिय का द्वीन्द्रिय में, और द्वीन्द्रिय का एकेन्द्रिय में। एक दृष्टि से ये शाश्वत गुणांकन क्रायटेरिया (Criteria) है।

इस आधार पर योनिभेद से शारीरिक भिन्नता हो सकती है। किन्तु जातिगत भिन्नता नहीं। इन्द्रियों के विकास के साथ उत्तरोत्तर प्राण, पर्याप्ति, वेद, लिंग आदि का विकास होता है।

जीव-विकास का सिद्धांत^४

प्राणी जगत् में विभिन्न जातियां हैं। विकासवाद के अनुसार सृष्टि के आदि में मनुष्य जाति नहीं थी। प्रश्न होता है, मनुष्य का विकास कैसे हुआ? डारविन और लैमार्क इसका समाधान तीन नियमों से करते हैं।

१. अस्तित्व संघर्ष (Struggle for existence)
२. आकस्मिक भेद (The Principle of chance variation)
३. वंश-सिद्धांत (The Principle of Heredity)

अस्तित्व संघर्ष—अपना अस्तित्व टिकाने के लिये जो संघर्ष होता है उसमें शक्तिशाली प्राणी विजयी और शक्तिहीन पिछड़ जाते हैं। डारविन के अभिमत से अस्तित्व का संघर्ष प्रारंभ से शुरू हो जाता है। जीवन के संघर्ष में वही प्राणी जीवित और बचा रहता है जो क्षमता की दृष्टि से सबसे श्रेष्ठ होता है। जो ज्यादा शक्तिशाली और बुद्धिमान है वह दुर्बल को नष्ट कर देता है तथा स्वयं जीवित रहता है। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निरस्तित्व कर देती है।

आकस्मिक भेद—जिसमें प्राण सत्ता है ऐसे जीवों में भेद (Variation) आकस्मिक होते हैं।

वंश-सिद्धांत—अस्तित्व-संघर्ष के लिये जो मदद मिलती है वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी संक्रांत होती जाती है।

जैविक विकास क्रम में डार्विन का आकस्मिक परिवर्तन एवं प्राकृतिक चुनाव लैमार्क का प्रयोजनमूलक परिवर्तन की कल्पना, वाइजमेन^१ का जन्तुवीय परिवर्तन का संक्रमण सिद्धांत प्रस्थापित हुआ।

जैविक विकास की परम्परा में अनेक सिद्धांत प्रतिपादित हुए। इसी संदर्भ में मनोविश्लेषण, आनुवंशिकी जैसी स्वस्थ चिंतन धारा का विकास हुआ। जैविक विकास क्रम में जीव वैज्ञानिकों ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने, जीव कोशिका से, कोशिका नाभि, नाभि से डी. एन. ए. (डाई आक्सो-रिवोन्युक्लिक् एसिड) से वंश सूत्र, वंश सूत्रों से जीन्स की यात्रा संपन्न की।

विकासवाद के प्रमाण विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में स्पष्ट है। जीव की देह-रचना तरल पदार्थ से प्रारंभ होकर तरल ठोस बनता है, अस्थि, मज्जा आदि अंगों एवं इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। यह विकास का ही क्रम है।

भूगर्भशास्त्रियों के अभिमत से पृथ्वी का विकास भी अनेक अवस्थाओं से गुजरने के बाद हुआ है। रसायनशास्त्री के अनुसार सूक्ष्म-परमाणुओं के क्षेत्र में विकासजन्य परिवर्तन होता है। इस प्रकार विकासवाद के प्रमाणभूत विधानों से निश्चित है कि जीव और जगत के सभी क्षेत्रों में विकास का साम्राज्य है।

मानसिक विकास—जिस जीव के मन होता है, वहीं मानसिक विकास संभव है। विकास यात्रा का सर्वोच्च पड़ाव है पंचेन्द्रिय जाति। पंचेन्द्रिय के भी दो विभाग हैं—असंज्ञी पंचेन्द्रिय^२, संज्ञी पंचेन्द्रिय। असंज्ञी जीवों के मन नहीं होता इसलिये शिक्षा-उपदेश ग्रहण की क्षमता उनमें नहीं होती। उनकी चेतना इतनी प्रबुद्ध नहीं है।

संज्ञी में नैरयिक, देव, गर्भज मनुष्य-तिर्यञ्च सभी समाविष्ट हैं, किन्तु मानसिक विकास इनमें भी एक जैसा नहीं रहता। काफी न्यूनाधिकता रहती है। विकासोन्मुख संज्ञी जीवों में मस्तिष्क एवं मन की उपलब्धि है। पर मन का विशिष्ट विकास मनुष्य में ही पाया जाता है। अमनस्क का समनस्कता की ओर प्रस्थान क्रांतिकारी परिवर्तन है। चेतना के विकास में मन का प्रथम स्थान है। इसके आधार पर चेतना का ऊर्ध्वरोहण संभावित है। मन एक आभ्यन्तर इन्द्रिय है। इसे नो इन्द्रिय भी कहते हैं। इन्द्रिय सदृश होने पर इन्द्रिय नहीं है।

मन के लिये आगमों में दो शब्द प्रमुख हैं—नो इन्द्रिय^१ एवं अनिन्द्रिय। इन्द्रियों के विषय नियत हैं। वे वर्तमान ग्राही हैं तथा मूर्त द्रव्य के वर्तमान पर्याय को ही जानती है किन्तु मन त्रैकालिक^२ रूप को जानता है।

भारतीय परम्परा में मन

वैशेषिक (वै.सू. ७/१/२३) नैयायिक (न्या.सू. ३/२/६१) पूर्व मीमांसक (प्रकरण प.पृ. १५१) मन को परमाणु रूप तथा नित्य कारणरहित स्वीकार करते हैं।

सांख्य-योग तथा वेदान्त उसकी उत्पत्ति प्राकृतिक अहंकार^३ तत्त्व से या अविद्या से मानते हैं।

भारतीय साहित्य^४ में सबसे प्राचीन हैं वेद। वेदों में मन को शरीर के बाह्य अंगों से अलग स्थान दिया गया है।

आयुर्वेद^५ में अन्य द्रव्यों के समान मन को भी महाभूतोत्पन्न माना है। मन को अणुरूप तथा ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का प्रवर्तक कहा है।

गीता के अनुसार संपूर्ण नैतिक दर्शन मनोविज्ञान के धरातल पर अवस्थित है।

महर्षि अरविंद ने मानसिक चेतना के ऊर्ध्व रूप को अतिमानस की संज्ञा जो मानसिक आरोहण का महत्त्वपूर्ण कदम है।

योग वशिष्ठ में आत्मा की संकल्प शक्ति का नाम मन है। जैन और बौद्ध परम्परा में मन न तो अणु है, न व्यापक बल्कि मध्यम परिमाण वाला है।

मन का कार्य है— चिंतन करना। चिंतन त्रिकालवर्ती है। इन्द्रियों की गति सिर्फ पदार्थ तक है। मन की गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक है। ईहा, अवाय, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान आदि मानसिक चिंतन के विविध पहलू हैं।

भारतीय मनोविज्ञान में मन, अंतःकरण, बुद्धि, चित्त, कर्म आदि के पारस्परिक सम्बन्धों के अतिरिक्त उनकी विश्लेषणात्मक चर्चा मिलती है। ज्ञान, भावना, इच्छा और मानसिक व्यापार का साधन मन ही है।

पाश्चात्य चिंतन में मन की अवधारणा

पाश्चात्य चिंतन परम्परा में मन के विषय में विशेष रूप से तार्किक और

बौद्धिक स्तर पर चिंतन हुआ है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार मन कोई विशेष अंग या इन्द्रिय नहीं किन्तु वृत्तियों, ज्ञान एवं निर्णयों आदि के समूह का नाम है। मनस एक क्रिया है।^{१२}

भौतिकवादी मन की कोई स्वतंत्र सत्ता मान्य नहीं करते। उनके अभिमत से मानव-देह की रचना ही ऐसी है कि उद्दीपक (Stimulus) के उपस्थित होने पर अनुक्रिया (Response) अपने आप हो जाती है। उद्दीपन क्रिया तथा अनुक्रिया का संचालन तंत्रिका तंत्र (Nervous system) से होता है। बाहरी ज्ञान को भीतर मस्तिष्क तक ले जाने वाली संवेदन तंत्रिकाएं (Sensory Nerves) कहलाती हैं।

वापस संदेश ले आने वाली तंत्रिकाएं प्रेरक तंत्रिकाएं (Motor Nerves) हैं। ये सारी क्रियाएं मस्तिष्क से सम्बन्धित हैं, मन से नहीं। मन भी भौतिक है।

भौतिकवादी लोगों के विचार से जो-कुछ घटित होता है वह पहले शरीर में। मन उसका अनुभव करता है। मन सिर्फ शरीर में क्रिया-कलाप की नोट लेता है। उसका संचालन नहीं करता। अतः भौतिकवादी भी मन के स्वरूप का स्वस्थ चिंतन दे नहीं सके। यदि तंत्रिका तंत्र द्वारा शरीर की संचालन क्रिया मान लें तो भी समस्या का समाधान नहीं मिल सकता। मस्तिष्क की क्रिया केवल यातायात की क्रिया है। संदेश आता है। वापस आदेश प्रसारित कर दिया जाता है किन्तु मस्तिष्क में चुनाव (Choice) की क्षमता नहीं है।

अध्यात्मवादी मन को अभौतिक तत्त्व मानते हैं जो शरीर के कार्यालय में बैठकर उसकी गतिविधि का नियंत्रण करता है। मन दो प्रकार का है—द्रव्य मन, भाव मन। द्रव्य मन, अंगोपांग नामकर्म के उदय का परिणाम है। भावमन वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है। भावमन^{१३} ज्ञान रूप है। मानसिक क्रियाएं इसी में घटित होती हैं। भावमन^{१४} का अस्तित्व प्राणी मात्र है किन्तु द्रव्यमन के अभाव में वह ज्ञात नहीं होता। द्रव्यमन अजीव है। भावमन जीव है। द्रव्यमन पौद्गलिक होने से शरीरव्यापी है। इन्द्रिय ज्ञान के साथ मन का साहचर्य है। यह भी शरीरव्यापीत्व का प्रमाण है। क्योंकि स्पर्श इन्द्रिय शरीरव्यापी है। उसे अपने ज्ञान में मन का सहयोग लेना पड़ता है।

योग परम्परा में इसका संवादी प्रमाण है—यत्र पवनस्तत्र मनः। जहां पवन है, वहां मन है। पवन पूरे शरीर में है, मन भी शरीरव्यापी है।

पंचाध्यायी^{१५} में द्रव्यमन का स्थान हृदय कमल में घनांगुल के असंख्यात भाग प्रमाण मात्र है। द्रव्यमन, भावमन का सहयोगी है। जैविक विकास या विकास क्रम में मानसिक विकास यात्रा सबसे विकसित इकाई है। मन और मस्तिष्क दोनों ही शक्तियां मानव में निहित हैं। जीवात्मा इनके द्वारा वस्तुनिष्ठ जगत् से आत्मनिष्ठ जगत् में प्रवेश पा सकता है।

नैतिक विकास

नैतिक विकास का प्रारंभ विवेक-क्षमता पर निर्भर है। विवेक क्षमता (Rational mind) नैतिक प्रगति की पहली शर्त है। ब्रेडले ने भी कहा—प्रत्येक कर्म के अनेक पक्ष होते हैं। अनेक दृष्टिकोण हैं। इसलिये एकान्त रूप से किसी को नैतिक अथवा अनैतिक कहा नहीं जाता। विश्व में ऐसा कोई कार्य नहीं जिसे किसी एक धारणा से शुभ या अशुभ ठहराया जा सके। अतः नैतिक विकास के लिये शुभाशुभ विवेक आवश्यक है। नैतिक गुणों से व्यक्तित्व का विकास संभव है।

विकासवादी मान्यता में जैविक, बौद्धिक, मानसिक विकास क्रम के साथ जीव के नैतिक विकास का स्तर भी महत्वपूर्ण है। अस्तित्व बोध के आधार पर ही नैतिक चेतना का विकास संभव है। मनुष्य अपनी अंतःप्रज्ञा से हेयोपादेय का जिस प्रकार चिंतन करता है, वैसा पशु जगत् में नहीं। पशु के पास न तो कोई अंतःप्रज्ञा है, न कर्तृत्व का ज्ञान। इसलिये वह नैतिक बोध या नैतिक निर्णय करने में सक्षम नहीं है। नैतिक विकास के लिये यथार्थ सत्ता का अवबोध अपेक्षित है।

भारतीय संस्कृति का अंचल अनेक नीतियों के ताने-बाने से बुना गया है। कारण नैतिक आदर्श पूर्ण विकास का सहगामी है।

भारतीय दर्शन में नैतिक मान्यताएं

भारतीय नीति दर्शन में आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म का सिद्धान्त, कर्म सिद्धांत एवं कर्म करने की स्वतंत्रता आदि को नैतिकता के आधारभूत तत्त्व माने हैं। बन्धन, उसके कारण तथा बंधन से मुक्ति, मुक्ति के उपाय भी इसी के अन्तर्गत हैं।

पाश्चात्य दर्शन में काण्ट ने नैतिकता की तीन मौलिक धारणाओं को स्थापित किया—आत्मा की अमरता, संकल्पस्वातंत्र्य और ईश्वर का अस्तित्व।

न्याय दर्शन के अनुसार शुभ-अशुभ आचरण से शुभाशुभ कर्मों का निर्माण होता है। उपनिषद् और बौद्ध दर्शन में भी नैतिक मूल्यों का समर्थन है।^{१६}

सांख्य, वेदान्त, योग आदि दर्शनों में नैतिक विकास के लिये भिन्न-भिन्न स्तरों पर गुणों का प्रतिपादन है।

वैशेषिक के अभिमत से कर्तव्य सार्वभौम है जो अनिवार्य है। अहिंसा, सत्य, श्रद्धा, मन की शुद्धता के रूप में कर्तव्यों का उल्लेख है। सूत्रों-स्मृतियों, धर्मशास्त्रों में कर्तव्य-अकर्तव्य की विशद चर्चा है।

पंचतंत्र आदि संस्कृत साहित्य में नैतिकता सम्बन्धी प्रचुर तथ्य प्राप्य हैं। काण्ट का कथन है—तुम्हें यह करना चाहिये क्योंकि तुम कर सकते हो।

अरस्तु, स्पेन्सर, अलेक्जेंडर का भी इस दिशा में चिंतन रहा है। प्लेटो और अरस्तु से लेकर लेमाण्ट तथा समकालीन विचारकों में वारनर फिटे, सी.वी. गर्नेट, इस्राइल लेविन प्रभृति विचारक मानवीय गुणों के विकास में नैतिकता के प्रत्यय को महत्त्व देते हैं।

आचारांग सूत्र में साधक के लिये अनेक नैतिक आदेश है।—‘उद्विग्नो णो पमायए’—उठो प्रमाद मत करो।

‘अप्पमत्तो परिव्वए’—अप्रमत्त रहो।

‘अल्लीण गुत्तो परिव्वए’—इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिये आदि। चाहिये में कर सकने की स्वतंत्रता निहित है। संकल्प की स्वतंत्रता न हो तो नैतिक आदेश और नैतिक आदर्श दोनों अर्थशून्य बन जाते हैं और व्यक्ति को धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, उचित-अनुचित आदि के लिये उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते। संकल्प की स्वतंत्रता से ही वह अपने कर्मों के लिये जिम्मेदार है।

भारतीय नैतिक चिंतन केवल नैतिक सिद्धान्तों का विश्लेषणात्मक अध्ययन ही नहीं, व्यावहारिक नैतिक जीवन से सम्बन्धित है। भारतीय विचारकों ने नैतिकता के प्रतिमान एवं नैतिक प्रत्ययों की सैद्धान्तिक समीक्षा इतनी नहीं की जितनी पश्चिमी दार्शनिकों ने।

कुछ लोगों का मन भ्रान्त है कि भारतीय नैतिक चिंतन में केवल आचार-नियमों का प्रतिपादन है। नैतिक समस्याओं पर कोई चिंतन नहीं हुआ। यह धारणा आधारशून्य है। अनेक समस्याओं का समाधान भारतीय चिंतन ने दिया है जो उसकी मौलिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति है।

भारतीय और पाश्चात्य चिंतन, दोनों में अंतर इतना ही है, भारतीयों का परमश्रेय निर्वाण या आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति है। पाश्चात्य विचारधारा में परमश्रेय व्यक्ति एवं समाज का भौतिक अभ्युदय है। भारतीय विचारधारा व्यक्तिपरक रही है एवं पाश्चात्य विचारधारा समाजपरक है। किन्तु गहराई से चिंतन किया जाये तो पश्चिम में ब्रैडले आदि कुछ आध्यात्मिक विचारकों ने नैतिक साध्य के रूप में जिस आत्म पूर्णता एवं आत्म साक्षात्कार के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है वह भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक निकट है। इसी प्रकार भारतीय चिंतकों ने भी जीवन के भौतिक पक्ष की पूरी तरह से अवहेलना नहीं की है किन्तु निर्वाणलक्षी अधिक है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव के नैतिक विकास की प्राथमिक शर्त है—यथार्थ बोध, यथार्थ ज्ञान एवं यथार्थ आचरण। तीनों का समन्वय नैतिक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। जैन दार्शनिक शंकर के समान न ज्ञान से मुक्ति मानते हैं, न रामानुज आदि की तरह केवल भक्ति को। मीमांसा दर्शन की तरह कर्म से भी मुक्ति नहीं मानते किन्तु तीनों का समन्वित रूप ही मोक्ष का हेतु है।

पाश्चात्य परम्परा में तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं—१ स्वयं को जानो (Know Thyself) २ स्वयं को स्वीकार करो (Accept Thyself) ३ स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself)। तीनों नैतिक आदेश ज्ञान, दर्शन और चारित्र के समकक्ष ही हैं।

जैन नीति का उद्घोष है—स्वयं को जानो। उपनिषदों में नीति का महत्त्व-अपने आप को पहचानो के रूप में प्रतिपादित है।

यथार्थ तत्त्व बोध नैतिक विकास की नींव है। यथार्थ दृष्टिकोण से जीवन का व्यवहार एवं साधनापक्ष सम्यक् हो सकता है। सम्यक् दर्शन आध्यात्मिक विकास का प्राण है। जैन आचार परम्परा में नैतिक विकास के मानदण्ड स्वरूप दो वर्ग हैं—श्रमण वर्ग और श्रावक वर्ग।

श्रावक शब्द में प्रयुक्त तीन अक्षरों की विवेचना इस प्रकार है—श्र-श्रद्धा, व-विवेक, क-क्रिया अर्थात् जो श्रद्धा और विवेक से युक्त आचरण करता है वह श्रावक है। जैन आगमों में केवल गृहस्थ के लिये श्रावक शब्द का प्रयोग किया जाता है वहां बौद्ध दर्शन में गृहस्थ और श्रमण दोनों प्रकार के साधकों के लिये श्रावक शब्द का प्रयोग है।

साधना के स्तरों पर गृहस्थ की भूमिका विरताविरत की है। उनके जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का समन्वय है। पाप-प्रवृत्ति से कुछ निवृत्ति और कुछ अनिवृत्ति होना ही विरताविरत अवस्था है।

जैन दर्शन निवृत्तिपरक है। लेकिन गृहस्थ जीवन में समग्र रूप से निवृत्त हो जाना हर व्यक्ति के लिये सुलभ नहीं है। अतः निवृत्ति की दिशा में बढ़ने के लिये विभिन्न पद्धतियों का आविष्कार हुआ है जिनसे व्यक्ति क्रमशः अपना नैतिक विकास करता हुआ साधना के चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर सके। साधना के विकास क्रम में श्रावक के बारह व्रतों का सुन्दर चित्रण है। नैतिक विकास के इन सोपानों पर आरोहण करने वाला श्रावक एक दिन विकास के चरम शिखर पर होता है जहां नैतिक विकास के उत्कर्ष की समतल भूमि मिलती है।

दूसरे वर्ग में श्रमण है। जैन और बौद्ध परम्परा में श्रमण जीवन को प्रधान माना है। वैदिक धर्म में गृहस्थ जीवन का विशेष महत्त्व है। बाद में श्रमण परम्परा के प्रभाव से उसमें भी श्रमण जीवन को समुचित स्थान मिल गया।

श्रमण जीवन का तात्पर्य श्रमण शब्द की व्याख्या से ही स्पष्ट हो जाता है। प्राकृत में श्रमण का 'समण' रूप है। संस्कृत में समण के तीन रूपान्तर है—श्रमण, समन, शमन।

१. श्रमण— श्रम धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ है— जो व्यक्ति अपने आत्म-विकास के लिये परिश्रम करता है।

२ समन— शब्द के मूल में सम् है जिसका अर्थ है समत्व भाव। जो सभी प्राणियों को अपने समान समझता है और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है।

३ शमन— शब्द का अर्थ है अपनी वृत्तियों को शांत रखना।

वस्तुतः श्रमण शब्द का मूल तात्पर्य समत्वभाव की साधना ही है। महावीर ने कहा— केवल मुण्डित होने से श्रमण नहीं होता। समत्व की साधना करने वाला श्रमण होता है।^{१७}

श्रमण का जीवन एक उच्चस्तरीय नैतिकता एवं आत्मसंयम का जीवन है। श्रमण संस्था में प्रविष्ट होने के लिये आचार-संहिता अनिवार्य है। अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति—ये तेरह नियम सार्वभौम हैं, आध्यात्मिक विकास के साधक तत्त्व हैं तथा नैतिक विकास की अंतिम मंजिल हैं। परिपूर्ण नैतिक विकास इन व्रतों से ही संभव है। दस यति धर्म, परीषह जय,

बाहर भावनाएं आदि महाव्रतों के परिपोषक हैं। जैन सूत्रों में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु—ये साधना की भूमिकाएं हैं। अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति ही नैतिक विकास का सच्चा मार्ग है। आत्म-विकास एवं आत्मोन्नति की समृद्धि का मानदण्ड है।

आध्यात्मिक विकास क्रम

जीवन का अस्तित्व धरातल पर करीब एक अरब वर्षों से माना जाता है। सर्वप्रथम सरल एककोषीय जीव के रूप में, फिर क्रमशः गति करते हुए उच्चतम शिखर पर मनुष्य के रूप में आता है। युगों से चली आ रही इस प्रक्रिया का नाम दिया—विकास। क्रमिक और व्यवस्थित ढंग से रूपान्तरण होना ही विकास का सिद्धान्त है।

जीवगत विकास अनेक तरीकों से होता है क्योंकि जीव की अनेक अवस्थाएं हैं—पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक, शारीरिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक आदि। ये सब संसार के व्यवहार हैं। अनेक क्षेत्रों, कार्यों, विषयों में अनेक प्रकार के विकास होते हैं। ये सब व्यवहार की सीमा में हैं। व्यवहार से संसार सुचारु और व्यवस्थित चलता है किन्तु अध्यात्म का विकास न हो तो सब अधूरे हैं।

अनादिकाल से वासनाजन्य संसार में जीव कर्म संपृक्त होकर वैभाविक पर्यायों से प्रभावित है। विभाव रूप पर्याय से स्व-स्वभाव में अवस्थित हो जाना, यहीं से आध्यात्मिक विकास की यात्रा प्रारंभ होती है।

अध्यात्म का अर्थ है—भीतर का विकास, स्वयं की खोज, अस्तित्व का निर्णय। जड़-चेतन रूप पदार्थ की समीक्षा। निजत्व की अनुभूति और प्रयत्न। अध्यात्म का क्षेत्र गहन है जहां जीव को अकेले ही यात्रा करनी है।

आध्यात्मिक विकास का सम्बन्ध इन्द्रिय और मन से नहीं, चेतना से है। चेतना का आभ्यन्तरीकरण उसकी विकास यात्रा है। अध्यात्म के परिवेश में वही प्रविष्ट हो सकता है जो मोह के आक्रमण-प्रत्याक्रमण को चुनौती दे सके।

अध्यात्मसार^{१८} एवं अध्यात्मोपनिषद्^{१९} में अध्यात्म का स्वरूप निर्देशित है। शुद्ध आत्मा में विशुद्धता का आधारभूत अनुष्ठान अध्यात्म है।

अध्यात्म-विकास समत्व से अनुप्राणित है। अध्यात्म का प्राण तत्त्व है—राग-द्वेष एवं कषाय से मुक्ति, वीतराग स्थिति की प्राप्ति। जीव की अनादिकालीन यात्रा यहीं समाप्त होती है।

जीव और शरीर दो स्वतंत्र भूमिकाएं हैं। दोनों की अपनी-अपनी प्रभुसत्ताएं एवं परिधियां हैं। दोनों के बीच की सीमारेखा का बोध ही साधना का सिंहद्वार है।

अन्तश्चेतना के दो स्तर हैं—विकल्प एवं अनुभूति। विकल्प-जाल में फंसी चेतना को आत्म-बोध नहीं होता। इससे बाहर निकलने पर ही स्वरूप की अनुभूति कर सकती है। यही सम्यग्दर्शन है। अध्यात्म का प्रथम चरण सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान का सहचारी सम्बन्ध है। सम्यक् ज्ञान मोक्ष-कल्पतरु का बीज है। सम्यग्दर्शन नींव है। सम्यक् चारित्र्य समीचीन जीवन शैली है। अग्नि में प्रकाश, दाहकता, पाचकता तीन गुणों का समवाय है वैसे ही मोक्ष प्राप्ति में तीनों का समन्वय जरूरी है।

तत्त्व के प्रति श्रद्धा जब सहज एवं स्वाभाविक ढंग से बिना किसी प्रयास के उत्पन्न होती है तब उसे निसर्गज कहते हैं। जब श्रद्धा उपदेशादि बाह्य निमित्त से उत्पन्न होती है तब उसे अधिगमज कहते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान-क्रिया का द्वैत मिट जाता है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। साक्षात् की प्रक्रिया चारित्र्य है।

चारित्र्य के दो रूप हैं—व्यवहार चारित्र्य, निश्चय चारित्र्य। विधि-विधान रूप आचार का बाह्य पक्ष व्यवहार चारित्र्य है। इसका सामाजिक जीवन से भी सम्बन्ध है। नैतिक विकास का यह मानदंड भी है।

चारित्र्य का भाव पक्ष है— निश्चय चारित्र्य। निश्चय चारित्र्य का आधार है—अप्रमत्त चेतना, राग-द्वेष से मुक्त चेतना।

सम्यक् चारित्र्य के अन्य दो पक्ष हैं— देश चारित्र्य, सर्व चारित्र्य। देश चारित्र्य का सम्बन्ध गृहस्थ उपासकों से है। सर्व चारित्र्य के अधिकारी हैं— श्रमण—निर्ग्रन्थ।

बौद्ध दर्शन में सम्यक् चारित्र्य के स्थान पर शील शब्द का प्रयोग हुआ है। शील का तात्पर्य है—कुशल धर्मों का आधार। विशुद्ध मार्ग^{२०} में चार प्रकार के शीलों का उल्लेख है—चेतना शील, चैतसिक शील, संवर शील, अनुल्लंघन शील।

जैन दर्शन^{२१} में चारित्र्य के पांच प्रकार हैं— सामयिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्ध, सूक्ष्म संपराय, यथाख्यात। श्रमणों के लिये जिनकल्पी,

स्थविरकल्पी, आदि भूमिकाएं हैं। श्रावकों के लिये सुलभ बोधि, सम्यग्दृष्टि, प्रतिमाधारी आदि।

ज्ञान से आत्मा के निरावरण स्वरूप का बोध होता है परन्तु उस आवरण को तोड़ने की क्षमता चारित्र में है। ज्ञान निर्णायक है पर गतिशील नहीं। चारित्र गतिशील है। आध्यात्मिक रत्नत्रयी की साधना पर आधारित है। इसकी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आराधना करने वाले संसार से मुक्त हो मोक्षगामी बनते हैं।

चेतना के विकास की विभिन्न अवस्थाएं

चेतना के क्रमिक विकास के सोपानों का जैन दर्शन में गुणस्थान के रूप में निरूपण है। आत्मा की नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्क्रांति की यात्रा को गुणस्थानों की पद्धति द्वारा व्यवस्थित तरीके से स्पष्ट किया है। गुणस्थान एक तार्किक व्यवस्था है। शुद्धिकरण का क्रम है। गुणस्थान जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। उसका सम्बन्ध आत्मा की क्रमिक विशुद्धि से है।

गुणस्थान शब्द उत्तरवर्ती साहित्य में प्रसिद्ध है। आगम साहित्य में 'जीव-स्थान' शब्द का प्रयोग है।

समवायांग में चौदह भूतग्राम या जीवस्थान कहा है। कर्म ग्रन्थ^{२२} में गुणस्थान शब्द से अभिहित किया है। समयसार^{२३} में आचार्य कुंदकुंद ने यही शब्द काम में लिया है। तत्त्वार्थ सूत्र में गुणस्थान शब्द का प्रयोग नजर नहीं आता। गोम्मटसार^{२४} में 'जीव-समास' नाम है। ध्वला के अनुसार^{२५} जीव गुणों में रहने के कारण जीव-समास कहा है। किन्तु जीवस्थान, जीव-समास या गुणस्थान में सिर्फ संज्ञा भेद है। अर्थभिन्नता नहीं।

गुणस्थान की अवधारणा का मुख्य आधार है—कर्म विशोधि। समवाओ में कहा है—कम्म विसोही मग्गणं पडुच्च चउदस जीवठाणा पणत्ता।

अज्ञानमय अंधकारपूर्ण गलियारे से आत्मा जब बाहर निकलती है। धीरे-धीरे अपने अस्वाभाविक गुणों के आधार पर उत्क्रांति करती हुई विकास की पराकाष्ठा पर पहुंचती है। यही परम साध्य है।

साध्य की प्राप्ति से पूर्व जीव को क्रमिक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। इसे उत्क्रांति मार्ग कहते हैं। जीव-विकास में शरीर, इन्द्रिय आदि के विकास की चर्चा है। मानसिक विकास में मन तथा उसके विकास की

प्रक्रियाएं हैं। नैतिक विकास की भूमिका पर जीव से सम्बन्धित नैतिक विधिनियमों का विवेचन है। आध्यात्मिक विकास का सम्बन्ध आत्मा की विशुद्धता से है।

संसार में जीव-राशि अनंत है। सभी जीवों की शारीरिक संरचना, इन्द्रिय, विचार-शक्ति, मनोबल तथा चारित्र्य एक-दूसरे से भिन्न हैं। यह भेद कर्मजन्य, औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक तथा पारिणामिक भावों पर आधारित है। भिन्नता इतनी विचित्र है कि सारा संसार मानो एक अजायबघर-सा प्रतीत होता है। अनन्त भिन्नताओं को चौदह विभागों में विभाजित किया है।

गुणस्थानों का वर्गीकरण, आत्मानुसंधान एवं आत्म-विकास की प्रांजल वैज्ञानिक प्रक्रियाएं हैं। इस वर्गीकरण में प्रथम अवस्था से लेकर चरम अवस्था तक सोपानों का एक महत्वपूर्ण अनुक्रम (सीक्वेंस) है। मोह कर्म की उत्कर्षता-मंदता एवं अभाव पर विकास की क्रमगत कल्पना (Gradation) आधारित है।

साधक का लक्ष्य आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करना है। इस लक्ष्यपूर्ति के लिये उसे साधना की विभिन्न भूमिकाएं पार करनी होती हैं। वे भूमिकाएं साधना की मापक हैं। विकास मध्य अवस्था है। उसके एक तरफ अविकास की स्थिति है। दूसरी ओर पूर्ण विकास की। इस आधार पर आत्मा की तीन अवस्थाओं का विवेचन है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा।

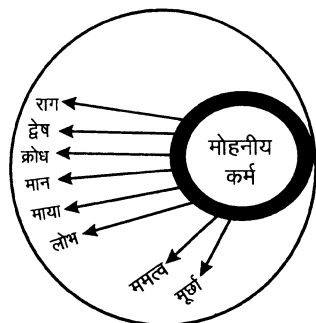
चौदह गुणस्थानों में पहले से तीसरे तक बहिरात्मा है। चौथे से बारहवें तक अन्तरात्मा, शेष दो गुणस्थानों में आत्मा के परमात्मा स्वरूप का चित्रण है। गुणस्थानों में बहिरात्मा से अन्तरात्मा, अन्तरात्मा से परमात्मा तक की यात्रा है।

आत्मा निर्विकार है फिर भी उसे पतन-उत्थान की प्रक्रिया से क्यों गुजरना पड़ता है? विकास की न्यूनाधिकता क्यों रहती है? इसका आधार है—कर्म। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को आवृत कर रहे हैं उन कर्मों में प्रधान कर्म है—मोह। मोह को पोषण दो तत्त्व—राग-द्वेष से मिल रहा है। राग-द्वेष कषाय मूलक हैं। मोह का विलय होते ही अन्य कर्मों के आवरण हटाने में सुगमता हो जाती है। मोह के दो विभाग हैं—दर्शन मोह और चारित्र्य मोह। दर्शन मोह स्व-स्वरूप के यथार्थ बोध का बाधक है। चारित्र्य मोह से यथार्थ

स्वरूप में अवस्थिति नहीं होती। व्यवहार में भी पहले वस्तु का यथार्थ बोध होता है। उसके बाद ही उसकी प्राप्ति के लिये प्रयास किया जाता है। अध्यात्म जगत् में भी यही प्रक्रिया है।

मोहनीय कर्म, उसका परिणाम

प्रथम तीन गुणस्थान में दर्शन शक्ति और चारित्र शक्ति का विकास इसलिये नहीं होता कि उन शक्तियों के प्रतिबंधक कर्म संस्कारों की तीव्रता है। पहली शक्ति दर्शन मोह की प्रबल है, दूसरी अनुगामिनी। पहली शक्ति के मन्द, मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी निर्वीर्य बन जाती है।



चतुर्थ गुणस्थान में वे प्रतिबंधक कर्म संस्कार कम हो जाते हैं अतः यहीं से विकास प्रारंभ हो जाता है।

प्रतिबंधक कषाय के स्थूल दृष्टि से ४ विभाग हैं—अनंतानुबंधी कषाय, जो दर्शन शक्ति का अवरोधक है। शेष तीन विभाग—अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, चारित्र शक्ति के विघातक हैं।

प्रथम गुणस्थान आत्मा की अविकसित अवस्था है। इस भूमिका पर खड़ा व्यक्ति आधिभौतिक विकास भले कितना ही करले पर उसकी प्रवृत्ति लक्ष्य से शून्य ही रहती है। यह मिथ्या दर्शन की भूमिका है। यहीं अवस्थित सभी प्राणियों की स्थिति एक समान नहीं होती। कारण मोह का प्रभाव किसी पर गाढतम किसी पर गाढ होता है।

साधक की यात्रा सूक्ष्म पड़ावों का विवेचन है। राह का पूरा नक्शा, बीच के पड़ाव, मील के किनारे पर पत्थर—सभी की ठीक सूचना है। गुणस्थान चेतन-विकास के मापक पेरामीटर हैं।

पहला गुणस्थान है मिथ्या दृष्टि गुणस्थान (Wrong Belief of Delusion)। यह अपक्रांति की अवस्था है। कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक का अभाव ही मिथ्यात्व है। वस्तु का अयथार्थ बोध मिथ्यात्व है। यथार्थ बोध में बाधा अहंकार की है। सत्य की प्राप्ति के लिये अस्मिता का चोगा उतारना पड़ता है। आग्रह सत्य का हनन है।

‘मिथ्या नाम विपरीत भावः मिथ्याभावः’ मिथ्यात्वी व्यक्ति की स्थिति काच-कामली रोगग्रस्त व्यक्ति जैसी होती है जिसे सब कुछ पीला ही पीला नजर आता है। वस्तु का मूल रूप दिखाई नहीं देता। मिथ्यात्व का असर ऐसा ही होता है, किन्तु तरतमता अवश्य है। तीव्रता-मन्दता के क्रम से काफी अन्तर होता है। तीव्रातितीव्र, अतितीव्र, तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम, शुद्ध, इस प्रकार चढ़ते-उतरते क्रम से मिथ्यात्व के कई भेद हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न कक्षाएं हैं। जैसे—काला रंग, उसके कई प्रकार। कौआ, कोयल और भ्रमर तीनों काले हैं किन्तु कालेपन की मात्रा का अंतर है।



जैसे—गांव से बड़ा तालुका होता है फिर क्रमशः जिला, शहर, राज्य, देश और विश्व। उलटे क्रम में विश्व, देश, राज्य आदि। यहां ज्ञान का तारतम्य है वैसे मिथ्यात्व में भी।

प्रश्न उठता है, मिथ्यात्व को गुणस्थान क्यों कहा ? शास्त्रीय आधार पर समाधान यह है कि मिथ्यात्व का प्रगाढ़ उदय होने पर भी सामान्य सत्यांश बोध हर प्राणी में रहता ही है। यह मनुष्य है। पशु है। जड़ है। दिन है। रात है। इतना ज्ञान विद्यमान है।

सर्व जीवाणमक्खरस्स अणंतमो भागो निव्वमुघाडीओ चिट्ठई।

जइ पुण सोवि आवरिज्जातेणं जीवो अजीवत्तणं पाउणिज्जा।।

निगोद का छोटा जीव हो या बड़ा, जीव मात्र में ज्ञान का अनन्तवां भाग भी निश्चित अनावृत होता है। यदि ऐसा न हो तो जीव-अजीव बन जायेगा। कितना ही दृष्टि का विपर्यास हो, उसमें अल्पतम या अव्यक्त मात्रा में सही, यथार्थ श्रद्धा और विधायक गुणों का विकास मिलेगा, क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है। जीव का अस्तित्व उसके ज्ञानादि गुणों के कारण है। इस प्रकार सामान्य आंशिक बोध में आंशिक सत्य भी मिथ्यात्व की कक्षा में रहता है। इस गुण के आधार पर उसे मिथ्यात्वी गुणस्थान कहा है।

दूसरा कारण, जीव की विकास यात्रा इसी गुणस्थान से प्रारंभ होती है। सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये सारा पुरुषार्थ मिथ्यात्व के सदन में रहकर ही करना है। यथाप्रवृत्तिकरण भी यहीं प्राप्त करना है। टेस्ट मेच तो खेलेगा तब खेलेगा

परन्तु पहले क्रिकेट मेच खेलने की सारी प्रक्रिया इसी ग्राउंड पर होती है। इसलिये मिथ्यात्व की गणना गुणस्थान में की है।

मिथ्यादृष्टि जीवों की दृष्टि सर्वथा अयथार्थ नहीं होती। मोह की प्रगाढतम अवस्था में भी ऐसा कोई जीव नहीं जिसमें कर्म विलयजन्य विशुद्धि का अंश न हो।

प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व रूप होते हुए भी सम्यक् दर्शन की ओर प्रस्थित करने वाले गुणों की भूमि है इसलिये गुणस्थान कहा है। संसार की अधिकांश आत्माएं मिथ्यात्व गुणस्थान में रहती हैं। मिथ्यात्व के ५ प्रकार हैं^{२६}—

१. आभिग्राहिक—किसी एक बात को स्वीकार कर दूसरे का खण्डन करना।
२. अनाभिग्राहिक—गुण-दोष की मीमांसा किये बिना सभी मन्तव्यों को समान समझना।
३. अभिनैवेशिक—अपने पक्ष का असत्य ज्ञापित होने पर भी असत्य का आग्रह बनाये रखना।
४. सांशयिक—तत्त्व के स्वरूप में संदेह करना।
५. अनाभोगिक—मोह की प्रबल अवस्था में ज्ञान का अभाव।

मिथ्यात्व के अन्य पांच प्रकारों का भाव संग्रह^{२७} में निरूपण है—१ विपरीत, २ एकांत, ३ विनय, ४, संशय, ५ अज्ञान।

प्रथम गुणस्थानवर्ती भव्य—अभव्य आत्माओं में भव्य आत्मा भविष्य में कभी-न-कभी यथार्थ दृष्टिकोण से आध्यात्मिक विकास कर पूर्णता को प्राप्त कर सकेगी किन्तु अभव्य आत्माओं को यथार्थ बोध संभव नहीं। वे आत्माएं विपरीत, एकान्तिक धारणाओं तथा संशय और अज्ञानग्रस्त रहने से यथार्थ दृष्टिकोण के प्रति उनमें रुचि का अभाव ही रहता है। जैसे ज्वरपीड़ित को मधुर भोजन अरुचिकर होता है।

पं. सुखलालजी के अभिमत से—प्रथम गुणस्थान में स्थित अनेक आत्माएं ऐसी हैं जो राग-द्वेष के प्रबल वेग को दबाये हुए होती हैं। यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति उनका लक्ष्य अनुकूल नहीं होता फिर भी अन्य कई अविकसित आत्माओं से उनका स्तर ठीक होता है। योग दृष्टि समुच्चय में मित्रा, तारा, आदि दृष्टि में चित्त की मृदुता, अद्वेष वृत्ति, करुणा जैसे गुणों का प्रकटीकरण होता है।

जब तक अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय नहीं जो जाता वहां तक कोई भी जीव प्रथम गुणस्थान की सीमा को अतिक्रान्त नहीं करता। इन प्रकृतियों के उदयजनित ही पहला गुणस्थान है।

मिथ्यात्व की अल्पता होने पर इसी गुणस्थान के अंतिम चरण में आत्मा यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनावृत्तिकरण नामक ग्रन्थि-भेद की प्रक्रिया करता है। ग्रन्थि-भेद का कार्य बड़ा विषम है। आत्मा के आवरण कुछ शिथिल होते हैं तब वीर्योल्लास की मात्रा बढ़ती है। परिणामों में भी विशुद्धता आती है। इससे दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़ने की योग्यता बहुत अंशों में प्राप्त कर लेता है। इसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।^{२८}

मिथ्यात्व मोहनीय के तीव्र उदय में आत्मा का स्वरूप की ओर न आकर्षण होता है न जिज्ञासा। जब मंदोदय होता है, तब आत्म स्वरूप प्राप्त करने की उत्कंठा जागती है। उस समय जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उसे 'करण' कहते हैं।

दर्शन मोह और चारित्र मोह के साथ आत्मा का यह गहरा संघर्ष है। इस संघर्ष में आत्मा की विजय यात्रा शुरू होती है। संघर्ष में कुछ आत्माएं परास्त हो जाती हैं। कुछ विजयश्री प्राप्त कर स्व-स्वरूप को पा लेती हैं। लक्ष्य उपलब्धि की यह प्रक्रिया जैन साधना में ग्रंथि भेद कहलाती है। ग्रंथि भेद करने में साधक का मनोबल और कौशल ही निमित्त होता है। इसमें शैथिल्य विफलता का द्योतक है।

ग्रंथि के भेद का अर्थ है—प्रगाढ़ मोह का उन्मूलन। मोह का आवरण हटाने के लिये ग्रन्थियों का भेदन आवश्यक है। उनमें यथाप्रवृत्तिकरण प्रथम है। मोह कर्म की स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम है। यह घटकर जब एक कोड़ाकोड़ प्रमाण रह जाती है। तब यथाप्रवृत्तिकरण होता है इससे राग-द्वेष की सघन ग्रन्थि के निकट तक आता है किन्तु भेद नहीं पाता। अभव्य जीव भी वहां तक जाकर पुनः लौट आता है क्योंकि ग्रंथि का भेदन कठिन है। पंचेन्द्रिय समनस्क प्राणी अनेक बार यथाप्रवृत्तिकरण कर लेता है। इससे नैतिक चेतना का उदय होता है।

एक मुहूर्त यथाप्रवृत्तिकरण रहता है। प्रतिक्षण भावों की विशुद्धि होती रहती है। ग्रंथि के निकट पहुंच जाते हैं किन्तु राग-द्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर मूल स्थिति में रह जाते हैं। अनेक आत्माएं चिर काल तक युद्ध-मैदान में खड़ी रहती हैं। जय-पराजय कुछ भी नहीं। इसके बाद अपूर्वकरण^{२९} होता है।

इससे ग्रन्थि पर शल्यक्रिया^{३०} की जाती है। ग्रन्थिभेदन होते ही अभूतपूर्व निर्मलता बढ़ती है। यहीं से जीवात्मा की अन्तर्यात्रा प्रारंभ होती है। जीव का संकल्प ऊर्ध्वमुखी बनता है। उस समय अल्प स्थितिक कर्मों का बंध करता है। अनन्त गुणी निर्जरा होती है। कर्मभार से हल्का हो जाता है।

फिर अनिवृत्तिकरण, इसकी भी अन्तर्मुहूर्त स्थिति है। स्थिति के कई भाग व्यतीत हो जाते हैं। एक भाग अवशेष रहता है तब अन्तरकरण की क्रिया प्रारंभ होती है। इसका अर्थ है कि मिथ्यात्व मोहनीय कर्म जो उदयमान है उसके उन दलिकों को जो अनिवृत्तिकरण^{३१} के बाद अन्तर्मुहूर्त तक उदय में आने वाले हैं उन्हें आगे-पीछे करना। अनिवृत्तिकरण के पश्चात् का एक अन्तर्मुहूर्त काल ऐसा होता है जिसमें मिथ्यात्व मोहनीय का दलिक किंचित मात्र भी नहीं रहता। अतः जिस नवीन कर्म का अबाधाकाल पूर्ण हो चुका है ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय के दो विभाग हो जाते हैं।

एक भाग अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय तक उदयमान रहता है। दूसरा भाग अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल व्यतीत होने तक उदय में आता है। प्रथम भाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति, दूसरे भाग को दूसरी स्थिति कह सकते हैं।

अनिवृत्तिकरण का अंतिम समय पूर्ण हो जाता है तब मिथ्यात्व का किसी प्रकार उदय नहीं रहता, क्योंकि जिन दलिकों के उदय की संभावना है वे सभी दलिक अन्तःकरण क्रिया से आगे-पीछे कर दिये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय तक ही जीव मिथ्यात्वी रहता है। उसका समय संपन्न होते ही जीव को औपशमिक सम्यक्त्व उपलब्ध होती है। इसमें मोहनीय कर्म के प्रदेशोदय एवं विपाकोदय दोनों का अभाव हो जाता है।

जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण प्रकट हो जाता है। अपूर्व आनंद की प्राप्ति होती है। यथाप्रवृत्तिकरण वासनाओं से संघर्ष करने के लिये पूर्व पीठिका तैयार करता है। जो आत्माएं कृत संकल्प हो राग-द्वेष रूपी शत्रुओं के व्यूह का भेदन करती हैं। भेदन की क्रिया अपूर्वकरण है। संघर्ष में विजयश्री प्राप्त कर आत्मा जिस आनन्द का अनुभव करती है वह विशिष्ट है। इस अवस्था में मानसिक तनाव और संशय पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं। अपूर्व आनन्द का अनुभव अपूर्वकरण है।

आत्मा विकास की दिशा में अपना अगला चरण रखती है—यह प्रक्रिया अनिवृत्तिकरण है। इस भूमिका पर आत्मा शुद्ध स्वरूप का दर्शन करती है। यही सम्यग्दर्शन बोध की भूमिका है।

इन्हें एक वस्त्र के उदाहरण से स्पष्ट समझ सकते हैं एक वस्त्र है जिसमें मल के अतिरिक्त चिकनाहट भी है। मल को दूर करना उतना कठिन नहीं जितना चिकनाहट को दूर करना। उदर का मल दूर करने के समान यथाप्रवृत्तिकरण है। चिकनाहट दूर करने वाले विशेष श्रम के समान 'अपूर्वकरण' है।

बचे हुए मल किंवा चिकनाहट दूर करने के समान 'अनिवृत्तिकरण' है। राग-द्वेष की ग्रंथि का छेदन अत्यन्त दुष्कर है। यही संघर्ष की वास्तविक अवस्था है। मोह राजा के राजप्रासाद का यही द्वितीय द्वार है जहां सबसे अधिक शक्तिशाली अंगरक्षक तैनात हैं। इन पर विजय हो जाने पर मोह पर विजय पाना आसान है।

अपूर्वकरण की अवस्था में कर्म शत्रुओं पर विजय पाते आत्मा पांच प्रक्रियाएं करती है। स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुण-संक्रमण, अपूर्वबंध।

गुणश्रेणी—कर्मों को ऐसे क्रम में रखना कि विपाक काल के पूर्व फलभोग किया जा सके।

गुण-संक्रमण—कर्मों की अवान्तर प्रकृतियों में रूपान्तरण जैसे-दुःखद वेदना को सुखद वेदना में।

अपूर्वबंध—क्रियमाण क्रियाओं के फलस्वरूप होने वाला बंध अल्पतर मात्रा में होना। अन्तरकरण की इस स्थिति में आत्मा दर्शन मोहनीय कर्म को तीन भागों में विभाजित करती है। सम्यक्त्व मोह, मिथ्यात्व मोह, मिश्र मोह।

सम्यक्त्व मोहनीय के दलिक शुद्ध, मिश्रमोहनीय के अर्ध शुद्ध और मिथ्यात्व मोहनीय के अशुद्ध।

पहले में सत्य के स्वरूप का दर्शन होता है। दूसरे में विकृत रूप से। लेकिन तीसरे में सत्य पूरी तरह आवृत रहता है। सम्यग्दर्शन के काल में आत्मा मिथ्यामोह और मिश्रमोह को सम्यक्त्व मोह में रूपान्तरित करता रहता है।

सम्यग्दर्शन की अन्तर्मुहूर्त की समय सीमा समाप्त होते ही तीन विभागों में से किसी भी वर्ग की कर्म प्रकृति का उदय हो सकता है। यदि प्रथम उदय सम्यक्त्व मोह का होता है तो आत्मा विकासोन्मुख हो जाता है। लेकिन मिश्र मोह या मिथ्यात्व मोह का विपाक होता है तो आत्मा पुनः पतनोन्मुख हो जाता है। अगले विकास के लिये उसे पुनः ग्रन्थि भेद का पुरुषार्थ करना होता है।

दर्शन मोह का विनाश ही प्रथम गुणस्थान की समाप्ति है। साध्य की प्राप्ति से पूर्व जीव को एक के बाद दूसरी, दूसरी से तीसरी—ऐसी क्रमिक

अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थानों में विकास की मात्रा बढ़ती जाती है।

विकास की न्यूनाधिकता क्यों रहती है? इसका आधार है— आत्मा की स्थिरता, अन्तर्दृष्टि, स्वभाव रमण। स्थिरता के तारतम्य में दर्शन और चारित्र मोह का क्षायक-क्षयोपशम निमित्त है।

२. सास्वादन गुणस्थान—(Down fall from the fourth stage) सास्वादन^{३२} का अर्थ है—स्वादयुक्त। जैसे किसी बर्तन में क्षीर डाली। उसके निकाल लेने पर भी कुछ स्वाद रह जाता है। अथवा झालर बजती है। बंद कर देने पर भी कुछ देर ध्वनि आती रहती है। वैसे ही सम्यक् दर्शन की रोशनी से जीव जब गिरता है फिर भी स्वाद रह जाता है इसलिये इसका सास्वादन नामकरण है।

यह अपक्रमण की अवस्था है। सम्यक्त्व की उच्च भूमिकाओं के राजमार्ग से पतित आत्मा जब प्रथम गुणस्थान के उन्मुख होती है। बीच में पतनोन्मुख आत्मा की जो अवस्था है वही दूसरा गुणस्थान है।

पहले गुणस्थान से इसमें आत्मशुद्धि कुछ अधिक होती है इसलिये इसे दूसरे नम्बर पर रखा है फिर भी ज्ञातव्य यह है कि इसे उत्क्रांति स्थान नहीं कह सकते। क्योंकि प्रथम भूमिका से उत्क्रांति करने वाला जीव सीधे तौर से दूसरे स्थान को प्राप्त नहीं कर सकता। ऊपर की भूमिका से गिरने वाला ही इसका अधिकारी होता है। इस समय आध्यात्मिक स्थिति विलक्षण होती है। उस समय आत्मा न तत्त्व ज्ञान की निश्चित भूमिका पर है न तत्त्व ज्ञान शून्य की निश्चित भूमिका पर। कोई सीढ़ियों से खिसक कर जब तक जमीन पर आकर नहीं ठहर जाता, बीच में अलग ही स्थिति का अनुभव करता है। वैसी स्थिति सास्वादन की होती है।

३. मिश्र गुणस्थान—(Belief in Right or wrong at the same time) इसमें सम्यक् और मिथ्या दोनों दृष्टियों का मिश्रण है। दोलायमान स्थिति है। इसलिये मिश्रदृष्टि को गुणस्थान कहा जाता है। जैसे मिश्री एवं दही को संयुक्त करने पर श्रीखंड बन जाता है किन्तु उसका स्वाद न दही रूप है न मिश्री जैसा। तीसरा ही स्वाद होता है। वैसी ही इसकी अवस्था है।

प्रथम गुणस्थान से उत्क्रांति करने वाला सीधा तीसरे में आ सकता है और कोई चतुर्थ आदि गुणस्थान से अपक्रमण कर तीसरे में आ सकता है। इस प्रकार उत्क्रांति और अपक्रांति दोनों का आश्रय स्थल है तीसरा गुणस्थान।

दूसरी भूमिका से तीसरी की यही विशेषता है। यह स्वतंत्र गुणस्थान है। स्थिति जघन्य उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करते समय जो मिथ्यात्व मोहनीय के तीन विभाग किये थे उनमें से सम्यक्त्व मोहनीय के उदय आने से चतुर्थ गुणस्थान से पतित हो तीसरे में आता है। विचित्र है यह भूमिका। इसमें न आयुष्य^{३३} बंध होता है न मरण। यह सदा अमर है। यहां आध्यात्मिक और पाशविक वृत्तियों का संघर्ष चलता रहता है। अध्यात्म की विजय में यथार्थ दृष्टि उपलब्ध होती है। पाशविकता की विजय में मिथ्यादृष्टि बन जाता है।

प्रथम इन तीन गुणस्थानों में दर्शन शक्ति व चारित्र शक्ति का विकास इसलिये नहीं होता है कि उन शक्तियों के प्रतिबंधक कर्म संस्कारों की तीव्रता है।

४. अविरति सम्यक् दृष्टि गुणस्थान—(Vowless right belief) यह विकास क्रम की चतुर्थ भूमिका है। इसमें दृष्टि सम्यक् है, विपर्यास नहीं रहता किन्तु व्रत की योग्यता चारित्र मोहनीय के उदय से प्राप्त नहीं हो सकती। आध्यात्मिक शांति का अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन की उत्क्रांति का यह सिंहद्वार है।

देशविरति गुणस्थान—(Partial Vows-Anuvirati) इस भूमिका पर साधक नैतिकता के पथ पर चलना प्रारंभ करता है। पूर्णरूपेण सम्यक् चारित्र की आराधना कर नहीं पाता पर आंशिक रूप से पालन अवश्य करता है। देश-विरति का तात्पर्य है—वासनापूर्ण जीवन से आंशिक निवृत्ति। आसक्ति रूप मूर्च्छा टूटती है। इस गुणस्थान की प्राप्ति के लिये अप्रत्याख्यानी कषायों का उपशांत होना आवश्यक है।

प्रमत्त संयत गुणस्थान—(Observance of the great vows) इस गुणस्थान में चारित्र मोह को अधिकांश शिथिल कर पहले की अपेक्षा अधिक स्वरूप-स्थिरता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। किन्तु प्रमाद का संपूर्ण उच्छेद नहीं कर पाता। प्रमाद का अर्थ है—अनुत्साह। अविरति का सर्वथा अभाव हो जाने पर भी अन्तर्वर्ती अनुत्साह रूप प्रमाद का अस्तित्व रहता है। इस गुणस्थानवर्ती श्रमण छोटे और सातवें गुणस्थान के बीच परिचारण करते रहते हैं। भंवर में स्थित तिनके की तरह अनवस्थित बन जाते हैं।

अप्रमत्त संयत गुणस्थान—(observance of the great vows with perfect heed fullness.)—यहां साधक प्रमाद से रहित हो आत्म-साधना में

लीन रहता है। अनुत्साह का निरोध हो जाता है। इसमें अशुभ योग, अशुभ लेश्या, अशुभ ध्यान आदि रुक जाते हैं। इस गुणस्थान में भी 'अप-डाउन' होता रहता है। प्रमाद की तन्द्रा कभी अप्रमाद की जागृति, यह क्रम पुनः-पुनः चलता है इसलिये दोनों गुण-स्थानों का परिवर्तन होता रहता है।

अप्रमत्त दो प्रकार के हैं— कषाय अप्रमत्त और योग अप्रमत्त। जिसका कषाय क्षीण है वह कषाय अप्रमत्त। जो मन-वचन-काया इन तीनों योगों से गुप्त है वह अप्रमत्त है। इस श्रेणी में कोई भी साधक एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता।

निवृत्ति बादर गुणस्थान (New thought activity which the saint's soul had never before acquired.)

निवृत्ति से मतलब है— भेद। प्रस्तुत गुणस्थान में परिणाम विशुद्धि की भिन्नता होती है इसलिये इसे निवृत्ति बादर गुणस्थान कहा जाता है। इसमें आरोहण करने वाली आत्मा के परिणाम प्रतिक्षण अपूर्व ही होते हैं। यहां से आगे की यात्रा मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम के माध्यम से निष्पादित होती है। क्षय के माध्यम से निष्पन्न आरोहण को क्षपक श्रेणी तथा उपशमन से निष्पन्न उपशम श्रेणी कहलाती है।

उपशम श्रेणी से बढ़ने वाले मोह को एक बार सर्वथा दबा लेते हैं, निर्मूल नहीं कर पाते। जिस प्रकार बर्तन में भरी हुई भाप कभी-कभी अपने वेग से या तो बर्तन को उड़ा देती है, या नीचे गिरा देती है। अथवा राख में दबी हुई अग्नि हवा का झोंका लगते ही अपना कार्य शुरू कर देती है। जल के तल में बैठा हुआ मल थोड़ा-सा हिलते ही पुनः उठकर जल को गंदा बना देता है, उसी प्रकार पहले दबाया हुआ मोह अपने वेग से साधक को नीचे पटक देता है। वह ग्यारहवां गुणस्थान है। अधःपतन का मार्ग है आठवें-गुणस्थान की उपशम श्रेणी।

क्षपकश्रेणी प्रतिपन्न जीव मोह को क्षय कर दसवें से सीधा बारहवें में चला जाता है। वीतराग बन जाता है। क्षीण मोह वाले का अवरोह नहीं हो सकता।

ग्यारहवां गुणस्थान पुनरावृत्ति का है। बारहवां अपुनरावृत्ति का। किसी एक परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने वाला विद्यार्थी अपने परिश्रम एवं लगन से योग्यता बढ़ाकर पुनः उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है। उसी प्रकार उपशम श्रेणी वाला

मोह से पराजित होकर भी पुनः अप्रमत्त भाव और आत्मबल की अधिकता से मोह को क्षीण कर देता है। दोनों श्रेणियां परमात्म भाव के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ने की सीढ़ियां हैं।

इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण भी है जो अपूर्वकरण की प्रक्रिया के आधार पर है।

अनिवृत्ति बादर गुणस्थान—(Advanced thought activity of a still greater purity.)—निवृत्ति का अर्थ है भेद। अनिवृत्ति अर्थात् अभेद। इसमें परिणामों की विशुद्धि समान होती है। इससे अनिवृत्ति बादर नाम है। ८वें गुणस्थान से इसमें परिणाम विशुद्धि अनंत गुणा अधिक है। इस पथ पर साधक सूक्ष्म लोभ को छोड़कर शेष सभी कषायों का क्षय या उपशमन कर देता है। आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का गुण संक्रमण, निर्जरण, स्थिति और अनुभाग खंडन हो जाता है। आठवें गुणस्थान से ही यह क्रम आरंभ हो जाता है। काम वासनात्मक भाव यानी 'वेद' समूल नष्ट हो जाते हैं। उच्च स्तरीय आध्यात्मिक विकास की भूमिका है।

सूक्ष्म संपराय गुणस्थान—(Absence of all passions except the most subtle greed.)—इसमें भी सूक्ष्म लोभ के अतिरिक्त कषाय समाप्त हो जाती है। जैसे धुले हुए कुसुमी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है। इसलिये सूक्ष्म संपराय कहा है। यहां योग की प्रवृत्ति अवश्य रहती है। मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों में से मात्र संज्वलन लोभ रहता है तब साधक इस श्रेणी में प्रवेश पाता है।

उपशांत मोह गुणस्थान—(Subsided delusion i.e. subsidence of the entire eight conduct deluding 'karmes')—सूक्ष्म लोभ का उपशमन होते ही आत्मा इस विकास-श्रेणी पर पहुंचता है। एक मुहूर्त तक यहां मोहनीय कर्म को उपशांत कर दिया जाता है किन्तु साधक के लिये यह अवस्था खतरनाक है। राख में दबी हुई अग्नि की तरह एक मुहूर्त पूर्ण होते ही मोहकर्म अपना प्रभाव दिखाता है। फलतः आत्मा जिस क्रम से उपर चढ़ता है उसी क्रम से नीचे आ जाता है। कभी-कभी प्रथम सीढ़ी तक भी लुढ़क जाता है।

क्षीण मोह गुणस्थान—(Delusion annihilated.)—कर्म का मूल मोह है। यहां मोह का संपूर्ण उन्मूलन हो जाता है। सेनापति के अभाव में सेना स्वयं पलायन कर जाती है। वैसे ही मोह के नष्ट होते ही एकत्व विचार शुक्ल ध्यान के बल से एक मुहूर्त की अल्प कालावधि में ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और

अन्तराय नामक तीनों कर्मों के आवरणों को नष्ट कर अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति से संपन्न हो विकास की अग्रिम श्रेणी में चला जाता है।

सयोगी केवली गुणस्थान—(Omniscient soul with yogic vibration)—इस श्रेणी का साधक सर्वज्ञ होता है। इसमें सिर्फ चार भवोपग्राही कर्म और मानसिक, वाचिक तथा कायिक क्रियाएं होती हैं। योगों के कारण बंधन होता है किन्तु द्विसामयिक मात्र ही। बन्धन और विपाक की प्रक्रिया कर्म सिद्धांत की सिर्फ औपचारिकता है। योगों का अस्तित्व है इसीलिये सयोगी केवली गुणस्थान कहा है।

अयोगी केवली गुणस्थान—(Vibration less omniscient soul.)—इस गुणस्थान में प्रवेश पाते ही शुक्ल ध्यान का चतुर्थ भेद समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान के द्वारा मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों का निरोध हो जाता है। निष्प्रकंप स्थिति प्रकट होती है। चरम आदर्श की उपलब्धि है। आत्म-विकास की परमावस्था है। सर्वांगीण पूर्णता एवं अपुनरावृत्ति का स्थान है। आध्यात्मिक विकास का अंतिम द्वार है। इस गुणस्थान का स्थितिकाल अत्यल्प है। बाद की जो अवस्था है वह निर्वाण है। प्रत्येक प्राणी अपने ही पुरुषार्थ द्वारा परमात्म अवस्था तक पहुंच सकता है।

व्यापार का सम्बन्ध अर्थशास्त्र से, औषध का आयुर्वेद से, ध्यान का योगशास्त्र से वैसे आत्मा का गुणस्थान से है। प्रथम तीन गुणस्थान में बहिरात्मा, चौथे से बारहवें तक अन्तरात्मा, तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में परमात्मा। तीसरे में डांवाडोल अवस्था। चतुर्थ भूमिका में सम्यक् बोध किन्तु विरक्ति नहीं। पांचवें से संयम का क्षेत्र शुरू हुआ। जीवन में एक सीमा रेखा बनने लग जाती है।

जीवन की सारी ऊर्जा एक दिशा में प्रवाहित होती है। तालाब सभी तरफ से खुला है। सीमा करना ही संयम है। संयम से ऊर्जा सुरक्षित रहती है। यदि नदी बनना है तो किनारा चाहिये तभी सागर तक पहुंचा जाता है। पांचवां गुणस्थान अर्थात् किनारों में बंधा व्यक्तित्व।

सातवें गुणस्थान में मूर्च्छा, अहंकार, प्रमाद की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति भी शून्य पर आ जाती है। साधुता के भाव आविर्भूत होने लगते हैं। आठवें में प्रवेश के साथ परिणाम अपूर्व हो जाते हैं। सातवें तक साधना। आठवें से अनुभव

शुरू। एक नया आनंद बरसने लगता है। नया किनारा नजर जाता है। पुराना अदृश्य हो जाता है।

नवमें में अभेद की स्थापना। स्त्री-पुरुष के भेद समाप्त। केवल आत्मा रह जाती है। गार्गी ने कहा था—‘ज्ञान वर्जितो वालो’ देह की भिन्नता के पार पहुंचने पर क्या स्त्री, क्या पुरुष? सभी विशेषणों से ऊपर होती है—आत्मा।

ग्यारहवें में सब कुछ शांत। कूड़ा-कर्कट तल पर बैठ गया, किन्तु निश्चितता नहीं। कभी कचरा पुनः ऊपर उठ सकता है। १२वें में पानी पूर्ण शुद्ध है। मल का निष्कासन हो गया। महावीर का गणित साफ है। १३वें में केवलज्ञान हो गया पर देह से अभी तक सम्बन्ध है। वह छूटा नहीं। १४वें में वह सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। कारागृह से मुक्त हो जाता है। मन-वचन-काया की सारी चेष्टाएं समाप्त हो जाती हैं। शैलेषी अवस्था में पहुंचकर स्वयं को उपलब्ध हो जाता है। सब बाधाएं हट गईं। अब कुछ बनने की संभावना नहीं।

बारहवें से संसार समाप्त, मोक्ष प्रारंभ। मानो यह बोर्ड है। जिसके एक तरफ लिखा है— संसार समाप्त। दूसरी ओर मोक्ष प्रारंभ। फासला दिखाई नहीं पड़ता। दोनों की सीमा रेखा एक ही है।

प्रथम सात श्रेणियों तक अनात्मा का आत्मा पर आधिपत्य और अंतिम सात में आत्मा का अनात्मा पर अनुशासन। गुणस्थान, आत्मा-अनात्मा के अव्यावहारिक संयोग की अवस्था है।

निर्वाण की प्राप्ति सबका आदर्श है। साधक जितना आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में अग्रगामी होता है उतना ही निर्वाण के निकट होता है। जैन परम्परा में अध्यात्म-विकास की ये चौदह भूमिकाएं हैं।

अन्य परम्पराओं में आध्यात्मिक विकास

बौद्ध धर्म में आत्म-विकास के सम्बन्ध में चिंतन किया है। उनके अनुसार संसार के समस्त प्राणियों को दो भागों में विभक्त किया गया है—पृथक् जन भूमि (मिथ्यादृष्टि) आर्य पृथक् जन भूमि (सम्यग्दृष्टि)।

हीनयान-महायान दोनों में आत्म-विकास की दृष्टि से कुछ मतभेद हैं। हीनयान में निर्वाण मार्ग के अभिमुख साधक को चार भूमिकाएं पार करनी होती हैं।^{३४}

१. श्रोतापन्न भूमि—श्रोत का अर्थ है— प्रवाह। यहां प्रवाह का आशय धर्म प्रवाह से है। जो धर्म प्रवाह संपृक्त नहीं वह पृथक् जन है। वैसा व्यक्ति जब प्रवाह में आ जाता है तब उसकी श्रोतापन्न संज्ञा होती है। फिर प्रवाह के साथ आगे बढ़ता है।
२. सकृदानुगामी भूमि—श्रोतापन्न पुरुष आगे बढ़ते हुए ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है, अपने वर्तमान जन्म के बाद एक बार ही उसे भव-बन्धन में आना होता है। तदनन्तर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।
३. अनागामी भूमि—अनागामी वह साधक है जिसकी साधना इतने उच्च शिखर पर होती है कि उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। वही अंतिम भव है।
४. अर्हत् भूमि—विकास की उच्चतम अवस्था जहां अन्य सारे विकास मिट जाते हैं।

ज्ञान नेत्र खुल जाते हैं। जीवन में सहज समाधि आ जाती है। जीवन्मुक्ति की अवस्था है। साधक कृतकार्य बन जाता है। करणीय कुछ नहीं रहता। सर्व-पूज्य महापुरुष की स्थिति पा लेता है।

पहली भूमिका की तुलना जैन दर्शन में वर्णित चार से सात गुणस्थान से की जा सकती है। दूसरी की आठवें से बारहवें तक। इसमें राग-द्वेष मोह आदि पर साधक प्रहार करता है। अंत में मोह क्षीण करता है। क्षीण मोह गुणस्थान तीसरी अनागामी भूमि के समकक्ष है। चौथी भूमिका सयोगी केवली गुणस्थान जैसी है।

उत्थान या विकास के संदर्भ में महायान में नया चिंतन चला। वहां साधना की दस भूमियां स्वीकार की गई हैं—

१. प्रमुदिता, २. विमला, ३ प्रभाकरी, ४ अर्चिष्मती, ५ सुदुर्जया, ६ अभिमुक्ति, ७ दूरंगमा, ८ अचला, ९ साधुमति, १० धर्म मेघ।

धर्म मेघ यह साधक के विकास की चरमावस्था है। यह वह स्थिति है। जहां साधक सभी प्रकार की समाधियों को स्वायत्त कर लेता है। पांचवीं सुदुर्जया भूमिका में साधक के द्वारा ध्यान पारमिता का अभ्यास किये जाने का विशेष रूप से उल्लेख है। उसका अभिप्रेत चैतसिक एकाग्रता प्राप्त करना है। ऐसा करके वह बुद्धत्व में अभिषिक्त होने की स्थिति पा लेता है।

जैन दर्शन के गुणस्थानों साथ तुलना इस प्रकार की जा सकती है—

१. प्रमुदिता	देश विरति, सर्वविरति गुणस्थान
२. विमला	अप्रमत्त गुणस्थान
३. प्रभाकरी	अप्रमत्त गुणस्थान
४. अर्चिष्मती	निवृत्ति बादर गुणस्थान
५. सुदुर्जया	आठ से ग्यारहवां गुणस्थान
६. अभिमुक्ति	सूक्ष्म संपराय
७. दूरंगमा	क्षीण मोह
८. अचला	सयोगी केवली
९. साधुमती	सयोगी केवली
१०. धर्म मेघा	समवसरण में स्थित तीर्थंकर जैसी अवस्था

गुणस्थान आध्यात्मिक विकास के सोपान हैं। आत्मा मिथ्यात्व की पराधीनता से निकल कर किस प्रकार प्रगति-चरण से विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचती है।

आजीवक सम्प्रदाय^{३५} में आध्यात्मिक विकास की अवधारणा— बुद्धघोष ने आजीवक सम्प्रदाय की आध्यात्मिक विकास की आठ भूमिकाओं का उल्लेख किया है—मन्दा, खिड़डा, पदवीमांसा, ऋजुगत, शैक्ष, श्रमण, जिन, प्राज्ञ।

इनमें पहली तीन अविकासकाल तथा पीछे पांच विकासकाल की अवस्थाएं हैं। उसके बाद मोक्ष है। आजीवक सम्प्रदाय का स्वतंत्र साहित्य और सम्प्रदाय नहीं, पर उनके आध्यात्मिक विकास सम्बन्धी विचार बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

योग दृष्टि समुच्चय में आचार्य हरिभद्र ने ८ दृष्टियों का विश्लेषण किया है। योग के संदर्भ में यह मौलिक चिन्तन है—

मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा एवं परा।

दृष्टि का अर्थ है— ज्ञान, प्रकाश या बोध। जीव को कितने अंश तक बोध मिला है? कितना विकास हुआ है? इसकी मापक हैं ये दृष्टियां। दृष्टियों की बोध ज्योति की तरतमता को उदाहरण से स्पष्ट किया है—

तृण-गोमय-काष्ठाग्नि, कण दीप प्रभोपमा।

रत्न तारार्क चन्द्राभा सद् दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा॥

मित्रा	—	बोध तिनके की अग्नि के कण जितना।
तारा	—	गोबर-छाण की अग्नि के कण जितना।
बला	—	काष्ठ की अग्नि के कण जितना।
दीप्रा	—	दीपक की ज्योति-प्रभा के समान।
स्थिरा	—	रत्न के प्रकाश जितना।
कान्ता	—	तारा के प्रकाश के जितना।
प्रभा	—	सूर्य के प्रकाश के जितना।
परा	—	चन्द्र के प्रकाश के जितना।

आचार्य हरिभद्र ने आठ दृष्टियों में पहली चार को मिथ्यात्व गुणस्थान से जोड़ा है। अगली चार दृष्टियों का सम्बन्ध सम्यक्त्व और चारित्रमय विकास से है जो चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होकर अंतिम अयोगी केवली गुणस्थान से सम्बद्ध है।

ओघ दृष्टि में जीव परिभ्रमण करता रहा है। ओघ का अर्थ है— लोक प्रवाह, पतित दृष्टि। केवल भौतिक सुखों में ओत-प्रोत दृष्टि को ओघ कहा है। ओघ दृष्टि से योग दृष्टि में लाने के लिये ८ दृष्टियों की सीढियों को क्रमशः पार किया जाता है। एक-एक सोपान पर आरोहण करते ज्ञान का क्षेत्र, प्रकाश का विस्तार भी बढ़ता जाता है। प्रकाश की स्थिरता, प्रमाण, काल, क्षेत्र, तीव्रता आदि सबका विचार किया है। विषय सुखाभिलाषी बुद्धि मित्रा दृष्टि में बदल जाती है। आत्मा का पूर्ण लक्ष्य नहीं बनता किन्तु लक्ष्योन्मुख भूमिका प्रस्तुत हो जाती है।

किसी व्यक्ति को उठाने कि लये ४-५ आवाज दी। आखिरी आवाज में नौद टूटी। वह उठा। पहली आवाज में ध्वनि कान से टकराती है किन्तु जागृति नहीं आती।

पहला पत्थर फेंकने से आम नहीं गिरा। आम भले २१वें पत्थर से गिरा हो फिर भी पहले से भूमिका बन जाती है। इन्हें समझने के लिये प्रकाश का उदाहरण बहुत सार्थक है। प्रकाश के कण शुरू होते-होते सूर्य और चन्द्र का प्रकाश प्राप्त होता है।

प्रश्न यह उठता है कि आचार्य ने पहले सूर्य बाद में चांद के प्रकाश की चर्चा क्यों की? चन्द्र का प्रकाश सूर्य से कम है और चन्द्र की कलाएं भी घटती-बढ़ती रहती हैं। इसके पीछे हेतु यह है कि चन्द्र-प्रकाश सौम्य है, शीतल है। अतः परादृष्टि तक पहुंचते साधक की सौम्यता भी बहुत उच्च कोटि में पहुंच जाती है।

योग वसिष्ठ^{३६} में गुण स्थानों के समान ही चौदह भूमिकाएं और हैं। जैसे—

१. बीज जाग्रत — यह चेतना की सुषुप्त अवस्था है।
२. जाग्रत — इसमें अहं और ममत्व का अत्यल्प विकास होता है।
३. महाजाग्रत — इसमें अहं और ममत्व विकसित हो जाते हैं।
४. जाग्रत-स्वप्न — मनो कल्पना की अवस्था है।
५. स्वप्न — स्वप्न चेतना की अवस्था।
६. स्वप्न-जाग्रत — यह स्वप्निल चेतना है।
७. सुषुप्ति — स्वप्नरहित निद्रा की अवस्था है।

इन सात भूमिकाओं का सम्बन्ध अज्ञान से है। ज्ञान की अन्य सात श्रेणियां—

१. शुभेच्छा — कल्याण-कामना।
२. विचारणा — सदाचार में प्रवृत्ति का निर्णय।
३. तनुमानसा — इच्छाओं-वासनाओं के क्षीण होने की स्थिति।
४. सत्त्वापत्ति — शुद्धात्म स्वरूप में अवस्थिति।
५. असंसक्ति — आसक्ति के निरसन की अवस्था।
६. पदार्थाभाविनी — भोगेच्छा का पूर्ण विलय।
७. तूर्यगा — देहातीत अवस्था।

तुलनात्मक दृष्टि से चिंतन करने पर लगता है जैन परम्परा के गुणस्थान सिद्धान्त से उपरोक्त धारणाएं कितनी निकट हैं। आचार्य हरिभद्र ने योग विषयक ग्रन्थों में आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित सहयोगी कुछ तथ्यों का

निरूपण किया है, जो क्रिया^{३७} मोक्ष से जोड़ती है वह योग है। अध्यात्म-विकास में योग का महत्त्व है। उसके पांच बिन्दु^{३८} हैं— अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्ति संक्षय। योग का जहां से प्रारंभ होता है आत्म-विकास की पहली भूमिका है। योग की पूर्णता के साथ आत्म-विकास भी पूर्ण हो जाता है। प्रतिपादन की शैली-भेद से प्रायः सभी दर्शनों ने जीव के विकास क्रम को माना है।



योग विंशिका में विकासकालीन अवस्था के सूचक पांच साधनों का नामोल्लेख किया है— १ स्थान, २ उर्ण, ३ अर्थ, ४ आलंबन, ५ निरालंबन। वैदिक परम्परा में भी आध्यात्मिक विकास की काफी चर्चाएँ हैं।

महर्षि पातंजलि ने विकास की नई व्यवस्थाएँ दीं जो अष्टांग योग के नाम से विख्यात हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि।

प्रो. रानडे ने आध्यात्मिक जीवन-विकास के लिये कुछ बिन्दुओं पर प्रकाश डाला है—

१. जिज्ञासा का स्तर— जिज्ञासा का उद्भव हो अन्यथा आत्म-विकास की भूमिका नहीं बनती। प्रथम कदम है— आत्मा को देखो।
२. स्वयं का बोध—‘विजानीयादहमस्मीति पुरुष’ यह पुरुष मैं ही हूँ। पिछले स्तर से यह कुछ उन्नत स्तर है। इससे दृष्टि अन्तर्मुखी बनती है।
३. आत्मा से तादात्म्य—‘अयमात्माब्रह्म’ यह आत्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्म भाव की अनुभूति। इस क्रम से विकास की धारा वृद्धिगत होती है।
४. मैं ही ब्रह्म हूँ—‘अहं ब्रह्मास्मि’। आत्मा ही ब्रह्म है। पांचवें स्तर पर (सर्व खल्विदं ब्रह्म) सब-कुछ ब्रह्म है।

इस प्रकार जीव की आध्यात्मिक उत्क्रांति में सभी दर्शनों की आस्था रही है। आत्म-विकास के सारे पड़ाव, उत्थान-पतन की सभी प्रक्रियाएँ गुणस्थानों से अभिव्यक्त होती हैं। उन्नति का आदि बिन्दु है—सम्यग्दर्शन। चरम बिन्दु मोक्ष है।

संदर्भ-सूची

१. महापुराण सर्ग ३ श्लोक १९।२०।
२. प्रज्ञापना टीका सू. २३४।
३. गोम्मटसार जीव काण्ड गा. १८६।
४. दर्शन की रूपरेखा पृ. ५१।
५. वही, पृ. ५९।
६. सूत्रकृतांग सू. २ श्रुतस्कंध, अ. ४ सू. ८।
७. तत्त्वार्थ वार्तिक, ९।७।११।६०४।१७।
८. प्रमाण मीमांसा पृ. ४३।
९. माठर का. २७।
१०. भारतीय मनोविज्ञान पृ. १३६।

११. आयुर्वेदिक पदार्थ विज्ञान पृ. १४१।
१२. दर्शन शास्त्र का परिचय पृ. २८०।
१३. सर्वार्थ सिद्ध २।११। २८२।
१४. वही।
१५. पंचाध्यायी ७।३-७।४।
१६. भारतीय दर्शन (डॉ. राधाकृष्णन्)
१७. उत्तराध्ययन, २५।३२।
१८. अध्यात्मसार २।२।
१९. अध्यात्मोपनिषद् १।२।
२०. विशुद्धि मार्ग, भा. १ पृ. ८।
२१. तत्त्वार्थ सूत्र ९।१८।
२२. कर्मग्रन्थ ४ गा. १।
२३. समयसार गा. ५५।
२४. गोम्मटसार गा. १० (जीवकाण्ड)
२५. षट्खण्डागम धवलावृत्ति, प्रथम खंड पृ. १६०।१६१।
२६. जैन तत्त्व प्रकाश, पृ. ४१७, १८, २१, २२।
२७. भाव संग्रह, गा. १६ पृ. ११।
तं पि हु पंचपयारं नियरो स्थंत विणय संजुतं।
संसय अण्णाणं गयं, विपरीयो होइ पुण बंभो।
२८. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ९।१।१३।
२९. लोक प्रकाश, सर्ग ३।
तीव्रधार पर्शु कल्पाऽपूर्वाख्य करणेन हि।
आविष्कृत्य परं वीर्यं ग्रन्थिं भिन्दन्ति केचन।
३०. प्रवचन सारोद्धार द्वार, २२४ गा. १३०२ (टीका)
३१. लोक प्रकाश ६२७,
अथ निवृत्ति करणे नाति स्वच्छाशयात्मना।
करोत्यन्तरकरणमन्तर्मुहुर्तं संमितम्।
३२. चौदह गुणस्थान, पृ. १०४। आस्वादनेन सहवर्तते इति सास्वादनम्।
३३. गुणस्थान क्रमारोह गा. १६। आयुर्वर्धनाति न जीवो मिश्रस्थो न वा।
३४. राजेन्द्र ज्योति पृ. ८३।
३५. मज्झिम निकाय, सुत २।
३६. योगवशिष्ट उत्पत्ति प्रकरण सर्ग, ९२ पृ. ३८७।
३७. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक ११। अध्यात्म विज्ञान, योग प्रवेशिका पृ. १६।
३८. योग बिन्दु श्लोक ३१।
अध्यात्म भावना ध्यानं, समता वृत्ति संक्षयः।
मोक्षेणयोजनाद् योग एष श्रेष्ठोयथोत्तरम्।

सप्तम अध्याय

मोक्ष का स्वरूप-विमर्श

- विभिन्न दार्शनिकों की दृष्टि में मोक्ष की अवधारणा
- मोक्ष की परिभाषा
- मुक्ति शब्द का अभिप्रेत अर्थ वाच्यता
- मुक्ति के पर्याय
- जीव के मुक्त होने की प्रक्रिया
- मुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन
- सिद्ध शिला के पर्याय
- सिद्धों के मौलिक गुण
- मुक्तात्मा की अवगाहना
- मोक्ष और मोक्ष प्राप्ति का मार्ग
- बंधन से मुक्ति की ओर प्रस्थान की प्रक्रिया
- मोक्ष प्राप्ति के पूर्व की कुछ विशेष भूमिकाएं

मोक्ष का स्वरूप : विमर्श

जीवन एक यात्रा है। उसकी पूर्णाहूति है—मोक्ष। मोक्ष ही एक ऐसी धुरी है जिसे आधार मान कर सभी तत्त्वचिंतक क्रियाशील हैं। सभ्यता के उषाकाल से ही मानव-अस्तित्व की समस्या के सम्बन्ध में विविध विचार-पद्धतियां विद्यमान रही हैं। जिनमें एक आधुनिक भौतिकवाद के जनक वृहस्पति द्वारा प्रस्थापित पूर्णतया ऐहिक है। दूसरी पारलौकिक जिसकी आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष में आस्था है।

अस्तित्ववादी विचारधारा का केन्द्र-बिन्दु है—मोक्ष। पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष का प्रमुख स्थान है। धर्म साधन है। मोक्ष साध्य है।

जीवन-प्रवाह का विशिष्ट लक्ष्य मोक्ष है। उसे पाने से पूर्व आत्मा को जन्म-मृत्यु की लम्बी परम्परा से गुजरना पड़ता है। आज विज्ञान भी जीवन को निरुद्देश्य नहीं मानता। जब चार्ल्स डार्विन ने क्रम-विकास के सिद्धांत की घोषणा की तब जीव-विज्ञान के क्षेत्र में हलचल मच गई थी। उन्होंने 'Theory of Evolution' अर्थात् क्रम विकास के सिद्धांत द्वारा जीवन के क्रम को समझाने का प्रयास किया। उन्होंने कहा—विश्व में जितनी योनियां (Species) दिखाई देती हैं वे सब की सब एक क्रम से बंधी हुई हैं। इस क्रम को विकास का क्रम (Process of Evolution) कहकर पुकारा।

इस सिद्धांत की चर्चा का निष्कर्ष यही होगा कि जीवन-प्रवाह का प्रारंभ अमीबा (जीवाणुकोष) से होता है। विविध योनियों को पार करता हुआ मनुष्य योनि तक आता है। विकासवाद की यही पूर्णाहूति है।

जैन दर्शन जीवन प्रवाह को अनादि-अनन्त मानता है। प्रवाह सतत् प्रवहमान एक सरिता है। जन्म से पूर्व के भाग और मृत्यु के बाद के भाग को नहीं देख पाते इससे जीवन का अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता। यह दृष्टि की सीमा है। दृष्टि-शक्ति की परिच्छिन्नता देह और मन के परदे के कारण उपजती है।

जो इस परदे को उठाने में समर्थ है वही जीवन की नित्यता समझ पाता है। उसके लिये काल के तीनों भेद समाप्त हो जाते हैं।

भारतीय दर्शन की महत्त्वपूर्ण विशेषता है—मोक्ष का चिन्तन। मोक्ष का संप्रत्यय भारतीय दर्शनों की अमूल्य निधि है। मोक्ष वह अवस्था है जहां से पुनरागमन नहीं होता।

विभिन्न दार्शनिकों की दृष्टि में मोक्ष की अवधारणा

सांख्य दर्शन में—प्रकृति एवं पुरुष का विवेक ही मोक्ष है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक या आधिदैविक दुःखत्रय से आत्यन्तिक निवृत्ति तथा स्वाभाविक स्थिति की प्राप्ति ही मोक्ष है।^१

गीता में भी कृष्ण कहते हैं—जहां जाकर वापस लौटना नहीं पड़ता वही मेरा धाम है।^२ न्याय-वैशेषिक दर्शन में—दुःख का अत्यन्त वियोग ही मोक्ष है।^३

उनके अभिमत से मुक्तावस्था में बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, ज्ञान आदि नौ विशेष गुण आत्मा से अपगत हो जाते हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति शरीराश्रित है। शरीर के अभाव में उनका अभाव हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त में जीवात्मा एवं आत्मा के तादात्म्य की उपलब्धि मोक्ष है। बंधन अविद्या से होता है। विद्या से उनकी निवृत्ति। अद्वैत के अनुसार मुक्ति न प्राप्य है। न उत्पाद्य। वह साक्षात्कार का विषय है।

मीमांसकों ने आत्मा की स्वाभाविक अवस्था को ही मोक्ष माना है।^४ बंधन तीन हैं—भोगायतन (शरीर) भोग साधन (इन्द्रियां) भोग-विषय (समस्त जागतिक पदार्थ)। इन बंधनों से मुक्त हो जाना मोक्ष है।

जैन दर्शन में—समस्त कर्म समूह का आत्यन्तिक क्षय मोक्ष है।^५ योग एवं कषाय तथा प्रकंपन और वेग का सर्वथा अभाव मोक्ष है। आत्मा की पूर्ण अनावृत अवस्था। सूत्रकृतांग के अनुसार आत्मा की स्वतंत्रता मोक्ष है।^६ बंधन का सर्वथा अभाव मोक्ष है।^७ आत्मा की स्वरूपावस्था मोक्ष है।^८

महावीर ने मोक्ष के स्वरूप और स्थान दोनों के सम्बन्ध में सयौत्तिक विवेचन किया है। समस्त कर्मों के विलय होने पर आत्मा के निर्मल एवं निश्चल स्वरूप की प्राप्ति मोक्ष है। जैन परम्परा में मोक्ष शब्द विशेष रूप से व्यवहृत हुआ है। मोक्ष का सीधा अर्थ है—छूटना। अनादिकाल से जिन कर्मों ने बांध रखा है। उन बंधनों की परतंत्रता को काट देने पर जो बंधा था वह स्वतंत्र हो जाता है। यही उसकी मुक्ति है।

मोक्ष की परिभाषा

मोक्ष शब्द 'आसने' धातु से बना है। तात्पर्य है—कर्मों का उच्छेद हो जाना। बंधनों से छूट जाना मोक्ष है।^१ अकलंक^{१०} और विद्यानंदी^{११} ने आत्मस्वरूप के लाभ होने को मोक्ष कहा है।

मुक्ति शब्द व्याकरण की दृष्टि से 'मुच' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—मोचन। जीव का समस्त कर्मों से मुक्त हो जाना। जब आत्मा^{१२} कर्म रूपी देह से अपने को अलग कर देता है उस समय उसमें स्वाभाविक गुणोदय होता है उसे मोक्ष कहते हैं।

मुक्ति शब्द का अभिप्रेत अर्थ वाच्यता

मुक्ति शब्द का अभिप्रेत अर्थ है— संपूर्ण कर्म वियोग।^{१३} मुक्ति शब्द भाववाचक संज्ञा है। इसका वाच्यार्थ है— बंधन से छूटने की क्रिया या भाव।

मुक्ति के पर्याय

अमर कोश में—मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, श्रेय, निःश्रेय, अमृत, मोक्ष, अपवर्ग आदि अभिवचन हैं। एकार्थक हैं।^{१४}

मोक्ष^{१५}, निर्वाण^{१६}, बहिर्विहार^{१७}, सिद्ध लोक^{१८}, अनुत्तर गति^{१९}, प्रधान गति^{२०}, सुगति^{२१}, वरगति^{२२}, ऊर्ध्वदिशा^{२३}, दुरारोह^{२४}, अपुनरावृत्त^{२५}, शाश्वत^{२६}, अव्याबाध^{२७}, लोकोत्तम^{२८} आदि समानार्थक शब्दों का उल्लेख आगमों में यत्र-तत्र उपलब्ध है।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष के स्थान पर निर्वाण शब्द का प्रयोग मिलता है जो लोकातीत अवस्था का घोटक है। स्वयं बुद्ध कहते हैं—इस अवस्था की अभिव्यक्ति के लिये उनके पास कोई शब्द नहीं है। उन्होंने निर्वाण को 'अच्युत स्थान' कहा है।^{२९} यह अचल, अजर, अमर, क्षेमपद है। अनिवर्चनीय, अवाच्य एवं अवक्तव्य है। निर्वाण का मुख्य आधार कर्म क्षय है।

मिलिन्द प्रश्न में निर्वाण का वर्णन इस प्रकार है— तृष्णा के निरोध हो जाने से उपादान का निरोध हो जाता है। उपादान-निरोध से भव-निरोध, भव-निरोध से जन्म नहीं होता। पुनर्जन्म नहीं होने से वृद्धावस्था, मरना, शोक, रोना, पीटना, दुःख, बेचैनी और परेशानी सभी रुक जाते हैं। इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।

यह एक यथार्थ स्थिति है, जहां संसार का अंत हो जाता है और एक वर्णनातीत शांति प्राप्त होती है।^{३०}

जैन दर्शन का चिंतन गहरा है। निर्वाण शब्द की व्याख्या करता है कि दीपक का बुझ जाना नहीं अपितु रूपान्तरण हो जाना है। वैसे ही जीव का निर्वाण भी अस्तित्व की शून्यता नहीं, वरन् अव्याबाध का प्राप्त हो जाना है।

निर्वाण आत्मा की परिपूर्ण विकास दशा का नाम है। रागात्मक संस्कारों का संपूर्ण विलय ही निर्वाण है। जन्म-मरण की परम्परा का समूल उच्छेद निर्वाण है। समस्त द्वन्द्वों से उपरत हो जाना निर्वाण है।^{३१}

जैनागमों में मोक्ष तत्त्व पर तीन दृष्टियों से विचार किया गया है—भावात्मक, अभावात्मक और अनिर्वचनीय। भावात्मक पक्ष से मोक्षावस्था को निर्वाण कहा है।^{३२} मोक्ष, बाधक तत्त्वों का उन्मूलन एवं आत्म-गुणों की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। आठ कर्मों के क्षय हो जाने से अनन्त चतुष्टय ही नहीं, आत्मा के संपूर्ण गुणों का प्रकटीकरण हो जाता है। जैसे— सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व, प्रकाशत्व, अमूर्तत्व, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, अकार्यकारणत्व, अगुरुलघुत्व, अटल अवगाहना आदि।

अभावात्मक दृष्टिकोण से आचारांग के आधार पर चित्रण इस प्रकार है—मुक्तात्माओं के कर्मजन्य उपाधियोंका अभाव होता है। मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण, न वृत्ताकार है, न परिमण्डल संस्थान वाला है। वर्ण, गंध, रस स्पर्श से मुक्त है। न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है।^{३३}

अनिर्वचनीय दृष्टिकोण से भी आचारांग में सुन्दर व्याख्या है—

सब्बे सरा णियदटंति, तक्का जत्थ ण विज्जइ।

मइ तत्थ ण गाहिया; ओए अप्पतिट्ठाणस्स खेयण्णे।^{३४}

समस्त स्वर वहां से लौट आते हैं। वाणी मूक हो जाती है। तर्क की वहां तक पहुंच नहीं है। बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। अनुपम है। अरूपी है। शब्दों के द्वारा अव्याख्याय है—“उवमाण विज्जइ, अरूवी सत्ता अपयस्स पयं नत्थि।”

बौद्ध दर्शन में कोसलदेश का राजा पसेनदी और भिक्षुणी खेमा के बीच जो रोचक संवाद हुआ, उसमें भी स्वीकार किया गया कि निर्वाण एक वर्णनातीत अवस्था है। जिस प्रकार गंगा की बालू अथवा समुद्रजल के बिन्दुओं की गणना संभव नहीं, निर्वाण के सम्बन्ध में यही स्थिति है। उत्तर देना असंभव है।

आचार्य हरिभद्र ने कहा— परिभाषाओं में भेद हो सकता है पर तत्त्व में कोई अंतर नहीं। संसारातीत तत्त्व जिसे निर्वाण कहते हैं, अनेक नामों से प्रसिद्ध है किन्तु एक ही है।^{३५}

उपनिषद में ऐसा ही साम्य सूत्र उपलब्ध है—“यतो वाचा निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह। आनन्दः ब्रह्मणो विद्वान्, न विभेति कदाचन।”

जीव के मुक्त होने की प्रक्रिया

जिस प्रकार अनुकूल^{३६} पवन से नौका पार पहुंचती है, वैसी ही शुद्ध भावना से आत्मा मुक्त होती है। जीव^{३७} का क्रमिक आरोह जानने की दृष्टि से दशवैकालिक का चतुर्थ अध्ययन बहुत उपयोगी है। वहां आरोहण की सोपान वीथियों का सुव्यवस्थित आकलन है।

वैदिक^{३८} दर्शन में मुक्त होने की क्रम व्यवस्था में चार पहलुओं का उल्लेख है—

१. सामीप्य — दिव्य के साथ घनिष्ठता।
२. सारूप्य — दिव्य के साथ स्वरूप की समानता जो उसके तेज को प्रतिबिम्बित करती है।
३. सालोक्य — दिव्य के साथ एक ही लोक में सचेत। सह अस्तित्व।
४. सायुज्य — दिव्य के साथ संयोग जो एकरूपता के समान है।

वैदिक और अवैदिक दर्शनों में मुक्ति की क्रम व्यवस्था में कहीं संक्षिप्त, कहीं विस्तार से वर्णन मिलता है।

मुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन

मुक्त जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर से मुक्त अविग्रह गति से वहां पहुंचता है। तत्त्वार्थ सूत्र में मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के ४ कारण बताये हैं— १ पूर्व प्रयोग, २ संग का अभाव, ३ बंधन-मुक्त, ४ गति परिणाम।

१. पूर्व प्रयोग^{३९}—(पूर्व प्रयोगात् अविरोद्ध कुलाल चक्रवत्)। जैसे—कुंभार का चाक, डंडा और हाथ हटा देने पर भी पूर्वप्राप्त वेग के कारण चक्र घूमता रहता है वैसे ही कर्म-मुक्त जीव पूर्व कर्म से प्राप्त वेग के कारण स्वभाव से ऊर्ध्व गति करता है।

प्रश्न—भंते ! क्या अकर्म के गति होती है ?

गौतम ! होती है।

भंते ! अकर्म के गति कैसे होती है ?

गौतम ! निस्संगता, निरञ्जनता, गति-परिणाम, बंधन-छेदन, निरिन्धनता और पूर्व प्रयोग इन कारणों से अकर्म के गति कैसे होती है ?

गौतम ! जैसे कोई पुरुष सूखे, निश्छिद्र और निरुपहत तुम्बे का पहले परिकर्म करता है फिर दर्भ और कुश से उसका वेष्टन करता है। वेष्टन कर आठ मिट्टी के लेपों से लीपता है। धूप में सुखा देता है। फिर उसे अथाह, अतरणाय पुरुष से अधिक गहरे जल में प्रक्षिप्त करता है।

गौतम ! क्या वह गुरुता से, भारीपन से जल में नीचे धरातल पर प्रतिष्ठित होता है ?

हां भगवन ! होता है।

यदि वह लेप रहित, भारीपन से मुक्त होकर क्या जल में नीचे जायेगा ?

नहीं। वह उपर ही तैरता है।

गौतम ! इसी प्रकार निस्संगता आदि कारणों से अकर्म के गति होती है।

भंते ! बंधन का छेदन होने से अकर्म के गति कैसे होती है ?

गौतम ! जैसे कोई गोल चने की फली, मूंग की फली, उड़द की फली, शाल्मली की फली या एरण्ड फल धूप लगने से सूख जाता है। उसके बीज प्रस्फुटित हो ऊपर की ओर उछल जाते हैं। इसी प्रकार बंधन-छेदन होने पर अकर्म के गति होती है।

भंते ! निरिन्धन होने से अकर्म के गति कैसे होती है ?

गौतम ! जैसे ईंधन से मुक्त धुएं की गति स्वभाव से ही किसी व्याघात के बिना ऊपर की ओर होती है इसी प्रकार निरिन्धनता से अकर्म की गति होती है।

भंते ! पूर्व प्रयोग से अकर्म के गति कैसे होती है ?

गौतम ! जैसे धनुष्य से छूटे वाण की निर्व्याघात लक्ष्य की ओर गति होती है। इसी प्रकार पूर्व प्रयोग से अकर्म के गति होती है।

२. संग का अभाव^{४०}—(असंगत्वात् व्यपगत लेपालाम्बुवत्) जैसे अनेक लेपों से युक्त तुम्बी जल के तल में पड़ी रहती है किन्तु मिट्टी की परतें हटते ही

जलाशय के ऊपरी तल पर आ जाती है। वह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार प्रतिबंध कर्म द्रव्य से मुक्त होते ही जीवात्मा लोकान्त के अग्रभाग पर अवस्थित होता है। मुच्यमान जीव की गति लोकान्त तक ही है, आगे नहीं जा सकते।

३. बंधन का छूटना^{४१}—(बन्ध छेदात् एरण्ड बीजवत्) एरंड बीज फली के टूटते ही छिटक कर उपर उठता है, वैसे ही कर्म बंध के छेदन से जीवात्मा ऊर्ध्वगति करता है।

४. गति परिणाम^{४२}—(गति परिणामाच्च अग्नि शिखावच्च) अग्नि शिखा स्वभाव से ही ऊपर की ओर उठती है वैसे ही जीव की स्वाभाविक शक्ति एवं गति के रोकने वाले कर्मों के नष्ट होते ही जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

भगवती में अकर्मा की गति के हेतुओं का वर्णन है। 'गोयमा ! निस्संगयाए, निरंगणयाए, गति परिमाणेणं, बंध छेदाणयाए, निरंधणयाए, पुव्व पओगेणं अकम्मस्स गति पणणायति'—^{४३} निस्संगता, निरंजनता, गति परिणाम, बंधन-छेदन, निरिन्धनता, जैसे अग्नि शिखा की स्वभावतः ऊर्ध्वगति है। पूर्व प्रयोग से अकर्मा की ऊर्ध्वगति होती है। मुक्त^{४४} आत्मा की लोकान्त से आगे गति नहीं। कारण गति सहायक धर्मास्तिकाय का वहां अभाव है। लोकान्त में जाकर जीव वहीं स्थान विशेष पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

महावीर से पूछा— मुक्त जीव कहां प्रतिहत होते हैं? कहां प्रतिष्ठित होते हैं? कहां शरीर छोड़ते हैं? कहां जाकर सिद्ध होते हैं?

उत्तर में कहा— अलोक में प्रतिहत है। लोकाग्र में प्रतिष्ठित है। मनुष्य लोक में शरीर छोड़ते हैं। लोकाग्र में सिद्ध होते हैं।^{४५} वहां पहुंचने पर पुनः जन्म नहीं होता। आत्मा वहां शाश्वत है। जीव और पुद्गल दोनों गतिशील द्रव्य हैं। अंतर इतना है कि पुद्गल की स्वाभाविक गति अधोमुखी है और जीव की ऊर्ध्वगति। इसलिये मुक्त होने पर पुनः संसार में नहीं आते।

सांख्य^{४६} एवं वेदान्त^{४७} भी मुक्त आत्मा का संसार में पुनरागमन नहीं मानते। गीता में जब-जब धर्म का हास होता है तब धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिये भगवान पुनरवतार लेते हैं। आजीवक^{४८} मतानुयायी तथा सदाशिववादी^{४९} भी इस मान्यता के पक्षधर हैं।

किन्तु यह धारणा न्यायसंगत नहीं लगती। व्यवहार की भूमिका पर ज्ञात होता है गुरुत्व स्वभाव वाले पदार्थ ऊपर से नीचे आते हैं। धुआं ऊपर उठता है। मुक्त जीवों का स्वभाव अगुरुलघु है अतः ऊर्ध्वगमन सहज है।

दूसरा तथ्य यह है कि मुक्त आत्माओं के संसार में आने का कोई कारण ही नहीं रहा, वे संसार में कैसे आ सकते हैं ?

जहा दंडाणं वीयाणं न जायंति पुणंकुरा।

कम्मवीएसु दंडेसु न जायंति भवांकुरा।।^{५०}

बीज के दग्ध हो जाने पर अंकुरित नहीं होते वैसे ही कर्म मुक्त आत्माओं के जन्म-मरण नहीं होते।

तर्क उठता है, यदि मुक्तात्माओं का पुनरागमन नहीं है तो सभी जीवों के मुक्त होने पर क्या संसार^{५१} जीवशून्य नहीं हो जायेगा? जैन दर्शन इस तर्क को आधारहीन मानता है। कारण जितने जीव मुक्त होते हैं उतने ही जीव निगोद या अव्यवहार राशि^{५२} से व्यवहार राशि में आ जाते हैं। अव्यवहार राशि का अक्षय खजाना कभी खाली नहीं होता।

गोम्मटसार^{५३} में भी निर्देश है कि आठ समय अधिक छह मास में जितने जीव मोक्ष में जाते हैं उतने ही नित्य निगोद से निकल कर व्यवहार राशि में आ जाते हैं।

इस प्रकार जीवों के आयात की मान्यता, जैन दर्शन का गहरा और तलस्पर्शी चिंतन है जो अन्यत्र दुर्लभ है। जैन दर्शनानुसार संसार कभी जीव शून्य हो नहीं सकता। क्योंकि भव्य जीवों के समान अभव्य^{५४} जीव भी हैं, जिनकी मुक्ति कभी त्रिकाल में भी संभव नहीं। अभव्य के साथी कुछ भव्य जीव भी ऐसे हैं, मोक्ष नहीं जाते अतः संसार के खाली होने का संदेह भी व्यर्थ है।

जीव राशि अनंत है। अनंत का अंत कैसे होगा? गणितीय समीकरण में भी संख्या के क्षेत्र में अनंत में से अनंत को निकालें तो कितने शेष रहेंगे? उत्तर होगा—अनंत ही। अनंत का अंत कभी होगा ही नहीं। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमिवावशिष्यते (वृ.उ.अ.५ प्रथम ब्राह्मण१) यह सूक्त इसका संवादी कहा जा सकता है।

भगवती सूत्र में मोक्ष के संबंध में निरूपण है—“हंता ? सिज्झइ, बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाइ, सब्ब दुक्खाण अंतं करेइ”^{५५}—यहां मुक्त होने की पांच अवस्थाओं का प्रतिपादन है।

१. सिद्ध होना — जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया, वह सिद्ध अवस्था है।

२. प्रशान्त होना — बुझ जाना। जन्म-मृत्यु की आग बुझ जाती है।

३. मुक्त होना — समस्त कर्मों से मुक्त हो जाना।
४. परिनिर्वृत होना — गतिरहित हो जाना।
५. दुःखमुक्त होना — जहां किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता।

मुक्त होने की अर्हता पर विचार करें तो मनुष्य दो प्रकार के होते हैं— छद्मस्थ और केवली। जिनका ज्ञान आवृत है वह छद्मस्थ है। ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्मों के क्षीण होने पर केवली बन जाते हैं। छद्मस्थ मुक्त नहीं हो सकता। केवली मुक्त होता है। मुक्त होने के लिये सर्वज्ञता अनिवार्य है।

न्याय-वैशेषिक वाले सर्वज्ञता की अनिवार्यता स्वीकार नहीं करते। उनके अभिमत से मोक्ष जाने के बाद भी सर्वज्ञ योगियों में पूर्ण ज्ञान शेष नहीं रहता क्योंकि ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान की तरह नित्य नहीं है। योगजन्य होने से अनित्य है। मुक्ति के लिये सर्वज्ञता आवश्यक नहीं, बल्कि क्लेशों का नाश होना आवश्यक है।

सांख्य-योग की धारणा भी न्याय-वैशेषिक जैसी ही है। सांख्य के अनुसार मुक्ति का हेतु 'विवेक ख्याति' है।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष के लिये बोधि जरूरी है। उस वीतरागता से मुक्ति हो जाती है, सर्वज्ञता अनिवार्य शर्त नहीं है।

जैन दर्शन इसका प्रबल समर्थक है कि मोक्ष के लिये सर्वज्ञ होना जरूरी है। प्रत्येक आत्मा में ईश्वरीय शक्ति विद्यमान है। कार्य-कारण की परम्परा चल रही है, उसका सर्जक पुरुष ही है। वही अपने प्रबल पुरुषार्थ के बल पर उस धारा को मोड़ भी सकता है। सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है।

कर्मों से मुक्त होना ही मुक्ति है। संग्रहनय की अपेक्षा मुक्ति में भेद नहीं होता।^{५६} वह एक ही प्रकार की है किन्तु व्यवहार नय से द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद हो जाते हैं। आत्मा से समस्त कर्मों का अलग हो जाना द्रव्य मोक्ष है।^{५७} कर्म क्षय में हेतुभूत आत्मा की विशुद्ध परिणाम धारा भाव मोक्ष है।^{५८} यही यथार्थ है।

अनात्मभाव से मुक्त हो आत्मभाव में स्थित हो जाना मोक्ष है। यह सर्व मान्य है किन्तु मोक्ष प्राप्ति की योग्यता हर किसी में नहीं होती। उसकी पृष्ठभूमि में कुछ हेतु अनिवार्य अपेक्षित हैं। जैसे—१. आर्य देश, २. उत्तम कुल, ३. उत्तम जाति, ४. त्रसत्त्व, ५. स्वस्थ शरीर, ६. आत्म-बल, ७. दीर्घायु, ८. मनुष्यत्व,

९. पंचेन्द्रियत्व, १०. सम्यक्त्व, ११. शील संप्राप्ति, १२. क्षायिक भाव, १३. केवल ज्ञान, १४. मोक्ष आदि।

प्रश्न यह है, मुक्त आत्माएं कहां रहती हैं ? उनके रहने का स्थान लोक के किस भाग में है ? कैसा है ?

भक्तिमार्गी वेदान्ती के मत से विष्णु भगवान के विष्णुलोक में जो ऊर्ध्वलोक है वहां मुक्त जीवात्मा का गमन होता है। जैनतर लोग जिसे विष्णुलोक, गौलोक या वैकुण्ठधाम कहते हैं।

भागवत^{५९} आदि दर्शनों में अपुनर्भव मुक्ति को माना है। जो अवस्था अव्यक्त एवं अक्षर है उसे परमगति कहते हैं।

जैन दर्शन में उसे मुक्ति या सिद्धालय कहा जाता है। वह लोक के अग्रभाग^{६०} में है। मानव क्षेत्र एवं मुक्ति क्षेत्र का आयाम— विष्कंभ समान है। समश्रेणी में अवस्थित है। दोनों की लम्बाई-चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है। परिधि घेरा १ करोड़ ८२ लाख ३० हजार दौ सो योजन से कुछ अधिक है। सिद्धशिला^{६१} श्वेत स्वर्णमयी है। श्लक्ष्ण है। मसृण है। कोमल, चमकदार और नीरज-निष्पंक है। छत्ते के आकार में है। मध्यभाग की मोटाई आठ योजन की है। अंतिम छोर मक्षिका के पांख जैसा पतला है। अनंत संख्या में सिद्ध आत्मा वहां रहती हैं।

वहां जन्म-मरण, जरा, व्याधि की पीड़ा नहीं। वह भूमि निर्वाण, सिद्धि, अव्यावाध, लोकाग्र, शिव के रूप में विख्यात है।^{६२}

सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-मव्वावाह-अपुणराविति आदि अनेक विशेषणों से मुक्ति का मूल्यांकन किया है—

शिव — यह कल्याण और अनंत सुख का अर्थवाचक है। सिद्धगति भी अनंत सुख की दायिका है।

अचल — वह स्थान अचल है।

अरुज — रोगमुक्त है।

अनंत — अन्तरहित है। सिद्धों का ज्ञान भी अनंत है।

अक्षय — सिद्धगति का कभी क्षय नहीं होता। उनकी अवगाहना अटल है।

अव्यावाध — पीड़ाव्याधि रहित है।

अपुनरावृत्ति — पुनरागमन नहीं होता।

मुक्ति-स्थान स्वयं प्रकाशमय है, सूर्य-चन्द्र के प्रकाश की वहां अपेक्षा नहीं है। गोमटसार^{६३}, धवला आदि में भी सिद्ध शिला का वर्णन है।

सिद्ध शिला के पर्याय

औपपातिक सूत्र में बारह नामों का उल्लेख है^{६४}— १ ईषत्, २ ईषत् प्राग्भारा, ३ तन, ४ तनूतनू, ५ सिद्धि, ६ सिद्धालय, ७ मुक्ति, ८ मुक्तालय, ९ लोकाग्र, १० लोकाग्र स्तुपिका, ११ लोकाग्र प्रतिबोधना, १२ निर्वाण।

सिद्ध भगवान की वहां अवस्थिति के कारण उसे सिद्ध-क्षेत्र भी कहा जाता है। सिद्धों के भी अनेक पर्यावाची नाम हैं। औपपातिक आदि आगमों में— सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परंपरागत, उन्मुक्त, अजर, अमर, असंग आदि नामों का उल्लेख है। उववाईसूत्र^{६५} में सिद्ध अशरीरी तथा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन आदि गुणों में अवस्थित होते हैं।

उत्तराध्ययन^{६६} अ.२३ में जीव के अमरत्व एवं निर्वाण के विषय में परूपित है कि 'वह सुरक्षित है, नित्य है एवं शांत है। वहां पहुंचना दुष्कर है फिर भी महर्षियों ने प्राप्त किया है। वे दुःखों से मुक्त, जन्म-मरण से मुक्त हैं। ज्योतिर्मय चैतन्य हैं।' तत्त्वार्थ सूत्र^{६७} में कहा— निर्वाण में समस्त आस्रव एवं बंध के कारण निर्जीव हो जाते हैं। वैदिक दर्शन में मुक्तात्मा के अमृतत्व को नेति-नेति कहकर व्यक्त किया है।

आचार्य शिवकोटि^{६८} ने सिद्धों के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है— अकषायत्व, अवेदत्व, अकारकत्व, शरीर रहितत्व, अचेलत्व, अलेपत्व।

सिद्धों के मौलिक गुण

सिद्धों के मौलिक गुण आठ हैं। आठ कर्मों के क्षय होने से उन गुणों का आविर्भाव होता है—

- | | |
|---------------|---------------|
| १. केवल ज्ञान | ५. अटल अवगाहन |
| २. केवल दर्शन | ६. अमूर्ति |
| ३. असंवेदन | ७. अगुरुलघु |
| ४. आत्मरमण | ८. निरंतराय |

समस्त कर्म समूह से पृथक् होते ही चार बातें घटित होती हैं— १. औपशमिक भावों की व्युच्छित्ति, २. शरीर से मुक्ति, ३. ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन, ४. लोकान्त में अवस्थिति।^{६९}

प्रश्न उठता है, सिद्ध (मुक्तात्मा) लोकान्त से आगे क्यों नहीं जाते? स्थानांग सूत्र^{१०} में इसके चार करणों का उल्लेख है—

१. आगे गति का अभाव होने से, धर्मास्तिकाय का अभाव होने से,
२. धर्मास्तिकाय लोक की सीमा पर नियन्ता के रूप में खड़ा है जिसके कारण जीव अपनी यात्रा उसी सीमा तक कर सकते हैं, ३. लोकान्त में परमाणुओं के रुक्ष होने से, ४. अनादिकालीन स्वभाव होने से।

प्रश्न : मुक्त आत्माओं में इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का अभाव है। तब अतीन्द्रिय केवल ज्ञान से पदार्थों को कैसे जानते हैं?

उत्तर : केवलज्ञान दर्पण के समान है। जैसे दर्पण में पदार्थ सामने आते ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। वैसे ही केवलज्ञान में सभी पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। उन्हें पदार्थ जानने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

प्रश्न : एक स्थान में अनेक सिद्ध कैसे रहते हैं ?

उत्तर : जैसे एक कमरे में अनेक बल्बों या दीपकों का प्रकाश परस्पर मिल जाता है। टकराता नहीं , वैसे ही मुक्त जीवों के ज्योतिर्मय आत्म-प्रदेश परस्पर अवगाढ होकर स्थित हो जाते हैं।

एक हॉल में धूप जलाया। सुगंध पूरे हॉल में व्याप्त है। धूप है। हवा है। संगीत है। व्यक्ति भी बैठे हैं। कोई सुगंध का कण न ध्वनि से टकराता है। न धूप के अणु हवा के अणुओं को बाहर निकालते हैं। न स्थान खाली करना पड़ता है। न किसी को किसी से शिकायत है, न स्थान का अभाव महसूस किया जाता है। ऐसी स्थिति मोक्ष की है।

जिस प्रकार^{११} नदियां समुद्र में जाकर विलुप्त हो जाती हैं, अपने पृथक् नाम-रूप को खोकर समुद्र में एकाकार दिखती हैं इसी प्रकार ज्ञानी-पुरुष नाम-रूप से मुक्त हो ज्योति में ज्योति रूप विलीन हो जाते हैं।

सभी दर्शनों के अंतिम साध्य के संदर्भ में चिन्तन करें तो दो पक्ष सामने आते हैं। प्रथम पक्ष का अंतिम साध्य सुख नहीं। उनके अभिमत का आधार यह है कि मोक्ष में शाश्वत सुख नामक कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। उसमें जो-कुछ है दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है। दूसरा पक्ष शाश्वत सुख को मोक्ष कहता है। वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, जैन दर्शन के आधार पर मुक्त जीवों का सुख शाश्वत है। अनंत और अनुपम है।^{१२} विश्व में कोई भी ऐसा उपमेय दृष्टिपथ में

नहीं आता जिससे मोक्ष-सुखों को उपमित किया जा सके। अवर्णनीय है। अनुपमेय है। अतुलनीय है।

स्वर्ग^{७३} में देवों के त्रैकालिक सुखों को अनंत से गुणा किया जाये तो भी मोक्ष-सुख के एक क्षण के सुख की तुलना में नहीं आ सकते। उसी प्रकार एक मुक्तात्मा के सर्व काल की संचित सुखराशि को अनंत वर्गमूल से विभाजित करने पर जब एक समय की सुखराशि शेष रहे, वह भी सारे आकाश में समा नहीं सकती।^{७४}

निर्वाण शब्द की व्याख्या भी दुःख निवृत्ति और सुख के आत्यन्तिक स्वरूप की ओर ही संकेत है। अभिधम्म महाविभाषा में 'निर्वाण' शब्द की व्युत्पत्तियां इस प्रकार हैं—निर् का अर्थ है छोड़ना। 'वाण' का अर्थ पुनर्जन्म, अर्थात् पुनर्जन्म के सभी रास्तों को छोड़ देना।

दूसरा अर्थ है—वाण यानी दुर्गन्ध, निर् यानी नहीं। दुःख देने वाले कर्मों की दुर्गन्धता से पूर्णतया मुक्त है।

'वाण' का तीसरा अर्थ घना जंगल है और निर् का अर्थ है स्थायी रूप से छुटकारा पाना। 'वाण' का चतुर्थ का अर्थ है बुनना। निर् का अर्थ नहीं है। अतः निर्वाण ऐसी स्थिति है जो सभी प्रकार के दुःख देने वाले कर्म रूपी धागों से जो जन्म-मरण का धागा बुनते हैं उनसे पूर्ण मुक्ति है।

मुक्तात्मा की अवगाहना (आकार)

जिस शरीर से जीव मुक्त होता है ^{७५}, उस शरीर का जितना आकार होता है उससे तृतीय भाग न्यून विस्तार क्षेत्र में आत्म-प्रदेश व्याप्त हो जाते हैं। अंतिम शरीर से तृतीय भाग न्यून होने का कारण है शरीर में कुछ अंगोपांग खोखले होते हैं। उनमें आत्म-प्रदेश नहीं होते। इस दृष्टि से न्यूनता का उल्लेख है। मुक्तात्माओं में जो आकृति की कल्पना की गई है। वह अंतिम शरीर के आधार पर है। उनमें रूपादि का अभाव है। तथापि आकाश प्रदेश में जो आत्म-प्रदेश ठहरे हुए हैं उस अपेक्षा से आकार कहा है।

प्रश्न यह है—मुक्त जीवों के शरीर नहीं है इसलिये आत्म-प्रदेश या तो अणुरूप या व्यापक क्यों नहीं होते? पूर्व जन्म की अपेक्षा तृतीय भाग न्यून कहा है इसके पीछे रहस्य क्या है? समाधान यह है—संसार अवस्था में जीव को शरीर परिमाण माना है। अणु या व्यापक नहीं। अतः मोक्ष में भी अणु और व्यापक नहीं हो सकती। आत्मा में जो संकोच-विस्तार की क्षमता कर्मजन्य

शरीर के फलस्वरूप है। मुक्ति में शरीर न होने से तज्जन्य संकोच-विस्तार नहीं है। मुक्तात्माओं में अवगाहना अंतिम शरीर के आधार पर मानी है।

अवगाहना के तीन प्रकार हैं— उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।

१. उत्कृष्ट अवगाहना— मुक्त जीव की ऊंचाई ५०० धनुष्य की होती है तो मुक्ति-क्षेत्र में उसके आत्म प्रदेश ३३३ धनुष्य ३२ अंगुल ऊंचाई में व्याप्त होते हैं।
२. मध्यम अवगाहना—मुक्तात्मा के देह की ऊंचाई सात हाथ की हो तो उसके आत्म-प्रदेश ४ हाथ १६ अंगुल की ऊंचाई रहेगी।
३. जघन्य अवगाहना—मुक्तात्मा यदि २ हाथ की हो तो उसके आत्म-प्रदेश १ हाथ एवं ८ अंगुल की ऊंचाई वाले होंगे।

जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना के बीच मध्यम ऊंचाई के अनेक प्रकार हो सकते हैं। प्रश्न होता है निराकार आत्मा का आकार कैसे ?

जैन दर्शन सापेक्षवादी है। निश्चय और व्यवहार दोनों को लेकर चलता है। निश्चय दृष्टि से मुक्तात्मा निराकार है किन्तु व्यवहार दृष्टि से जिस संस्थान से सिद्ध होते हैं। उसका दो तिहाई भाग वहां होता है।

मुक्त होने की प्रक्रिया एक जैसी है किन्तु मुक्त होने के पूर्व की जो अवस्था होती है। उसके आधार पर पन्द्रह प्रकार होते हैं—

- | | | |
|-----------------|-----------------|-------------------|
| १. तीर्थ सिद्ध | २. अतीर्थ सिद्ध | ३. तीर्थंकर |
| ४. अतीर्थंकर | ५. स्वयं बुद्ध | ६. प्रत्येक बुद्ध |
| ७. बुद्धबोधित | ८. स्त्री लिंग | ९. पुरुष लिंग |
| १०. नपुंसक लिंग | ११. स्वलिंग | १२. अन्यलिंग |
| १३. गृह लिंग | १४. एक सिद्ध | १५. अनेक सिद्ध |

उत्तराध्ययन में कुछ अलग प्रकार से भेद किये हैं—

- | | | |
|--------------------------|-----------------------|----------------|
| १. स्त्रीलिंग | २. पुरुष लिंग | ३. नपुंसक लिंग |
| ४. स्वलिंग | ५. अन्यलिंग | ६. गृहलिंग |
| ७. उत्कृष्ट अवगाहना वाले | ८. मध्यम अवगाहना वाले | |
| ९. जघन्य अवगाहना वाले | १०. ऊर्ध्वलोक से | |
| ११. अधोलोक से | १२. तिर्यक् लोक से | |
| १३. जल में सिद्ध | १४. समुद्र में सिद्ध | |

नदी सूत्र^{७६} और प्रज्ञापना में सिद्ध जीवों के अनंतर एवं परस्पर दो भेद हैं। अनंतर सिद्धों के पन्द्रह प्रकार हैं। जिनका ऊपर जिक्र कर चुके हैं।

मोक्ष और मोक्ष प्राप्ति का मार्ग

भारतीय दर्शन मूल्यपरक दर्शन है। मूल्यों की महत्ता और उपादेयता देश, काल से आक्रांत नहीं होती। सदा जीवंत है। प्राचीन वाङ्मय में चार प्रकार के पुरुषार्थ की चर्चा है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन्हें मूल्यों के रूप में व्याख्यायित करें तो सर्वोच्च मूल्य है—मोक्ष। पश्चिमी जगत में नैतिकता एवं समाज हितकारी प्रवृत्तियों की प्रधानता है वहां भारतीय मनीषियों ने दुःखों के आत्यन्तिक विनाश को मुख्यता देकर इससे संदर्भित सभी विषयों को अन्तर्गर्भित कर दिया है।

मुख्य ध्येय है—मोक्ष-प्राप्ति। बौद्ध दर्शन के अनुसार मोक्ष में जीव का अभाव है। विद्यानन्दी ने कहा—बौद्धों की यह मान्यता न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि मोक्ष में जीव के अभाव को सिद्ध करने वाला न तो कोई निर्दोष प्रमाण है, न कोई सम्यक् हेतु।

दीपक बुझ जाने से प्रकाश का अंत मानना भी अनुचित है। प्रकाश का अंत नहीं होता बल्कि तैजस् परमाणु अंधकार में रूपान्तरित हो जाते हैं। उसी प्रकार मोक्ष में जीव का विनाश नहीं, कर्म क्षय होते ही आत्मा अपनी शुद्ध चेतनावस्था में परिवर्तित हो जाती है।

मुक्त जीव सर्वलोकव्यापी भी नहीं होते। कारण संसारी जीव के संकोच-विस्तार का हेतु शरीर नाम कर्म है। मोक्ष में नाम कर्म का अभाव है। अतः कारण के बिना कार्य संभव नहीं।

न्याय-वैशेषिक, कुमारिल भट्ट आदि का सिद्धांत है कि बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार प्रभृति का समूल उच्छेद होना ही मोक्ष है। जैनों को मोक्ष का यह स्वरूप मान्य नहीं है।^{७७}

अद्वैत वेदान्ती मोक्ष को ज्ञान स्वरूप न मानकर केवल अनन्त सुख स्वरूप मानते हैं, आनन्द को चिद्रूपता की तरह एकान्त नित्य मानना जैनों को स्वीकार नहीं। संसार में एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य कोई वस्तु नहीं है बल्कि नित्यानित्य है।

मोक्ष आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था है जिसमें उसका किसी भी विजातीय तत्त्व के साथ संयोग नहीं रहता। आत्मा स्व-स्वरूप में स्थिर हो जाती है।

अब हमें मोक्ष-मार्ग पर चिंतन करना है। मार्ग का अर्थ है— खोज।^{१८} जिसमें मोक्ष मार्ग का अन्वेषण होता है, वह मोक्ष मार्ग कहलाता है। मोक्ष प्राप्य है। मार्ग है— उसकी प्राप्ति का उपाय।

सूत्रकृतांग सूत्र में मार्ग के समानार्थक कुछ शब्दों का उल्लेख मिलता है। जैसे-पंथ, मार्ग, न्याय, विधि, धृति, सुगति, हित, सुख, पथ्य, श्रेय, निवृत्ति, निर्वाण, शिव आदि। इनकी द्रव्य-भाव रूप से विवक्षा की गई है।

संक्षेप में मुक्ति का पथ है— क्षायिक भाव। विस्तार से सम्यक् ज्ञान (Right Knowledge) सम्यक् दर्शन (Right Belief) सम्यक् चारित्र (Right Conduct)। मोक्ष प्राप्ति के लिये कहीं सम्यक् ज्ञान को विशेष महत्त्व दिया है तो कहीं सम्यक् दर्शन को एवं कहीं सम्यक् चारित्र को। आचारांग में ज्ञान को ही कर्म बन्धन तोड़ने का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना है किन्तु यह कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति में तीनों साधन एक-दूसरे से सम्बन्ध हैं। अतः एक के उल्लेख से तीनों पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश पड़ता है।

उत्तराध्ययन^{१९} में सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप रूप चतुर्विध मोक्ष-मार्ग का विधान है। तप का समावेश चारित्र में किया जाता है इसलिये तीन रत्न का ही अधिक उल्लेख किया जाता है। रत्नत्रयी मोक्ष प्राप्ति के हेतु हैं। इनकी तुलना वैदिक परम्परा में भक्ति, ज्ञान और कर्म से तथा बौद्धों के शील, समाधि और प्रज्ञा से की जा सकती है।

पूर्णता की प्राप्ति के लिये इन तीनों के पार्थक्य के बदले त्रयी की संयुक्त अवस्था आवश्यक है। हृदय, मस्तिष्क और हस्त के जैसा तीनों का परस्पर सम्बन्ध है।

तथागत बुद्ध ने १ सम्यक् दृष्टि, २ सम्यक् संकल्प, ३ सम्यक् वाक, ४ सम्यक् कर्मान्त, ५ सम्यक् आजीविका, ६ सम्यक् व्यायाम, ७ सम्यक् स्मृति, ८ सम्यक् समाधि को आर्य अष्टांग-मार्ग कहा है।^{२०} अन्य मार्गों में इन्हें श्रेष्ठ माना है।^{२१}

वैदिक परम्परा में परम सत्ता के तीन पक्ष माने हैं— सत्य, शिव और सुन्दर। सत्य की उपलब्धि के लिये ज्ञान, शिव की उपलब्धि के लिये सेवा या कर्म और सुन्दर की उपलब्धि के लिये भाव व श्रद्धा है।

गीता में प्रकारान्तर से प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख है। प्रणिपात—श्रद्धा, परिप्रश्न—ज्ञान और सेवा-कर्म के ही द्योतक हैं। उपनिषदों में श्रवण, मनन, निदिध्यासन के रूप में त्रिविध साधना का निरूपण है जो श्रद्धा, ज्ञान और कर्म का ही संकेत है।

वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, वेदान्त ज्ञान को अत्यधिक महत्त्व देते हैं।^{८२} कुमारिल भट्ट ने कर्म और ज्ञान को, रामानुज ने भक्ति को मोक्ष-मार्ग में प्रमुख माना है, जैनों ने रत्नत्रयी को। जैन दार्शनिकों ने तीनों की समन्विति पर बल दिया है। मूलाचार में उपमा देकर समझाया है— जहाज चलाने वाला नियामक ज्ञान है। पवन के स्थान पर ध्यान है। जहाज चारित्र है। एकान्तवाद को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार दर्शन के बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान के अभाव में आचरण में निर्मलता नहीं आती और बिना सम्यक् आचरण के मुक्ति असंभव है।^{८३}

पाश्चात्य दार्शनिकों ने तीन नैतिक आदेश बताये हैं— नो दाइसेल्फ (अपने को जानो) एक्सेप्ट दाइसेल्फ (अपने को स्वीकार करो) बी दाइसेल्फ (अपने में बने रहो।)

इस प्रकार समन्वय की दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञान, भक्ति और कर्म; शील, समाधि और प्रज्ञा; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र यह मोक्ष मार्ग है। शब्द भेद होते हुए भी अर्थ साम्य है।

जैन	बौद्ध	गीता	वैदिक	उपनिषद	पाश्चात्य दर्शन
दर्शन	शील	ज्ञान	सत्य	श्रवण	नो दाइसेल्फ
ज्ञान	समाधि	भक्ति	शिव	मनन	एक्सेप्ट दाइसेल्फ
चारित्र	प्रज्ञा	कर्म	सुन्दर	निदिध्यासन	बी दाइसेल्फ

आत्म शक्ति की विशुद्ध श्रद्धा, पुष्ट ज्ञान और तदनुरूप प्रवृत्ति करने पर ही साधक साध्य को प्राप्त कर सकेगा।

दर्शन शब्द अनेक अर्थों का संवाहक है किन्तु जैनागमों में विशिष्ट अर्थ में इसका प्रयोग है। दर्शन का अर्थ है—आस्था, श्रद्धा, विश्वास, भक्ति आदि। जो विश्वास या आस्था आत्मशुद्धि, अध्यात्म या मोक्ष की ओर उन्मुख हो वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग् दृष्टिकोण।

आत्मा शरीर रूपी पोत द्वारा 'अज्ञान' के विशाल महासागर में यात्रा करते-करते जब संसार भ्रमण का काल अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण शेष रहता है तब सम्यग् दर्शन की योग्यता उपलब्ध होती है।

आत्मा संसार में जितने पुद्गल हैं, उनमें से प्रत्येक का विभिन्न योनियों में उपभोग-प्रयोग करती है। इस प्रकार लोकस्थ समग्र पुद्गल परिभुक्त हो जाते हैं तब एक पुद्गल परावर्तन कहा जाता है। ऐसे अनन्त पुद्गल परावर्तों से जीव गुजरता है वह भव-चक्र का रूप है।

इस भव-चक्र में दो पुद्गल परावर्तन काल शेष रहता है, तब धर्म-श्रवण अभिलाषा जागती है। डेढ पुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर धर्म के आचरण की रुचि पैदा होती है। एक पुद्गल परावर्तन काल रहने से वीतराग पथ पर चलने का साहस होता है। आयुष्य के अतिरिक्त शेष सात कर्मों की कुछ न्यून अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की स्थिति रहती है। यह यथाप्रवृत्तिकरण है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में क्रमिक विकास होता है। देहाध्यास कम होने लगता है। सम्यग्दर्शन की यही निशानी है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व जैन दर्शन में ही नहीं, अन्यत्र जैनेतर दर्शनों में भी देखने को मिलता है। मनु ने लिखा है— सम्यग्दर्शन से संपन्न व्यक्ति कर्मबद्ध नहीं होता।^{८४} संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

उपनिषद में लिखा है— मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग उस्तरे की धार के समान तीक्ष्ण है जिस पर चलना कठिन और पार करना अत्यंत कठिन है।^{८५}

ज्ञान से यथार्थ बोध होता है। दर्शन से दृष्टिकोण सम्यक् बनता है। चारित्र से कर्मादान रुक जाता है।

बंधन से मुक्ति की ओर प्रस्थान की प्रक्रिया

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया में मूल उपादान है— संवर एवं निर्जरा। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। संवर का अर्थ है— मर्यादित जीवन-प्रणाली। अपने अस्तित्व का बोध। निर्जरा परिष्कार की क्रिया, संवर से कर्म-निरोध होता है। कर्माणुओं^{८६} की प्रवहमान धारा को बदलने का एक उपक्रम संवर है। संवर के अभाव में निर्जरा का अधिक मूल्य नहीं है।

जैन दर्शन में संवर के दो प्रकार हैं— द्रव्य संवर, भाव संवर। कर्माणुओं को रोकने वाला कारण द्रव्य संवर है और द्रव्यास्रव का अवरोधक आत्मा की चैतसिक स्थिति भाव संवर है।^{८७}

संवर के पांच अंग हैं—सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय, अयोग।^{८८}

सम्यक्त्व—यथार्थ दृष्टिकोण।

विरति—नियंत्रित जीवन-शैली।

अप्रमाद—आत्म-जागृति।

अकषाय—क्रोधादि मनोवेगों का अभाव।

अयोग—प्रवृत्ति निरोध (अक्रिया)।

स्थानांग में संवर के आठ भेदों का भी निरूपण है^{८९}—

पांच इन्द्रिय संवर और तीन योगों का संवर। इनके अतिरिक्त ५७ भेदों का भी विवेचन आगमों में मिलता है।

बौद्ध परम्परा में भी संवर शब्द का प्रयोग संयम के अर्थ में हुआ है। कायिक, वाचिक एवं मानसिक प्रवृत्तियों का संयम। गीता में संवर शब्द नहीं मिलता किन्तु मन-वाणी-शरीर और इन्द्रियों के संयम का चिंतन अवश्य किया गया है। जैसे—कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है। वैसे ही साधक सब ओर से अपनी इन्द्रियों के विषयों को वश कर लेता है उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।^{९०}

निर्जरा—संवर का कार्य है प्रवाह को रोकना। भीतर का शुद्धिकरण निर्जरा का कार्य है। निर्जरा का अर्थ है—जर्जरित करना। अलग करना।^{९१} पूर्व बद्ध कर्मों को निर्वीर्य अथवा फलरहित करना निर्जरा है। आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध होना बंध है और आत्मा से अलग हो जाना निर्जरा है।

उत्तराध्ययन में इसे एक रूपक से स्पष्ट किया है। किसी बड़े सरोवर के जल-स्रोतों को बंद कर, उसके भीतर का जल उलीच कर निकाला जाये तथा ताप से सुखाया जाये तो विशाल सरोवर भी सूख जाता है। इस रूपक में आत्मा सरोवर है। कर्म पानी है। कर्म का आस्रव जल आगमन का स्रोत है। जलागमन द्वारों को रोक देना संवर है। पानी का उलीचना या सुखाना निर्जरा है।

इस रूपक से स्पष्ट है कि संवर से नये कर्म रूपी जल का आगमन रुक जाता है। लेकिन पूर्व में बंधे हुए कर्मों को आत्मा से हटाना निर्जरा है। निर्जरा यानी आत्मा की उज्ज्वलता, वह एक रूप है^{९२} किन्तु कारण में कार्य का उपचार कर उसके बारह भेद^{९३} बतलाये हैं। जैसे अग्नि एक रूप होते हुए भी निमित्त भेद से काष्ठाग्नि, पाषाणाग्नि, तृणाग्नि आदि पृथक्-पृथक् संज्ञा

प्राप्त होती है। वैसे ही कर्म परिशाटन रूप निर्जरा एक रूप होते हुए भी हेतुओं की अपेक्षा अनशन, उनोदरी, भिक्षाचरी आदि बारह भेद हैं।

सकाम और अकाम रूप निर्जरा के दो विभाग हैं। बाल तप आदि से होने वाली निर्जरा अकाम है। मोक्ष-प्राप्ति के निश्चय में होने वाली निर्जरा सकाम है।

संवर और निर्जरा दो ऐसे साधन हैं जिनसे आस्रवों को क्षीण किया जा सकता है। कषाय के नीर से अभिषिक्त हो कर्म का चमन पल्लवित होता है। कषाय के क्षीण होने पर रसघात, स्थिति घात होता है। स्थिति बंध के मूल में प्रदेश बंध है। रसबंध के मूल में प्रकृति बंध है। अनुभाग बंध क्षय होता है तब कर्म निष्प्राण हो जाते हैं और स्थिति बंध क्षय होते ही कर्म निर्जरित हो जाते हैं। इस प्रकार कर्म के बंध और विच्छेद में निर्जरा का महत्वपूर्ण स्थान है। निर्जरा का हेतु तप है। वायु-वेग से जैसे बादल हट जाते हैं। वैसे ही तप से आत्मा की शुद्धि (निर्जरा) होती है।

तप आत्म-शक्ति के उद्घाटन की प्रक्रिया है। अग्नि की उष्णता से किसी वस्तु का मैल जल कर भस्म हो जाता है या वस्तु से अलग हो जाता है। उसका मूल स्वरूप प्रकट हो जाता है। वैसे ही तप से कर्म मल दूर होकर आत्मा स्व-स्वभाव में स्थित हो जाती है। तप रसायन विज्ञान की अपघटन क्रिया के समान है।

अपघटन क्रिया उसे कहते हैं जिसके द्वारा यौगिक के संघटित तत्त्व पृथक् होकर अपनी शुद्ध अवस्था में आ जाते हैं। दो या दो से अधिक तत्त्वों के निश्चित अनुपात में संघटित होकर बना पदार्थ यौगिक कहलाता है।^{१४}

यौगिक की विशेषता है कि उसके गुण अपने घटक तत्त्वों के गुणों से भिन्न होते हैं जैसे दो अनुपात हाईड्रोजन गैस और एक अनुपात ऑक्सीजन गैस मिलकर पानी बनता है। दोनों गैसों के गुण अलग हैं। एक जलती है। दूसरी जलने में सहयोग करती है। पर दोनों के योग से बना पानी आग को बुझाता है।

यौगिक के घटकों को सरल भौतिक विधियों से पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि उनके अणुओं/परमाणुओं के बीच में विद्युत संयोजी बंध (आयनिक बांड) होता है।^{१५} इस बंध के कारण उनमें ऐसा आकर्षण बल रहता है जिससे वे जुड़े रहते हैं। यदि यौगिक से उसके तत्व/घटक प्राप्त करना चाहें तो अपघटन विधि का आलंबन लेना पड़ेगा। यह अपघटन चाहे ऊष्मा का हो या विद्युत द्वारा।

उदाहरण के लिये जैसे पारा और ऑक्सीजन के समान अनुपात में मिलने पर 'मरक्यूरिक ऑक्साइड' यौगिक बनता है। इन यौगिक अणुओं के बीच में विद्युत संयोजी बंध होता है। जब उसे उच्च ताप पर गर्म करते हैं तो इनके मध्य का आकर्षण बल विद्युत संयोजी बंध समाप्त हो जाता है तथा पारा और ऑक्सीजन शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।^{९६}

मरक्यूरिक ऑक्साइड के समान ही एक सजीव यौगिक है जो आत्मा और कर्म पुद्गलों के योग से निर्मित है। इस यौगिक के बनने में मूल कारण है—स्निग्धता/रागादिभाव। रागादिभाव से आत्मा कर्मों से लिस हो जाती है। तब आत्मा पर कर्मों का बंधन होता है। आत्मा स्व-स्वभाव को भूल जाती है। जन्म-मरण के चक्र में फंस जाती है। आत्मा और कर्म का सजीव यौगिक है। दोनों तत्त्वों के बीच राग का भाव बंध और कर्मों का द्रव्य बंध रूप आकर्षण बल है।

इस यौगिक से आत्मा अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त तब करती है जब राग रूप आकर्षण बल टूट जाता है। तोड़ने का उपाय है—तप।

सजीव यौगिक विद्युत अपघटन(इलेक्ट्रो लाइट) पदार्थ है। इसमें आत्मा पर धन आवेश (+) तथा कर्म पर ऋण आवेश (—) है। इस अपघटन में अनादि काल से अधर्म—मिथ्यात्व का 'एनोड' पड़ा है। जब धर्म-सम्यग्दर्शन आदि का कैथोड डालकर तप की बैटरी से जोड़कर विद्युतधारा प्रवाहित की जाती है तब धारा के प्रभाव से राग का आकर्षण बल क्षीण होकर टूटने लगता है। आत्मा और कर्म पृथक् होकर अपने विपरीत आवेश के इलेक्ट्रोड की ओर जाने लगते हैं अर्थात् आत्मा धर्म कैथोड की ओर प्रस्थित हो जाती है और कर्म एनोड की ओर निकल जाते हैं। जब यह क्रिया पूर्ण हो जाती है तब आत्मा अपनी शुद्ध अवस्था में आ जाती है।^{९७}

कर्म-मुक्ति के मुख्य दो तत्त्व हैं—संवर, निर्जरा। दूसरे शब्दों में त्याग और तप। कर्मों में प्रधान है—मोह कर्म। मोह विलय की दो प्रक्रियाएं हैं— उपशम-क्षपक। जिसमें मोह उपशांत हो जाता है वह उपशम श्रेणी है और जिसमें मोह क्षीण होता है वह क्षपक श्रेणी है। आठवें गुणस्थान से ये श्रेणियां प्रारंभ होती हैं। जिसका नाम है—अनिवृत्ति बादर गुणस्थान। अपर नाम 'अपूर्वकरण' है इसलिये कि इस समय परिणाम इतने विशुद्ध होते हैं जो अभूतपूर्व हैं। कर्म-क्षय की यह प्रक्रिया जैन दर्शन के सूक्ष्म चिंतन की प्रतीक है।

दूसरी प्रक्रिया है— समुद्घात की। समुद्घात शब्द सम+उद्+घात, इन तीन का यौगिक है। सम का अर्थ है— एकीभाव। उद् अर्थात् बलपूर्वक और घात के दो अर्थ हैं—घात करना या समूह रूप से बलपूर्वक आत्म-प्रदेशों को शरीर बाहर निकालना। इतस्ततः प्रक्षेपण करना। कर्म पुद्गलों का निर्जरण करना।

समुद्घात^{१७} सात हैं—वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय, तैजस, आहारक, केवली। छह समुद्घात का सम्बन्ध छद्मस्थ से है। अंतिम केवली का वीतराग से। वेदना समुद्घात से वेदनीय कर्म पुद्गलों का, कषाय समुद्घात से कषाय कर्म पुद्गलों का, मारणान्तिक से आयुष्य कर्म-पुद्गलों का शाटन होता है। वैक्रिय, आहारक एवं तैजस समुद्घात से तद्-तद् नाम कर्म का शाटन होता है।

जैनागम में ध्यान के ४ प्रकार माने हैं^{१८}—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। प्रथम दो अप्रशस्त हैं अंतिम दो प्रशस्त। यदि साधक का चित्त शुक्ल ध्यान में अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रहता है तो परमाणु ऊर्जा के समान इतनी ऊर्जा निकलती है कि सर्वप्रथम सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की आयु वाले मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है। साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय भी निर्मूल हो जाते हैं तब आत्मा-परमात्मा की स्थिति में पहुँच जाती है। हल्की हो ऊपर उठ जाती है।

विज्ञान के अनुसार कोई भी पदार्थ हल्का होने पर ऊपर उठ जाता है। नाभिकीय विखण्डन में जैसे यूरेनियम से वेरियम बनता है, उसी तरह सजीव यौगिक ध्यान रूपी ऊर्जा द्वारा विखण्डित होकर आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

नाभिकीय संलयन (न्यूक्लर फ्यूजन) यह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें दो हल्के नाभिक आपस में मिलकर एक भारी नाभिक बनाते हैं। इस प्रक्रिया में द्रव्यमान की क्षति अधिक होने से अत्यधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है जिसे नाभिकीय संलयन ऊर्जा कहते हैं। नाभिकीय संलयन में मुक्त ऊर्जा (प्रति इकाई द्रव्यमान) का मान नाभिकीय विखण्डन से प्राप्त ऊर्जा के मान का लगभग आठ गुना होता है।

सजीव यौगिक तप-ध्यान के द्वारा अपघटित होकर सयोगी केवली तक शुद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। सिद्धत्व प्राप्त करने के लिये वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु चार अघाति कर्मों को क्षय करना अवशिष्ट रहता है। सयोगी केवली की आयु स्थिति एवं वेदनीय, नाम, गोत्र की स्थिति समान रहती है तब

वचन योग, मनोयोग एवं बादरकाय योग को छोड़कर सूक्ष्मकाय का योग आलंबन लेता है। सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नामक तृतीय ध्यान प्रारंभ करते हैं।

आयु कर्म की स्थिति यदि अन्तर्मुहूर्त और वेदनीय, नाम, गोत्र की स्थिति अधिक हो तब महानिर्जरा के लिये समुद्घात क्रिया होती है। इससे सामंजस्य स्थापित होता है। प्रथम समय में दण्ड रूप में आत्म-प्रदेशों^{१९} को विस्तीर्ण करते हैं। दूसरे में कपाट रूप में चौड़े फिर प्रतर तथा चौथे समय में विस्तारित आत्म-प्रदेशों द्वारा समस्त लोक को आपूर्ण करते हैं। इस प्रकार तीन कर्मों की स्थिति को घटाकर आयु के समान कर देते हैं। पुनः विसर्पण का संकोच करके आत्म-प्रदेश शरीर में समा जाते हैं।

इस प्रविधि का कालमान आठ समय का है। इस तरह सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान किया जाता है। यह क्रिया नाभिकीय संलयन जैसी है।

इसके बाद समुच्छिन्न क्रिया नामक ध्यान शुरू होता है। इसमें श्वासोच्छ्वास आदि समस्त काय, वचन और मन सम्बन्धी व्यापारों का निरोध किया जाता है। शैलेशी अवस्था प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार तप और ध्यान की साधना से अष्ट कर्मों को अपघटित किया जाता है। उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। कर्म-क्षय से आत्मा के अष्टगुण अनन्तज्ञान आदि अनावृत हो जाते हैं। सयोगी केवली की समुद्घात क्रिया को नाभिकीय संलयन कहा जाता है। इसकी ऊर्जा के समान ही तप-ध्यान की ऊर्जा कर्मों को भस्म कर देती है।

आत्म-प्राप्ति के साधनों में तप और ध्यान का महत्त्व सार्वजनीन एवं सर्वोपरि है। जैन दर्शन में तपस्या को संवर-निर्जरा का साधन माना गया है। तप धर्म का प्राण तत्त्व है। तप दुर्धर और प्रगाढ़ कर्मों को भी अति तीक्ष्ण वज्र की भांति तोड़ देता है।

“तपसा चीयते ब्रह्म”^{१००} “तपो ह्यन्द सहनम्”^{१०१} “तपसा निर्जरा च”^{१०२} ये सूक्त तप की महत्ता का संगायन करते हैं।

ध्यान भी तप का ही एक प्रकार है। भाव-श्रमण ध्यान रूप कुठार से भव वृक्ष (संसार-चक्र) को काट डालते हैं।^{१०३} आगम ग्रंथ एवं दार्शनिक साहित्य में ध्यान के सम्बन्ध में प्रभूत वर्णन प्राप्त है। उपनिषदों में भी ध्यान की विधि एवं महत्त्व का विस्तार से वर्णन मिलता है। शरीर में जैसे मस्तिष्क

का, वृक्ष में मूल का महत्वपूर्ण स्थान है^{१०४} उसी प्रकार आत्म-प्राप्ति की साधना में तप और ध्यान का मूल्य है। इन्हीं से शाश्वत सिद्धि की उपलब्धि होती है।

एक प्रश्न सामने आता है कि डारविन का विकासवाद अमीबा से पूर्ण मानव बनने का सिद्धांत है। जब विकास प्रवाह स्वाभाविक गति से हमें लक्ष्य तक पहुंचाये बिना रुकता नहीं तो फिर साधना करने की क्या अपेक्षा है? तप-ध्यान करने की उपयोगिता क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर यही है कि डारविन ने विकास क्रम को जो यांत्रिक और जैविक माना वह मनुष्येतर योनियों पर तो लागू हो सकता है किन्तु मनुष्य योनि में उसका रूप बदल जाता है। यहां आकर विकास क्रम मनुष्य को एक ऐसा घेरा (वर्तुल) प्रदान करता है जिसके भीतर मनुष्य स्वतंत्र है। स्वतंत्रता का सही उपयोग कर वह विकास को समुचित दिशा दे सकता है। अपने भीतर गति को तेज कर सकता है। साधना का यही तात्पर्य है। उदाहरण के रूप में एक तिनका होता है वह बहता हुआ एक दिन अवश्य सागर में मिलता है। यह सत्य है किन्तु यदि उसे अपने भरोसे छोड़ दिया जाये तो पता नहीं कितना समय उसे समुद्र तक पहुंचने में लग जाये। कहां जाकर अटक जाये। कोई उस अटकाव को दूर करता रहे तो अपेक्षाकृत अल्प समय में सागर में मिल सकता है। साधना कर्म के अटकाव को दूर करने की प्रक्रिया है। साधना बाधाओं को दूर कर विकास को दिशा एवं गति देती है। वस्तुतः ससीम से असीम अवतरण का नाम साधना है।

आत्मा में अनन्य शक्तियां हैं—ज्ञान-शक्ति, इससे प्रत्येक पदार्थ का विश्लेषणात्मक बोध होता है। जीव की एक समय की पर्याय में अनंत सिद्ध और अनंत केवली ज्ञेय रूप में आते हैं। ज्ञान की एक पर्याय भी अनंत सामर्थ्य युक्त है।

वीर्य-शक्ति—यह अपने स्वरूप रचना का सामर्थ्य रखने वाली शक्ति है जो जीव के सभी गुणों में व्याप्त है।

सुख-शक्ति—जीव अनंत आनंद से परिपूर्ण है।

प्रभुत्व शक्ति—आत्मा के अनंत प्रदेशों के एक-एक प्रदेश में अनंत गुणों की प्रभुता है। इन शक्तियों का प्रकटीकरण साधना के माध्यम से होता है। आगे चलकर साधना साध्य बन जाती है।

मोक्ष प्राप्ति के पूर्व की कुछ विशेष भूमिकाएं

मोक्ष में मुक्त जीवों का समान स्तर है किन्तु क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र प्रत्येक बुद्ध-बुद्ध बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अंतर, संख्या और अल्प-बहुत्व इन बारह अनुयोगों से सिद्धों में भेद पाया जाता है।^{१०५}

१. क्षेत्र-क्षेत्र से मुक्त आत्मा तीनों लोक से सिद्ध होती है। ऊर्ध्वलोक में पंडकवन से, तिर्यक् लोक में मनुष्य लोक से, अधोलोक में महाविदेह की विजय से।
२. काल-अवसर्पिणी काल में भरत आदि क्षेत्रों में जन्म की अपेक्षा तीसरे-चौथे अर में तथा सिद्धत्व की अपेक्षा तीसरे, चौथे एवं पांचवें अर में सिद्ध होते हैं। महाविदेह में यह मर्यादा नहीं है। वहां सदा चौथा आरा ही चलता है।
३. गति-चारों गतियों में से एक मनुष्य गति ही मुक्ति जाने के योग्य है। यही मोक्ष का सिंहद्वार है।
४. लिङ्ग-वेद अर्थात् विकार। नवमें गुणस्थान के अंत में विकार विलय हो जाते हैं। अतः अवेदी अवस्था में सिद्ध होते हैं।
५. तीर्थ-तीर्थ-अतीर्थ दोनों अवस्थाओं में सिद्ध हो सकते हैं।
६. चारित्र-मुक्ति के अधिकारी एक यथाख्यात चारित्र वाले ही होते हैं।
७. प्रत्येक बुद्ध बोधित-प्रत्येक बुद्ध, स्वयं बुद्ध, बुद्ध बोधित इन तीनों में से कोई भी मुक्त हो सकता है।
८. ज्ञान-पांच ज्ञान में से मात्र केवलज्ञानी ही मुक्त होते हैं।
९. अवगाहना-जघन्य सात हाथ उत्कृष्ट ५०० धनुष्य की अवगाहना वाले सिद्ध होते हैं।
१०. अंतर-निरंतर आठ समय तक सिद्ध हो सकते हैं। अंतर पड़े तो जघन्य २ समय, उत्कृष्ट ६ महीने का व्यवधान होता है।
११. संख्या-एक समय में जघन्य १ और उत्कृष्ट १०८ सिद्ध हो सकते हैं।
१२. अल्प-बहुत-सबसे कम नपुंसक लिंग सिद्ध, उनसे स्त्री लिंग सिद्ध संख्यात गुणा, उनसे पुरुष लिंग सिद्ध संख्यात गुणा हैं।

अन्य प्रकार से-

संहरण से मुक्त सबसे अल्प, जन्म-मुक्त उनसे संख्यात गुणा अधिक।

लोक से — सबसे कम ऊर्ध्वलोक से, अधोलोक से संख्येय गुण अधिक, तिर्यक् लोक से उनसे संख्येय गुण अधिक, सबसे अल्प समुद्र से मुक्त होने वाले। द्वीप से मुक्त होने वाले उनसे संख्येय गुण अधिक।

प्रश्न — क्या सिद्ध बढ़ते हैं अथवा अवस्थित रहते हैं ?

उत्तर — सिद्ध बढ़ते हैं। घटते नहीं। अवस्थित रहते हैं।

प्रश्न — कितने काल तक बढ़ते हैं ?

उत्तर — जघन्य एक समय, उत्कृष्ट आठ समय तक।

प्रश्न — किस संघयन में सिद्ध होते हैं ?

उत्तर — वज्र ऋषभ नाराच संघयन में।

प्रश्न — किस संस्थान में सिद्ध होते हैं ?

उत्तर — छह संस्थानों में से किसी भी संस्थान से।

प्रश्न — कितने वर्ष की आयु में सिद्ध होते हैं ?

उत्तर — जघन्य साधिक आठ वर्ष, उत्कृष्ट करोड़ पूर्व की आयु वाले।

जीव के चरम विकास की आध्यात्मिक उपलब्धि मोक्ष है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की समन्विति ही मोक्ष के अवरोधक तत्त्वों को तोड़ने में सक्षम है।

चिकित्सा शास्त्र में चार बातें प्रमुख होती हैं—रोग, रोगी की प्रकृति, रोग की कालावधि और रोग की फलदान शक्ति।

इनके आधार पर रोग एवं रोगी की प्रकृति का उपचार किया जाता है। वैसे ही अध्यात्म के क्षेत्र में बंध, बंध के हेतु, मोक्ष, मोक्ष के साधनों का वर्णन है। कर्म का स्वभाव, कर्माणुओं की मात्रा, कालावधि और कर्मों के फलदान की शक्ति आदि का ज्ञान जरूरी है।

रोगोपचार में पथ्य एवं अनुपान का जो स्थान है वही स्थान है मोक्षोपयोगी साधना का।

संदर्भ सूची

१. सांख्य तत्त्व कौमुदी पृ. ३२६।

२. हमारी परम्परा (वियोगी हरि) पृ. ३६९।

३. अमर भारती (निर्वाण विशेषांक) पृ. १००।
४. भारती दर्शन (डॉ. देवराज) पृ. ४९७।
५. तत्त्वार्थ सूत्र, १०।१।
६. सूत्र कृतांग, १।११।२२।
७. अभिधान राजेन्द्र कोष (खंड ६) पृ. ४३१।
८. वही,
९. सर्वार्थ सिद्धि १।४।
१०. वही, ७।१९।
११. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १।१।४।
१२. सर्वार्थ सिद्धि पृ. १।४।
१३. वही, उत्थानिका पृ. १।
१४. अमर कोश, वर्ग ५।६।
१५. उत्तराध्ययन अ. ६ गा. १०।
१६. वही, अ. २८ गा. ३०।
१७. वही, अ. १४ गा. ४।
१८. वही, अ. १० गा. ३५।
१९. वही, अ. १८ गा. २८।
२०. वही, अ. १९ गा. ९७।
२१. वही, अ. २८ गा. ३।
२२. वही, अ. ३६ गा. ६८।
२३. वही, अ. १९ गा. ८२।
२४. वही, अ. २३ गा. ८१।
२५. वही, अ. २९ गा. ४४।
२६. वही, अ. २३ गा. ८४।
२७. वही, अ. २३ गा. ८३।
२८. वही, अ. ९ गा. ५८।
२९. बौद्ध धर्म दर्शन पृ. ८।
३०. मज्झिम निकाय १३९।
३१. सूत्र कृतांग १।१।१३। सर्व द्वन्दोपरति भावे।

३२. अभिधान राजेन्द्र, खंड ६ पृ. ४३१।
३३. आचारांग, १।५।६।१७१।
३४. वही, १।५।६।१७१।
३५. योगदृष्टि समुच्चय १२९ “संसारातीत तत्त्वं तु परं निर्वाण संशितम्। तद्वत्येकमेव नियमात् शब्द भेदेऽपि तत्त्वतः।”
३६. सूत्र कृतांग १।१५।५।
३७. दशवैकालिक अ. ४ गा. १४ से २५।
३८. उपनिषदों की भूमिका, पृ. १२५।
३९. सर्वार्थ सिद्धि १०।५।२७५।२०१।
४०. व्याख्या प्रज्ञप्ति, श. ७।३।१।२६५।
४१. वही, श. ७।३।१।२६५।
४२. वही, (क) ज्ञानार्णव ४२।५९।
४३. भगवती, ७।१०-१५।
४४. तत्त्वार्थ सूत्र, १०।८।
४५. औपपातिक सूत्र १३०।
४६. सांख्यदर्शन , ६।१७।
४७. वेदान्त सूत्र, ४।४।२२।
४८. स्याद्वाद मंजरी पृ. ४२।
४९. वही, कारिका २९।
५०. तत्त्वार्थ वार्तिक १०।४।९।
५१. द्रव्य संग्रह ३७।१४१।
नन्वनादि काल मोक्ष गच्छतां जीवानां जगच्छून्यं भवतीति।
५२. स्याद्वाद मंजरी का. २९ पृ. २५९।
५३. गोम्मटसार जीवकांड, गा. १९७ पृ. ३२७।
५४. वृहद् द्रव्य संग्रह, टीका गा. ३७ पृ. १४१।
५५. भगवती, १।४६।
५६. ठाणं १।१०।
५७. वृहद् द्रव्य संग्रह टीका गा. ३७ पृ. १४१।
५८. वही।
५९. पुष्कर मुनि अभिनंदन ग्रन्थ पृ. ३१८।

६०. उत्तराध्ययन, अ. २३।८-३।
६१. औपपातिक (सिद्धाधिकार) पृ. ३५५।
६२. उत्तराध्ययन, अ. २३।८१-८३।
६३. गोम्मटसार (जीव कांड) गा. ६८।
६४. औपपातिक, पृ. ३५४।
६५. उववाई, गा. ११।
६६. उत्तराध्ययन, २३।८३।
६७. तत्त्वार्थ सूत्र, १०।२-३।
६८. भगवती आराधना, गा. २१५७ पृ. ९०१।
६९. तत्त्वार्थ सूत्र विवेचन पृ. ४६८।
७०. स्थानांग स्था. ४ उ. ३ सू. ३३७।
गति अभावेण, निरुव्वमहयाए, लुक्खाए, लोगाणु भावेण।
७१. मुण्डकोपनिषद् ३।२।८।
७२. त्रिलोक सार, श्लोक, ५५८।
७३. औपपातिक, गा. ११९, १२०, १२१।
७४. प्रज्ञापना पद २ सू. १३६ गा. १५।
७५. उत्तराध्ययन, ३६।६५।
७६. नंदी चूर्णि (जिनदास गणि महत्तर) सू. ३८ पृ. २६।
७७. अमितगति श्रावकाचार ४।३९।
७८. तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।१।१०। अन्वेषणे मोक्षो येन माग्यते समोक्ष मार्गः।
७९. उत्तराध्ययन, १८।२।
८०. मज्झिम निकाय सम्मादिट्ठि सुत्तन्त ९।
८१. वही, मग्गानं अट्ठंगिको सेट्ठो।
८२. तत्त्वार्थाधिगम, भाष्य १।१।
८३. उत्तराध्ययन, २८।३०।
८४. सूक्ति त्रिवेणी पृ. २८६।
८५. कठोपनिषद् १।३।१४।
८६. तत्त्वार्थ सूत्र, ९।१।
८७. द्रव्य संग्रह, ३४
८८. समवाओ, समवाय ५।५।

८९. स्थानांग ८।३।
 ९०. गीता, २।५८।
 ९१. तत्त्वार्थ वार्तिक १।४।१२।
 ९२. स्थानांग, स्था. १ सूत्र १६।
 ९३. शांत सुधारस निर्जरा भावना २।३।
 ९४. उद्धृतः युगबोध रसायन, कक्षा ११ पृ. १६।
 ९५. वही, पृ. १५८, १८८।
 ९६. वही, पृ. २६८।२६९।
 ९७. समवायांग, समवाय. ७।
 ९८. तत्त्वार्थ सूत्र, ९।२८।
 ९९. समवायांग, ८। सर्वार्थ सिद्धि टीका ९।४४।
 १००. मुण्डकोपनिषद् १।१।८।
 १०१. योग भाष्य, २।३२।
 १०२. तत्त्वार्थ सूत्र, ९।३।
 १०३. भाव पाहुड १२२।
 १०४. इसि भासियाई २१।१३।
 १०५. त. सू. १०।९।

उपसंहार

पिछले अध्यायों में आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, विकासवाद, लेश्या, मृत्यु, मोक्ष और मोक्ष के उपायों की विवेचना की। उस सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों, विचारकों की अवधारणाओं को समझा तथा पाश्चात्य दर्शन के साथ तुलना करने का प्रयास किया गया है।

अब हमें यह देखना है कि जैन तत्त्व-मीमांसा का जीवन के संदर्भ में क्या मूल्य हो सकता है ? मानव-समाज की समस्याओं का समाधान करने में कहां तक समर्थ है, और किस हद तक सक्रिय योगदान है ?

हमारे समग्र चिंतन का केन्द्र है— आत्मा। आत्मा का विश्लेषण मोक्ष की दृष्टि से किया गया है। आत्मा यदि केन्द्र में न हो तो साधना की कोई मूल्यवत्ता नहीं है। जितना भी चिंतन-मनन-निदिध्यासन हुआ उसका आधार आत्मा है।

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त प्रायः सभी दर्शन ज्योतिर्मय आत्मा की परिक्रमा कर रहे हैं। वैदिक दर्शन में कुछ वैदिक आत्मा और जीव का भेद करते हुए जीव तत्त्व को कम महत्त्व देते हैं। उनके अभिमत से मोक्ष में आत्मा जीव भाव से मुक्त हो जाती है। किन्तु जैन दर्शन आत्मा और जीव का भेद नहीं करता है। आत्मा का ही अपर नाम जीव है।

अस्तित्व का जहां तक प्रश्न है, वैदिक और जैन दार्शनिकों ने समान तर्क दिये हैं। चार्वाक और बौद्धों की आलोचना में भी दोनों एक मत हैं किन्तु मोक्ष के स्वरूप और प्रक्रिया को लेकर जैन और वैदिक दर्शन में भिन्नताएं हैं।

ब्रह्म सूत्र भाष्य में आचार्य शंकर ने केवल बौद्ध एवं जैन ही नहीं, वैशेषिक, सांख्य आदि हिन्दू दर्शनों पर भी तीखा प्रहार किया है।

मोक्षवाद की दृष्टि से अद्वैत वेदांत और सांख्य में पर्याप्त समानता है। दोनों की मान्यता है कि बन्ध और मोक्ष आत्मा के मूल रूप का स्पर्श नहीं करते। उनकी प्रतीति या अध्यास अविवेक के कारण है।

सांख्य जगत का कारण प्रकृति को मानते हैं। अद्वैत वेदान्त ब्रह्म को। इसलिये सांख्य का खण्डन किया है पर मोक्षवाद में दोनों निकट हैं।

वैदिक दर्शन का कूटस्थ नित्यवाद और बौद्धों का क्षणिकवाद भी सभी महत्त्वपूर्ण मूलभूत तत्त्वों की व्याख्या करने में असमर्थ है। तर्क की कसौटी पर निर्विकार कूटस्थ और विकारी क्षणिक आत्मा की धारणा समीचीन नहीं है। जैन दर्शन का परिणामी आत्मवाद का सिद्धांत अधिक व्यावहारिक तथा तर्कसंगत है।

देकार्त ने एक तरफ आत्मा को अभौतिक माना, दूसरी तरफ पीनियल ग्लैण्ड में उसका निवास कहता है। जैन आलोचकों ने कहा— अभौतिक आत्मा पीनियल में कैसे रह सकता है जब आत्मा शरीर परिमाण है।

देकार्त की धारणा में आत्मा का व्यावर्तक गुण चिंतन, शक्ति और सोचना है। जैन मनीषियों के अनुसार सोचने की क्रिया एक देश में घटित नहीं होती इसलिये दो विचारों या मनोदशाओं की लम्बाई-चौड़ाई, वजन आदि की तुलना नहीं करते। हाथी का प्रत्यय या विचार आकार में चींटी के प्रत्यय या विचार से बड़ा नहीं होता।

फिजियोलोजी (Physiology) साइकोलोजी (Psychology) के अनुसार हमारे चिंतन आदि मनोविकारों का मस्तिष्क तथा स्नायुमंडल की क्रियाओं से गहरा सम्बन्ध होता है। जैन दर्शन भी चित् और अचित् (कर्म) के बीच ऐसा ही सम्बन्ध मानता है।

सांख्य, वेदान्त पूर्व मान्यता को लेकर चलते हैं कि जो-जो विकारी हैं वे अनित्य हैं। किन्तु यदि हम भौतिक जगत को देखें तो यह मान्यता उतनी प्रामाणिक नहीं जान पड़ती। भौतिक जगत के मूलभूत तत्त्व जैसे विद्युत एवं अणु गतिशील और परिवर्तनशील होते हैं फिर भी नित्य हैं।

न्याय-वैशेषिकों का भी कहना है कि परमाणुओं में रंगादि का परिवर्तन होता है पर परमाणु नित्य है। इस दृष्टि से जैन दर्शन का आत्मवाद स्पिनोजा के सिद्धांत से निकट है। स्पिनोजा की दृष्टि से विचार (Thought) और विस्तार (Extension) द्रव्य के धर्म या गुण हैं। नित्य द्रव्य के धर्म होने से वे नित्य हैं।

प्रत्येक धर्म (Attribute) के प्रकार (Modes) भी होते हैं जो निरंतर परिणाम के कार्य हैं। विचार एवं विस्तार दोनों अपने को विभिन्न प्रकारों में अभिव्यक्त करते रहते हैं। स्पिनोजा का यह सिद्धांत जैन दर्शन की ज्ञान-पर्यायों से समानता रखता है।

ह्यूम, जेम्स ने आत्मा को स्वतंत्र द्रव्य के रूप में मान्य नहीं किया किन्तु चेतना-प्रवाह के रूप में आत्मा के अस्तित्व की जो धारणा है वह बौद्धों के समकक्ष है।

देहात्मवाद की समस्या—स्पिनोजा का मत है कि शरीर और मन एक ही वस्तु के दो सापेक्ष पहलू हैं। देकार्त ने दोनों की निरपेक्ष सत्ता घोषित की। देकार्त का यह घोष दार्शनिक जगत में अन्तर्क्रियावाद के नाम से प्रसिद्ध है।

देकार्त, ग्यूलिंक्स, मेलेब्रान्स, लाइबनिट्ज आदि पाश्चात्य दार्शनिकों ने अपने-अपने तरीके से समाहित करने का प्रयास किया है किन्तु निर्विवाद समाधान नहीं दे पाये।

जैन दर्शन द्वैतवादी है। उसने जीव और शरीर का भेदाभेद स्वीकार किया है। सर्वथा अभेद मानने से दोनों एक रूप होंगे और सर्वथा भेद मानने से कभी मिल ही नहीं सकते। अतः अपने विशेष गुणों से भेद तथा सामान्य गुणों के कारण अभेद है। यह सापेक्ष दृष्टि है।

परिवर्तनमय जीवन की व्याख्या के लिये किसी न किसी विकारी तत्त्व की उपस्थिति अनिवार्य है। आत्मा अविकारी है, कर्म विकारी। दोनों का सम्बन्ध सेतु है राग-द्वेषमय आत्मा का परिणाम। राग-द्वेष से आत्म-प्रदेश प्रकंपित होते हैं। उस स्थिति में जीव की योग शक्ति कर्म प्रायोग्य पुद्गल स्कंधों को अपनी ओर आकर्षित करती है। वे ही कर्म नाम से अभिहित हैं।

भाव कर्म भीतर की जैविक रासायनिक प्रक्रिया है। द्रव्य कर्म सूक्ष्म कर्म शरीर की रासायनिक प्रक्रियाएं हैं। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। प्रतिपक्ष न हो तो पक्ष को समझना कठिन है।

विज्ञान भी द्रव्य के साथ प्रतिद्रव्य का अस्तित्व सिद्ध करता है। वे पदार्थ, जिनकी भविष्यवाणी सन् १९२८ में सापेक्षवादी क्वांटम सिद्धांत के द्वारा की गई थी, प्रतिपदार्थ कहलाये।

न्यूटन ने कहा—जिस प्रकार क्रिया की प्रतिक्रिया होती है उसी प्रकार ध्वनि की प्रतिध्वनि, अणु-प्रतिअणु, कण-प्रतिकण, तरंग-प्रतितरंग, जैविक-प्रतिजैविक, अनुसंधान के क्षेत्र में ये उजागर हो रहे हैं। प्रतिपदार्थ के बिना पदार्थ का अस्तित्व नहीं टिकता। चेतन-अचेतन में अत्यन्ताभाव है। अत्यन्ताभाव की सिद्धि तभी संभव है जब उसका कोई विरोधी पदार्थ हो।

चेतन है तो प्रतिपक्षी अचेतन भी है। प्रत्येक पदार्थ अपने विरोधी युगल से जुड़ा है। समूची लोक व्यवस्था का आधार विरोधी युगल है। गति है तो स्थिति भी है। न कोरी गति होती है न कोरी स्थिति। न केवल धनात्मक आवेश होता है न ऋणात्मक आवेश। वैसे जड़-चेतन का सह अस्तित्व ही लोक है। जहां विरोधी युगल नहीं वहां अलोक (Absolute space) है।

दो विरोधी तत्त्वों का सम्बन्ध होना ही बंध है। बंध तत्त्व व्यापक है। बंध किसका होता है ? प्रश्न के उत्तर में यही कहा जाता है कि जीव और कर्म का। आत्मा और पुद्गल का। चेतन और जड़ का। जीव और कर्म का सम्बन्ध एक सांयोगिक प्रक्रिया है।

आत्मा में प्रति समय राग-द्वेषात्मक कोई न कोई भाव अवश्य रहता है। भावों से आकृष्ट कर्म वर्णाएं आत्म-प्रदेशों पर चिपक जाती हैं। कर्म कहलाती हैं।^१ छहों दिशाओं से चतुःस्पर्शी कर्म पुद्गलों का आदान होता है। भगवती में कांक्षा मोहनीय कर्म के प्रसंग में महावीर ने कहा— जीव सर्वात्म प्रदेशों से, सब ओर से कर्म पुद्गलों को आकर्षित करता है।^२ कर्म जीव को ज्ञान, दर्शन, आनंद और शक्ति रूप सहज स्वभाव को आवृत, विकृत और अवरुद्ध करता रहता है। कर्म के संयोग से चेतना का ऊर्ध्वारोहण प्रतिहत हो जाता है।

कर्म वर्णाएं ग्रहण करते समय राग-द्वेष तीव्र होता है तो उन कर्मों में फलदान शक्ति भी तीव्र हो जाती है। मंद होने से मंद। यह तीव्रता या मंदता का तारतम्य हमारे कषायों-आवेगों के आधार पर है। राग-द्वेष से आवेगों-उपआवेगों का चक्र चलता है। आवेगों के कारण शारीरिक क्रियाओं में रासायनिक परिवर्तन, शारीरिक लक्षणों में परिवर्तन होता है।

आवेगों के शोधन और परिवर्तन आदि की प्रक्रिया पर मनोविज्ञान में विचार किया गया है। प्रवृत्तियों को रोका नहीं जा सकता किन्तु प्रवृत्तियों का दमन, (Sublimation) विलयन (Suppression) मार्गान्तरिकरण (Redirection) और उदात्तीकरण (Sublimation) हो सकता है। कर्मशास्त्र की भाषा में आवेग नियंत्रण की तीन पद्धतियां हैं—उपशमन, क्षयोपशमन, क्षयीकरण।

उपशमन—मन में जो आवेग उत्पन्न होते हैं उनको दबा देना उपशम है। इसमें आवेगों का विलय नहीं होता इसलिये पुनः उभर आते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में दमन है। मनोविज्ञान दमन तक ही नहीं रुकता, परिशोधन आवश्यक मानता है।

कर्मशास्त्र के अनुसार भी उपशमन की पद्धति लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकती। उपशमित वृत्तियाँ पुनः उभर कर ग्यारहवें गुणस्थान तक आरोहण करने वाले साधक को पुनः नीचे गिरा देती हैं।

क्षयोपशमन—इस प्रक्रिया में उपशम और क्षय साथ-साथ चलता है। यह मार्गान्तरीकरण की प्रक्रिया है। उदात्तीकरण भी कह सकते हैं।

क्षयीकरण—इसमें दोषों का सर्वथा विलयन हो जाता है। इससे आध्यात्मिक चेतना की भूमि प्रशस्त होती चली जाती है।

भौतिक विज्ञान में भी क्वांटम के आधार पर आन्तरिक भावों की प्रस्तुति दी जा रही है। डेबिट बॉम के अनुसार हमारे भीतर एक सहज आनंद की स्थिति है। किन्तु चिंतन एवं इन्द्रिय संवेदन/सुख प्रबल हो जाते हैं तब वह आवृत हो जाती है। जब बाह्य चिंतन एवं सुखैषणा रूप संवेदना शांत हो जाती है तब भीतर आनंद प्रकट हो जाता है।

व्यक्ति की चेतना मनोविज्ञान के स्तर पर अनेक रूपों में कार्य करती है। जब चेतना का प्रवाह ऊर्ध्वमुखी होता है, व्यक्ति स्वतः ही विधायक भावों से पूर्ण हो जाता है। चेतना का प्रवाह अधोमुखी होता है तब निषेधात्मक चिन्तन का विकास होता है।

मस्तिष्क विज्ञान की खोज में रेटिकुलर (Retie Coolur) फॉर्मेशन में भय, क्रोध, लालसा आदि निषेधात्मक भाव पैदा होते हैं तो उनका नियंत्रण भी वही करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने रेटिकुलर फॉर्मेशन की क्रिया को औदयिक व्यक्तित्व और क्षायोपशमिक व्यक्तित्व कहा है। औदयिक व्यक्तित्व के कारण क्रोधादि भाव पैदा होते हैं, क्षायोपशमिक व्यक्तित्व से उन पर नियंत्रण होता है।^३ उत्पन्न और नियंत्रण दोनों अवस्थाएं साथ में चलती हैं। यह कर्मवाद की भाषा है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण—प्राचीन शरीर-विशेषज्ञों ने शरीर के संचालक तत्त्व हृदय, स्नायु संस्थान, गुर्दा आदि को माना है किन्तु आधुनिक शरीर-शास्त्र की खोजों ने प्रमाणित कर दिया कि मूल कारण इससे भी आगे हैं। वे हैं— ग्रंथियों के स्राव अर्थात् हार्मोन्स। हार्मोन्स जितने शरीर और मन को प्रभावित करते हैं उतने हृदय, गुर्दा आदि नहीं। हार्मोन्स न केवल प्रत्येक शारीरिक क्रिया में भाग लेते हैं अपितु व्यक्ति की मानसिक दशाओं, स्वभाव

और व्यवहार पर गहरा प्रभाव डालते हैं। प्रेम, भय, घृणा, आवेग आदि भाव अन्तःसावी स्रोतों द्वारा जनित हैं।

पाइनियल—(Pineal) का साव ठीक न हो तो प्रतिभा का विकास नहीं होता। शरीर का संतुलन, मन, शरीर तथा प्राणों का नियंत्रण व्यवस्थित नहीं रहता।

एड्रीनल—(Adrenal) ठीक काम नहीं करती तो भय, चिंता, क्रोध आदि उत्पन्न होते हैं। जीवन में अस्त-व्यस्तताएं बढ़ जाती हैं।

गोनाड्स—(Gonads) यौन उत्तेजना बढ़ती है। इसके साव काम ग्रन्थि पर ही नहीं, शरीर के अन्यान्य अवयवों तथा उनके क्रिया-कलापों पर भी गहरा प्रभाव डालते हैं। ग्रन्थियों के साव बदलते हैं, उनके आधार पर अनेक प्रकार की विभिन्नताएं उत्पन्न होती हैं किन्तु ये ग्रन्थियां भी मूल कारण नहीं, मूल कारण बहुत सूक्ष्म है जिसे कर्म कहते हैं।

प्रत्येक प्राणी का जीवन एक मर्यादा से घिरा हुआ है। कोई भी स्वतंत्र नहीं। इसका कारण है— बंधन। बंधन का मूलभूत कारण भीतर ही है बाहर नहीं। मनुष्य कर्म क्यों करता है ? प्रेरक तत्त्व क्या है ? इस सम्बन्ध में भी विचार मननीय है। अर्जुन ने प्रश्न उठाया— हे कृष्ण ! दुनिया में ऐसी क्या वस्तु है जिससे नहीं चाहते हुए भी मनुष्य पाप कर्म करता है ? श्रीकृष्ण ने उसे समाहित करते हुए कहा—अर्जुन ! रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही प्रेरक कारण है।^४ वस्तुतः काम ही एकमात्र कारण है। क्योंकि क्रोध का जनक भी काम ही है।^५

बौद्ध दर्शन में कर्म-प्रेरक के रूप में काम, तृष्णा, इच्छा एवं राग को मान्य किया है। ये सब एकार्थक-से ही हैं।

आचार्य शंकर और फ्रायड ने भी काम को ही मूल प्रेरक माना है।

जैन दर्शनानुसार कर्म बीज के प्रेरक सूत्र दो हैं— राग-द्वेष। महावीर के शब्दों में—मनोज्ञ, प्रिय या अनुकूल विषय राग के निमित्त हैं। प्रतिकूल या अप्रिय द्वेष के हेतु हैं।^६

राग-द्वेष के प्रत्यय वासना-तृष्णा और आसक्ति की ही आकर्षणात्मक और विकर्षणात्मक शक्तियां हैं। बौद्ध दर्शन में राग-द्वेष को भव तृष्णा और विभव तृष्णा कहा है।

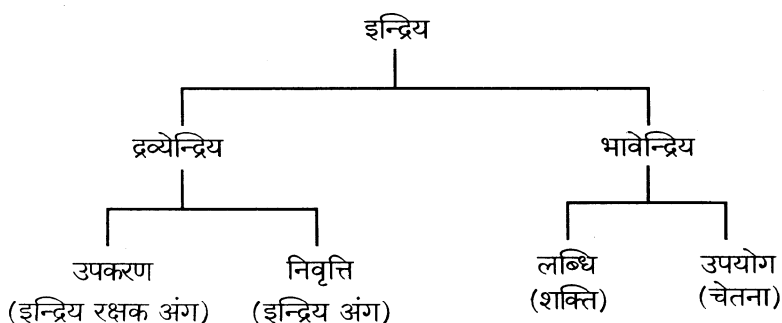
फ्रायड ने जिसे जीवन वृत्ति (Eros) और मृत्युवृत्ति (Thanatos) कहा है, कर्ट्लेविन ने आकर्षण शक्ति (Positive Valence) और विकर्षण शक्ति (Negative valence) के रूप में स्वीकार किया है।

इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध स्थापित होने पर मन में विषयों के प्रति जो अनुकूल-प्रतिकूल भाव बनते हैं उनसे राग-द्वेष का जन्म होता है। इससे स्पष्ट है कि राग-द्वेषात्मक प्रवृत्तियों की उत्पत्ति में इन्द्रियां और मन संपर्क सूत्र हैं।

इन्द्रियों की संख्या पांच है— श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रस, स्पर्श। जैन दर्शन में मन को नोइन्द्रिय (Quasi sense organ) कहा है।

सांख्य दर्शन में इन्द्रियों की संख्या ग्यारह है, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और एक अन्तःकरण। बौद्ध दर्शन में पांच इन्द्रियां और मन के अतिरिक्त पुरुषत्व, स्त्रीत्व, सुख, दुःख आदि को मिलाकर संख्या बढ़ा देते हैं।^७

जैन दर्शन में द्रव्य इन्द्रिय, भाव इन्द्रिय ऐसे पांच इन्द्रियों के दो-दो प्रकार



द्रव्येन्द्रिय, इन्द्रियों की बाह्य संरचना (Structural aspect) को कहते हैं। उनका आन्तरिक क्रियात्मक पक्ष (Functional aspect) भावेन्द्रिय है।

पांच इन्द्रियों के तेईस विषय दो सौ चालीस विकार हैं। इन्द्रियां अपने विषयों से किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करती हैं? कैसे प्रभावित होती है? इसका विवरण प्रज्ञापना में देखा जा सकता है। द्रव्य इन्द्रिय का विषयों से संपर्क होता है। वह भाव इन्द्रिय को प्रभावित करती है। भाव इन्द्रिय जीव है अतः जीव बंध जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—इन्द्रियों पर नियंत्रण किये बिना राग-द्वेष एवं कषाय पर विजय पाना संभव नहीं।^८

प्रश्न होता है, क्या इन्द्रिय और मन का निरोध संभव है ? यदि पूर्ण निरोध संभव नहीं तो फिर इन्द्रिय-संयम की बात क्यों कही जाती है ?

उत्तर में कहा जाता है कि निरोध का अर्थ इन्द्रियों को विषय-विमुख करना नहीं। विषय-सेवन के मूल में निहित राग-द्वेष को समाप्त करना है। यह शक्य नहीं कि कान में अच्छे-बुरे शब्दों का प्रवेश ही न हो। शब्दों का नहीं, शब्दों के प्रति जो राग-द्वेष की भावना बनती है उसे रोकना है।

मनुष्य का मन पेंडुलम जैसा है। राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों में घूमता रहता है। द्वन्द्व से उपर उठना है। सभी इन्द्रियों के विषय में यही स्थिति है। गणधरवाद में उल्लेख है—जिस प्रकार देवदत्त अपने महल की खिड़कियों से बाह्य जगत को देखता है उसी प्रकार व्यक्ति इन्द्रियों के माध्यम से सुनता है। देखता है। गंध लेता है। स्वाद चखता है। स्पर्श करता है। बाह्य पदार्थों से संपर्क जुड़ता है।^९

खिड़कियों को बंद नहीं किया जा सकता किन्तु आसक्त व्यक्ति राग-द्वेष के कारण बंधता है। वीतराग के लिये बंधन नहीं।

विषय न किसी को बंधन में डालते हैं, न किसी में विकार ही पैदा करते हैं। उनमें राग-द्वेष करने वाला विकृत होता है।^{१०}

बुद्ध ने कहा—न चक्षु रूपों का बंधन है, न रूप भी चक्षु का बंधन है। किन्तु दोनों के निमित्त से जो छन्द (राग) उत्पन्न होता है वही बंधन है^{११}, क्योंकि बंधन का वास्तविक कारण इन्द्रिय व्यापार नहीं बल्कि राग-द्वेष की प्रवृत्तियां हैं। राग-द्वेष विमुक्त इन्द्रिय-व्यापार करता हुआ व्यक्ति पवित्रता की ओर गतिशील है।

दृश्य कभी महत्त्वपूर्ण नहीं होते। महत्त्वपूर्ण है द्रष्टा की समता भावना। राग-द्वेष से कषाय पुष्ट बनती है। विकास एवं हास का महत्त्वपूर्ण आधार कषाय की अल्पता एवं अधिकता है। वृहत्कल्प भाष्य में कषाय के छह प्रकार व्याख्यायित हैं—

तीव्रतम कषाय

मध्यम कषाय

मंद कषाय

क्षय-उपशम कषाय

उपशांत कषाय

क्षीण कषाय

जहां कषाय है। वहां कर्म की नियमा है किन्तु कर्म में कषाय की अनिवार्यता नहीं है। दसवें गुणस्थान से ऊपर के चार गुणस्थानों में कर्म है कषाय नहीं। उनके कर्म भी जली हुई रस्सी के समान है जो गांठें नहीं पड़तीं।

कषाय के साथ आने वाले कर्म साम्प्रदायिक हैं जो जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट सत्तर कोटाकोटी सागर स्थिति प्रमाण कर्मों के बंधन की योग्यता रखते हैं। क्षीण कषाय वीतराग होते हैं उनके ईर्योपथिक बंधन होता है। जो दो समय में ही समाप्त हो जाता है।

कषाय तंत्र कितना भी शक्तिशाली हो, फिर भी आत्मा में वह शक्ति है जिसका प्रयोग कर वह कषाय का विलय कर सकता है। जैन दर्शन में निगोद से लेकर मोक्ष-प्राप्ति तक की विकास यात्रा का मनोविज्ञानिक विश्लेषण है। भावों के उत्कर्ष-अपकर्ष का सांगोपांग चित्रण है। कर्म का स्वरूप, कर्म की जातियां, भेद-प्रभेद, कर्म की अवस्थाएं, कर्म का विपाक आदि अनेक पहलू हैं जिन पर विस्तृत साहित्य उपलब्ध है।

कर्म-बंध का सहयोगी आस्रव है। निरोधक है— संवर। कर्म के रूपान्तरण का हेतु निर्जरा है। संवर-निर्जरा आत्मा की उत्क्रांति है।

संदर्भ सूची

१. जैन सिद्धांत दीपिका ४।१।
२. भगवती १।११९।
३. कर्मवाद पृ. १९४ लेखक आचार्यश्री महाप्रज्ञ।
४. गीता, ३।३६।
५. वही, २।६२।
६. उत्तराध्ययन ३२।२३।
७. विशुद्धिमग्ग भाग. २ पृ. १०३।१२०।
८. योगशास्त्र ४।२४।
९. गणधर वाद।
१०. उत्तराध्ययन, ३२।१०१।
११. संयुक्त निकाय ४।३५।२३२।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ का नाम	लेखक, संपादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
१. आचार्यो	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपादक मुनि नथमल	वि. २०३१	जैन विश्व भारती लाडनूं
२. आचारांग भाष्य	भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ	१९९४	जैन विश्व भारती लाडनूं (मान्य विश्व विद्यालय)
३. आस्था और अन्वेषण	सं. सुरेश जैन, आई.ए.एस.	१९९९	ज्ञानोदय विद्यापीठ भोपाल
४. आत्म-मीमांसा	पं. दलसुख मालवणिया	१९५३	जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस
५. आचारांग का नीतिशास्त्र	साध्वी डा. प्रियदर्शना	१९९५	पार्श्वनाथ शोध संस्थान वाराणसी
६. आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन	मुनि नगराज डी. लिट्	१९६९	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कोलकाता
७. आगम युग का जैन दर्शन	पं. दलसुख मालवणिया	१९९०	श्री जैन श्वेताम्बर मेवाड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ मेवानगर
८. उत्तराध्ययन	वा. प्र. आचार्य तुलसी संपादक आचार्य महाप्रज्ञ	१९९२-९३	जैन विश्व भारती लाडनूं
९. औपपातिक	नियोजक श्री कन्हैयालाल महाराज	२०१५ प्रथम आवृत्ति	अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति मु. राजकोट (सौराष्ट्र)
१०. कर्मवाद	आचार्य महाप्रज्ञ	१९८६, २०००	आदर्श साहित्य संघ चूरू
११. कर्मग्रन्थ	लेखक, देवेन्द्र सूरि सं. सुखलाल संघवी	१९३९	जवाहरलाल नाहटा जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा
१२. केनोपनिषद्	सं. हनुमानप्रसाद पोद्दार चिमनलाल गोस्वामी एम. ए. शास्त्री	२०५५	कल्याण उपनिषद् अंक चतुर्थ संस्करण गीता प्रेस गोरखपुर
१३. कठोपनिषद्	सं. हनुमानप्रसाद पोद्दार चिमनलाल गोस्वामी एम. ए. शास्त्री	२०५५	कल्याण उपनिषद् अंक चतुर्थ संस्करण गीता प्रेस गोरखपुर
१४. गणधरवाद	जिन भद्र गणि क्षमाश्रमण अनु.पं दलसुख मालवणिया	१९८२	सम्यग प्रचार मंडल जयपुर

१५. गोम्मटसार	नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती	१९७९	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
१६. गीता रहस्य	ले. बाल गंगाधर तिलक संस्करण ७वां	१९२८	रामचन्द्र बलवंत तिलक नारायणपेट
१७. ग्रीक दर्शन का इतिहास	ले. जगदीश सहाय श्रीवास्तव	१९८१ तृतीय संस्करण	किताब महल १५ थार्नहिल रोड इलाहाबाद
१८. ज्ञानार्णव	उपा. यशोविजय	१९४६	जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, राजनगर
१९. चिंतन की मनोभूमि	उपाध्याय अमरमुनिजी	१९७०	सन्मति ज्ञानपीठ, जैन विद्या शोध संस्थान आगरा
२०. छांदोग्योपनिषद्	सं. हनुमानप्रसाद पोद्दार चिमनलाल गोस्वामी एम. ए. शास्त्री	२०५५	कल्याण उपनिषद् अंक चतुर्थ संस्करण गीता प्रेस गोरखपुर
२१. जैनदर्शन : मनन और मीमांसा	मुनि नथमल	१९७३	आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन
२२. जैन दर्शन में आत्म विचार	जैन लालचंद	१९८४	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी
२३. जैन कर्म सिद्धांत का उद्भव और विकास	डॉ. रविन्द्रनाथ मिश्र	१९९३	पार्श्वनाथ शोध संस्थान पीठ वाराणसी
२४. जैन दर्शन चिन्तन- अनुचिंतन	सिंह, रामजी	१९९३	जैन विश्व भारती लाडनूं
२५. जैन आचार सिद्धांत और स्वरूप	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	१९८२	श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
२६. जैन दर्शन में जीव तत्त्व	ले. साध्वी डॉ. ज्ञानप्रभा वि. एम.ए., पीएचडी	२०५१ प्रथम संस्करण	श्री रतन जैन पुस्तकालय आ. आनंद कृषि मार्ग, वुरूड गांव
२७. जैन दर्शन के मूलसूत्र	ले. आचार्य महाप्रज्ञ	२०००	आदर्श साहित्य संघ चूरू
२८. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान	ले. मुनि नगराज		आत्माराम एन्ड सन्स कश्मीरी गेट दिल्ली
२९. जिनसूत्र	आचार्य रजनीश	१९७६ प्रथम संस्करण	रजनीश फाउंडेशन
३०. जैन आचार	डॉ. मोहनलाल मेहता	१९६६	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी

३१. जैन धर्म	मुनि सुशीलकुमार	१९५८	अ. भा. श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंन्स भवन नई दिल्ली
३२. जैनदर्शन	डॉ. महेन्द्र न्यायाचार्य	१९५५	श्री गणेशप्रसादवर्णी जैन ग्रंथमाला, काशी
३३. जैन सिद्धांत दीपिका	आचार्य तुलसी		आदर्श साहित्य संघ चूरू
३४. जैन, बौद्ध, गीता के आचार दर्शनों का अनुशीलन	डॉ. सागर जैन (भाग १, २)	१९८२	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर
३५. जैन धर्म का मौलिक इतिहास	आचार्य हस्तीमलजी	१९७४	जैन इतिहास समिति, जयपुर
३६. ठाणं	वा. प्र. आचार्य तुलसी वि. सं. मुनि नथमल	२०३३	जै. वि. भा. लाडनूं
३७. तत्त्वार्थ सूत्र	उमास्वाति	१९८९	सेठ मणिलाल रेवाशंकर जगजीवनराम जौहरी मुम्बई २
३८. तैत्तिरीयोपनिषद्	सं. हनुमानप्रसाद पोद्दार चिमनलाल गोस्वामी एम. ए. शास्त्री	२०५५	कल्याण उपनिषद् अंक चतुर्थ संस्करण गीता प्रेस गोरखपुर
३९. धर्म, दर्शन, मनन और मूल्यांकन	देवेन्द्रमुनि शास्त्री	१९८५	श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
४०. दसवैकालिक	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	१९७४	जै. वि. भारती लाडनूं
४१. दीघ निकाय पालि	सं. जगदीश काश्यप	१९५८	पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार
४२. दर्शन और चिन्तन	पं. सुखलाल संचवी	१९५७	गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद
४३. द्रव्य विज्ञान (शोध प्रबंध)	साध्वी डॉ. विद्युत् प्रभा	१९९४	प्राकृत भारती अकादमी जयपुर, प्रथम संस्करण
४४. दर्शन शास्त्र परिचय	जार्ज टामस व्हाइट पैट्रिक	१९८४	हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़ तृतीय संस्करण
४५. न्याय सूत्र	गौतम	१९७६	बौद्ध भारती वाराणसी १

४६. पातंजल योग दर्शन	महर्षि पतंजलि	१९५६	गीता प्रेस गोरखपुर
		तृतीय संस्करण	
४७. परमात्म प्रकाश योगसार	योगीन्दुदेव	१९८८	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात)
४८. पंचास्तिकाय	कुन्दकुन्दाचार्य	१९८६	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात)
४९. प्रवचनसार	सं. डॉ. ए.एन. उपाध्ये	१९६४	श्रीमद् राजचन्द्र जैन ग्रंथमाला, गुजरात
५०. प्रज्ञापना सूत्र	प्रधान संपादक युवाचार्य मधुकर मुनि द्वि. संस्करण	१९९३	श्री आगम प्रकाशन समिति ब्यावर (राज.)
५१. प्रमुख जैनागमों में भारतीय दर्शन के तत्त्व	जैन साध्वी सुप्रभा कुमारी 'सुधा'	१९९४	भेरूलाल मांगीलाल धर्मावत बड़ा बाजार उदयपुर
५२. परलोक विज्ञान			अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी
५३. प्रश्नोपनिषद्	सं. हनुमानप्रसाद पोद्दार चिमनलाल गोस्वामी एम. ए. शास्त्री	२०५५	कल्याण, उपनिषद् अंक चतुर्थ संस्करण गीता प्रेस, गोरखपुर
५४. पाश्चात्य दर्शन	ले. डॉ. बद्रीनाथ सिंह (बी.एन.सिंह)		स्ट्रुडेण्ट्स फ्रेंड्स एण्ड कम्पनी
५५. भगवती सूत्र	वा. प्र. गणाधिपति तुलसी सं. भा. आचार्य महाप्रज्ञ	१९९४	जै. वि. भा. संस्थान लाडनूं
५६. भारतीय दर्शन	डॉ. राधाकृष्णन्	१९६५	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली ६
५७. भारतीय दर्शन	डॉ. उमेश मिश्र	१९५७	सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ
५८. भगवती आराधना	शिवकोट्याचार्य सखाराम नेमीचन्द्र	१९३५	दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला शोलापुर
५९. मुण्डकोपनिषद्	सं. हनुमानप्रसाद पोद्दार चिमनलाल गोस्वामी एस.ए. शास्त्री	२०५५	कल्याण उपनिषद् अंक चतुर्थ संस्करण गीता प्रेस, गोरखपुर
६०. माण्डुक्योपनिषद्	सं. हनुमानप्रसाद पोद्दार चिमनलाल गोस्वामी एस.ए. शास्त्री	२०५५	कल्याण उपनिषद् अंक चतुर्थ संस्करण गीता प्रेस, गोरखपुर

६१. मानव चेतना स्वरूप और विकास	भूमित्रदेव कुलपति		रुहेलखंड विश्वविद्यालय बरेली
६२. योगशास्त्र	आचार्य हेमचन्द्र		जैन साहित्य विकास मण्डल, मुम्बई
६३. योगवार्तिक	विज्ञान भिक्षु	१९३५	चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी
६४. विश्व प्रहेलिका	ले. मुनि महेन्द्र	१९६९	जवेरी प्रकाशन माटुंगा मुम्बई
६५. विज्ञान और अध्यात्म	ले. मुनि अमरेन्द्र विजय		शिरीशचन्द्र शिवहरे दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस अजमेर राज.
६६. बृहदारण्यकोपनिषद्	सं. हनुमानप्रसाद पोद्दार चिमनलाल गोस्वामी एम. ए. शास्त्री	२०५५	कल्याण उपनिषद् अंक चतुर्थ संस्करण गीता प्रेस गोरखपुर
६७. विश्व का महान् वैज्ञानिक डारविन	विश्वमित्र शर्मा	१९८६	राजपाल एन्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली
६८. विश्व का महान् वैज्ञानिक न्यूटन	विश्वमित्र शर्मा	१९८६	राजपाल एन्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली
६९. श्री भिक्षु न्याय कर्णिका	आचार्य तुलसी	१९६९	आदर्श साहित्य संघ
७०. सूयगडो	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	१९८४	जैन विश्व भारती लाडनू
७१. समवाओ	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. आचार्य महाप्रज्ञ	१९८४	जैन विश्व भारती लाडनू
७२. समयसार	कुन्दकुन्दाचार्य	१९८२	श्री परमश्रुतु प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात)
७३. सर्वदर्शन संग्रह	अनु. प्रो. उमाशंकर शर्मा ऋषि		चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी
७४. स्याद्वाद मंजरी	सं. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन	१९६९	परमश्रुत प्रभावक मंडल अगास गुजरात
७५. श्वेताश्वतरोपनिषद्	सं. हनुमानप्रसाद पोद्दार चिमनलाल गोस्वामी एम. ए. शास्त्री	२०५५	कल्याण, उपनिषद् अंक चतुर्थ संस्करण गीता प्रेस, गोरखपुर

सहायक ग्रन्थ सूची

१. उत्तरदायी कौन ?	आचार्य महाप्रज्ञ	१९८४	जैन विश्व भारती, लाडनूं
२. चित्त और मन	आचार्य महाप्रज्ञ	१९९२	जैन विश्व भारती, लाडनूं
३. अध्यात्म विद्या	युवाचार्य महाप्रज्ञ	१९९४	जैन विश्व भारती, लाडनूं
४. दर्शन शास्त्र का इतिहास	बलदेव शर्मा	१९९१	यूनिक ट्रेडर्स, जयपुर
५. आत्म मीमांसा	पं. दलसुख मालवणिया	१९५३	जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस
६. ईशावास्योपनिषद्		२०१७	गीता प्रेस, गोरखपुर
७. सांख्य कारिका		१९५०	साहित्य निकेतन, कानपुर
८. जैन धर्म जीवन और जगत्	साध्वी कनक प्रथम संस्करण	१९९२	जैन विश्व भारती लाडनूं
९. कर्म विज्ञान	उपाचार्य देवेन्द्र मुनि	१९९०	श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
१०. ग्रीक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास	जगदीश सहाय श्रीवास्तव	१९८१	किताब महल १५ थार्न हिल रोड इलाहाबाद
११. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन	डॉ. रामनाथ शर्मा	१९८३-८४ प्र. सं.	केदारनाथ कॉलेज रोड मैरठ
१२. आगमयुग का जैन दर्शन	पं. दलसुख मालवणिया	१९९० द्वि. सं.	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
१३. आचारांग चयनिका	डॉ. कमलचंद सोगाणी	१९९८ च. सं.	प्राकृत भारती अकादमी जयपुर
१४. जैन भारती	ले आर्थिका ज्ञानमती माताजी	२०५७	दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर
१५. जैन धर्म का मौलिक इतिहास	ले. आचार्य हस्तीमल	२००० प्र. सं.	जैन इतिहास समिति लाल भवन चौड़ा रास्ता, जयपुर
१६. अस्तित्व का मूल्यांकन	ले. डॉ. मुक्ति प्रभा	१९९५ प्र. सं.	प्राकृत भारती अकादमी जयपुर
१७. शरीर और शरीर क्रिया विज्ञान	अनु. महेशचन्द्र गुप्ता		ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी मद्रास
१८. आधुनिक विज्ञान और अहिंसा	ले. गणेश मुनि शास्त्री	१९६२	आत्माराम एन्ड सन्स कश्मीरी गेट दिल्ली

१९. सामान्य मनोविज्ञान	ले. डॉ. एस. एस. माथुर ले. आचार्य भिखणजी	विनोद पुस्तक मंदिर
२०. नवपदार्थ	अनु. श्रीचंदजी रामपुरिया बी. कॉम, बी. एल.	१९६१ जैनश्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ३ पोच्युंगीज चर्च स्ट्रीट कोलकाता-१
२१. M.A. का पत्राचार कोर्स		जैन विश्व भारती संस्थान लाडनूं
२२. आचार्य शंकर	स्वामी अपूर्वानन्द नवम् संस्करण	स्वामी ब्रह्मस्थानंद रामकृष्ण मठ धन्तोली नागपुर
२३. कोशिका विज्ञान सूक्ष्म जैविकी एवं जैव तकनीकी	पी. एल. पारिख ए. के. भटनागर सुधीर भार्गव	१९९६ अल्का पब्लिकेशंस पुरानी मंडी, अजमेर



ISBN 81-7195-084-1